छायावादोत्तर हिन्दी काव्य : बदलते मानदण्ड एवं स्वरूप
(प्रगतिवाद से नयी कविता तक)

बुन्देलखण्ड विश्व विद्यालय - झाँसी

की

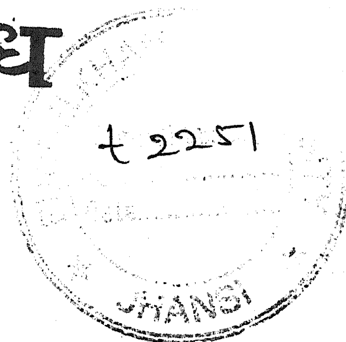
कला संकाय

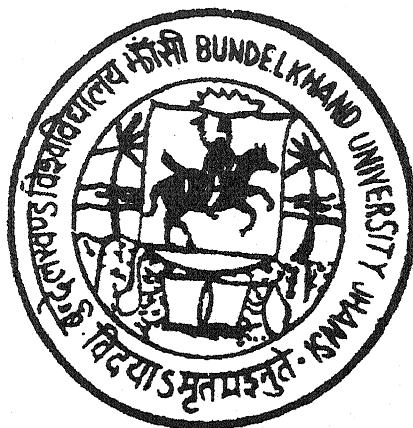
में

हिन्दी विषय के अन्तर्गत

डाक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध





निर्देशक :
डा० देवलाल मौर्य
रीडर, हिन्दी विभाग
पं० जे० एन० कालेज, बाँदा (उ०प्र०)

गवेषक :
अनिल कुमार यादव

2002

डा0 देवलाल मौर्य
रीडर , हिन्दी विभाग
पं0 जे0 एन0 कालेज
बाँदा (उ0 प्र0)

फो0 नं0 (05192) 220588

दिनाँक–

प्रमाण – पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री अनिल कुमार यादव ने हिन्दी विषय में पी–एच0 डी0 की उपाधि ''छायावादोत्तर हिन्दी काव्य : बदलते मानदण्ड एवं स्वरूप (प्रगतिवाद से नयी कविता तक)'' हेतु मेरे निर्देशन में बु0 वि0 वि0 / एके0 / शोध / 2001 / 972–974 दिनाँक 29.12.2000 के द्वारा पंजीकृत हुए थे।

श्री अनिल कुमार यादव मेरे निर्देशन में आर्डीनेन्स 6 द्वारा वांछित अवधि तक शोध केन्द्र में उपस्थित रहे। इन्होने शोध के सभी चरणों को अत्यन्त सन्तोषजनक रूप में परिश्रम पूर्वक सम्पन्न किया है।

मैं इस शोध प्रबन्ध को हिन्दी विषय में पी–एच0 डी0 उपाधि हेतु प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।

(डा0 देवलाल मौर्य)
शोध निर्देशक

* घोषणा *

मैं घोषणा करता हूँ कि बुन्देलखण्ड विश्वविधालय झाँसी के अन्तर्गत हिन्दी विषय में डाक्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध – प्रबन्ध ''छायावादोत्तर हिन्दी काव्य : बदलते मानदण्ड एवं स्वरूप (प्रगतिवाद से नयी कविता तक)'' मेरा मौलिक कार्य है।

दिनाँक–

(अनिल कुमार यादव)

गवेषक

* आभार *

मेरे जैसे अल्पज्ञान धारक एवं अनुभवहीन अनुसंधित्सु के लिए साहित्यिक शोध जैसे गाम्भीर्य सारस्वत अनुष्ठान को पूर्ण कर पाना सामर्थ्य से परे था किन्तु मेरे लिए प्रणाम्य एवं वन्दनीय तथा शोध विधा के मर्मज्ञ डा० देवलाल मौर्य जी, रीडर हिन्दी विभाग, पं० जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय बाँदा के सानिध्य में रहकर मेरी अन्वेषणात्मक अध्यवसाय की साधना पूर्ण हुई। पूज्यनीय डा० मौर्य जी का मैं हृदय से सदैव ऋणी रहूँगा, जिनके सत्प्रयासों, प्रेरणा तथा प्रोत्साहन युक्त निर्देशन में यह शोध प्रबन्ध पूरा हो सका है। परम श्रद्धेय गुरूवर मेरे लिए केवल शोध निर्देशक ही नहीं अपितु मेरे मन मन्दिर में आराध्य देवता के तुल्य हैं जिनका अनुशीलनात्मक आराधना करके मैनें इस गवेषणात्मक आयोजन को पूरा किया है ऐसे में इनके शोध सहयोग के लिए "तेरा तुझको अर्पण क्या लागे मेरा" के रूप में अर्पित करता हूँ।

मैं श्रद्धेया गुरूमाता श्रीमती जयश्री मौर्य एवं गुरूपुत्रों योगेश, हरिकेश, राकेश, प्रशान्त पुत्री अंकिता के प्रति आभारी हूँ। जिनका सानिध्य मुझे सदैव प्राप्त होता रहा है।

समाज शास्त्र जैसे परिवर्तनात्मक विषय के सशक्त हस्ताक्षर डा० जे० पी० नाग अध्यक्ष पं० जे० एन० कालेज बाँदा के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी शुभ कामनाओं एवं सहयोग से यह शोध यज्ञ पूरा हो सका है।

डा० स्वामी प्रसाद गुप्ता प्रभारी समाज शास्त्र विभाग राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय हमीरपुर के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होने मेरे लिए इस दुरूह कार्य को पूरा करनें में एक प्रेरक के रूप में कार्य किया तथा सतत सहयोग प्रदान करते रहे।

डा० भवानीदीन प्रजापति रीडर राजनीति विज्ञान विभाग राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय हमीरपुर के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनका स्नेह समय-समय पर मुझको प्राप्त होता रहा है।

मै श्री कैलाश सोनी के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके सहयोग ने मेरी लेखनी को नव आयाम मिला।

मैं अपने अभिन्न सखाओं श्री आनन्द गुप्ता, ब्रजेन्द्र शिवहरे, राकेश सैनी, विवेक गुप्ता तथा अरविन्द साहू के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने निराशा के क्षणों में आशा की एक किरण के दर्शन कराए और मैं शोध पथ पर आगे बढ़ने का साहस जुटा सका।

मैं अपनी पूज्यनीय माता जी एवं पिता जी तथा भाई एव बहन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंनें मुझे घरेलू दायित्वों से मुक्त रखकर इस महती कार्य को सम्पन्न करानें में अविस्मरणीय सहयोग प्रदान किया।

साहित्यिक विधा में शोध कार्य करना अपने आप में एक दुरूह कार्य है इस दुरूहता को सहजता प्रदान करने में हिन्दी साहित्य के उन जाने -

अनजाने विद्वानों, तथा सशक्त हस्ताक्षरों के साहित्यिक अप्रत्यक्ष सहयोग का मैं चिर ऋणी रहूँगा जिनकी कृतियों के सन्दर्भ ने इस शोध यज्ञ को पूरा करने में अद्वितीय सहयोग प्रदान किया।

शोध प्रबन्ध के टंकण, मुद्रण, रूप सज्जा तथा आवरण सज्जा के लिए श्री राजकिशोर खरे गार्गी ग्राफिक्स, हमीरपुर, उ० प्र० भी बधाई के पात्र हैं जिनके योगदान से मेरा यह अभीष्ट पूरा हुआ। इन सबके अतिरिक्त मैं उन सभी जाने अनजाने सुधी जनों का हृदय से आभारी हूँ जिन्होने मुझे यथा सम्भव सहयोग प्रदान किया।

दिनाक :--

(अनिल कुमार यादव)

शोधार्थी

अनुक्रम

(ii) आजाद सत्ता के प्रति राजनेताओं का प्रलोभन

(iii) तृतीय विश्व युद्ध की संभावना तथा पंचशील सिद्धान्त का उदय

2– आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न चेतना

(क) स्वतन्त्रता पूर्व चेतना

(ख) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की चेतना

3– सामाजिक परिस्थितियां एवं उनसे उत्पन्न चेतना

(1) दलित एवं शोषित वर्ग की चेतना

(2) मध्य वर्गीय चेतना

(3) उच्च वर्ग की चेतना

(4) वर्ग विषमता एवं वर्ग संघर्ष

(5) जातीय भावना

(6) धर्मगत् भावना

(7) नारी वर्ग में चेतना के स्वर

4–सांस्कृतिक चेतना

5– विभिन्न चिन्तनधाराओं का क्रमिक विकास

(1) गांधीवादी चिन्तन

(2) अरविन्द दर्शन का प्रभाव

(3) मार्क्सवाद का प्रभाव

(4) मनो–विश्लेषणवादी चिन्तनधारा

(5) अस्तित्ववाद

अध्याय – 3 **छायावादोत्तर हिन्दी काव्य : बदलते मानदण्ड (100–164)**

1. सामाजिकता के स्तर पर
2. व्यक्तिगत चेतना के स्तर पर
3. मध्ययुगीनता एवं आधुनिकता
4. स्वाधीनता के भाव स्तर पर
5. राष्ट्रीय भावना के स्तर पर
6. मानवीय स्तर पर

(क) प्राचीन परम्परा एवं संस्कृति की ओर उन्मुखता

(ख) मानव–महत्ता की स्थापना

⊙⊙⊙⊙

अध्याय – १

छायावादोत्तर हिन्दी : काव्य एक सर्वेक्षण

1– पृष्ठभूमि : छायावाद

हिन्दी साहित्य की परम्परा में 'छायावाद' का एक विशिष्ट स्थान है। इसका अविर्भाव द्विवेदी युगीन काव्यधारा की स्थूल बौद्धिकता, इतिवृत्तात्मकता तथा कोरी नैतिकता के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। लेकिन यह भी सच है कि मात्र प्रतिक्रिया स्वरूप ही इसका जन्म नहीं हुआ अपितु इसके पीछे बहुत कुछ सामाजिक एवं साहित्यिक कारण थे। वस्तुतः ''छायावाद हमारी विशेष सामाजिक एवं साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने एतिहासिक कार्य किया। समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रूढ़ियों से मुक्त किया, उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओं की ओर भी प्रेरित किया। व्यक्तित्व की स्वाधीनता विराट–कल्पना, प्रकृति–साहचर्य, मानव–प्रेम, वैयक्तिक प्रणय, उच्चनैतिक आदर्श, देशभक्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता आदि के प्रसार द्वारा छायावाद ने हिन्दी जाति के जीवन में ऐतिहासिक कार्य किया। कविता के रूप–विन्यास को पुरानी संकीर्ण रूढ़ियों से मुक्त करके उसने नवीन अभिव्यंजना प्रणाली के लिए द्वार खोल दिया।''[1] स्पष्ट है कि वह सामाजिक, साहित्यिक आवश्यकताओं की देन थी, जिसने मूलरूप में वैयक्तिक तथा अन्तर्मुखी चेतना से ओत प्रोत होते हुए भी प्रारम्भिक क्षणों में बड़ी क्रांतिकारी भूमिका अदा की। इसकी वैयक्तिक चेतना में रूढ़िबद्ध सामंती संस्कारों के खिलाफ क्रांति की उद्घोषणा की तथा मानवता की मुक्ति के लिए सशक्त कदम उठाया। यह सत्य है कि इस युग में व्यक्तिवादी, काल्पनिक तथा पलायनवादी भावनाओं की प्रधानता थी लेकिन 'विधवा', 'तोड़ती पत्थर', 'जागो फिर एकबार', 'प्रलय की छाया' 'पेशोला की प्रतिध्वनि' तथा 'राम की शक्ति पूजा' आदि कविताओं की वस्तुगत यथार्थता को कदापि नजर अंदाज नहीं किया जा सकता क्योंकि ये कविताएं छायावाद युग की यथार्थ सामाजिक दृष्टि को उद्घाटित करने की भरपूर क्षमता रखती है। वस्तुतः ''छायावाद ने रीतिकालीन परम्परा से हिन्दी काव्य को मुक्त किया। प्रकृति–प्रेम, विश्व–बन्धुत्व, नारी के सम्मान की प्रतिष्ठा, अतीत पर गर्व और सामंती रूढ़ियों के विरूद्ध व्यक्ति के गौरव की घोषणा .... यह छायावाद का सबल पक्ष है। उसने उस भाव जगत को बदल दिया जो सामंती संस्कारों की नींव पर खड़ा था।''[2]

---

[1] – नामवर सिंह – छायावाद, पृष्ठ 154

[2] – रामविलास शर्मा – (सम्पादकीय), समालोचक (यथार्थवाद विशेषांक) फरवरी 1959, पृष्ठ 198

वास्तविकता तो यह है कि भारतेन्दु तथा द्विवेदी युगीन कविता के मूल में समष्टि चिन्तन तथा समाज मंगल की भावना थी, परन्तु छायावादियों ने व्यक्ति–हित तथा व्यक्ति–चिन्तन को प्रधानता दी तथा यही इस युग की मूल जीवन दृष्टि भी बनी। "इसलिए इसका सौन्दर्य–बोध एवं जीवन–बोध उस कविता से भिन्न हैं। छायावाद से पहले मानव को (उस समय व्यक्ति–विशेष का विकास नहीं हो पाया था)। समष्टि चिन्तन के आधार पर आंका गया है और छायावाद में समाज अथवा समष्टि को व्यक्ति चिन्तन की कसौटी पर परखा गया है। यह छायावाद की न केवल निजता एवं विशेषता है, परन्तु इसकी मूल जीवन दृष्टि है जो इसके वस्तु एवं शिल्प पक्ष को निरूपित करती है।"[1]

यह कहा जा सकता है कि "इस काव्य–प्रवृत्ति में अतृप्त भावनाओं की अभिव्यक्ति है, नवीन संस्कृति का स्पंदन है, व्यक्तिवाद का स्वर ध्वनित हुआ है, प्रकृति–चित्रण का महत्व है, नारी की नवीन कल्पना है, पीड़ा एवं अवसाद है, आशा एवं उत्साह है, विद्रोह एवं समन्वय है, सूक्ष्मता एवं अन्तर्मुखता है, प्रवृत्ति एवं पलायन है,। छायावादी कविता अप्सरामयी होते हुये भी आकाश से नहीं उतरी है यह द्विवेदी कालीन कविता से निसृत है, परन्तु उससे नितान्त भिन्न है।"[2] क्योंकि "यह एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था।"[3]

भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग में कविता के वस्तु–चयन हेतु कवियों ने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्रों को चुना था तथा यथातथ्य चित्रण पर विशेष बल प्रदान किया था। लेकिन छायावाद का प्रारम्भ द्विवेदी युग की इसी स्थूलता की प्रतिकिया के साथ हुआ। अतः इसमें वस्तु की अपेक्षा सूक्ष्म तथा वाह्वय की अपेक्षा आन्तरिक भावों को विशेष महत्व दिया गया। डॉ0 निर्मला जैन के अनुसार – "वैयक्तिकता के कारण छायावादी काव्य में विषय की प्रधानता हुई। छायावाद को द्विवेदी युगीन इति वृत्तात्मकता की प्रतिकिया कहने का यही अर्थ है कि उसमें वस्तुनिष्ठता के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठता तथा विषय निष्ठा की जगह विषयिनिष्ठता का आग्रह था।"[4]

इस प्रकार व्यक्तिकथा या आत्मकथा ही छायावादी कवियों की मूल विषय वस्तु रही है। और इस व्यक्तिकथा के चित्रण में छायावादी कवियों ने वैयक्तिक प्रणयानभूति, कल्पना, वेदना, सौन्दर्य तथा प्रकृति आदि को ही मुख्य रूप से चुना है। छायावादी कवि व्यक्ति–विरोधी अतिशय सामाजिकता तथा संकुलता के खिलाफ अपना विद्रोही रूप प्रकट करता है। छायावादी कवियों ने "इस व्यक्तिरोध सामाजिकता का बहिस्कार करके पहले तो निर्जन प्रकृति में आश्रय लिया, जैसा कि पन्त जी के वक्तव्यों से पता चलता है और फिर धीरे – धीरे शक्ति संचय करके समाज में

---

1 – इन्द्रनाथ मदान – आधुनिक कविता का मूल्यांकन, पृष्ठ 29
2 – इन्द्रनाथ मदान – आधुनिक कविता का मूल्यांकन, पृष्ठ 29
3 – मुकुन्द द्विवेदी – (सम्पादक), हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, खण्ड 3, पृष्ठ 512
4 – निर्मला जैन – आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन, पृष्ठ 70

आकर उन रूढ़ियों के प्रति अपने वैक्तिक विद्रोह का उद्घोष किया। पहले तो उसे पशु पक्षियों की तरह प्राकृतिक जीवन में ही अपनी निजता, स्वतन्त्रता और आत्मभाव की संभावना दिखायी पड़ी, किन्तु जब बाद में कदम–कदम पर उसका संघर्ष सामाजिक रूढ़ियों से होने लगा तो उसने अपने व्यक्तित्व को उसके प्रतिरोध में खड़ा किया। 'आत्मकथा' उसका विषय हो गया और 'मैं' उसकी शैली।"[1] छायावादी कविता की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने कविता में कोरे वस्तु वर्णन के स्थान पर अनुभूति का महत्व प्रतिष्ठित किया। यह बात दूसरी है कि इस अनुभूति के चित्रण में कभी–कभी कवि अतिशयोक्ति की सीमा तक भी पहुँच गया है।

छायावादी काव्यधारा में कल्पना की अतिशय विवृति हुई है। काव्य में कल्पना के महत्व को स्थापित करते हुए कवि पंत ने भी लिखा है – "कल्पना ही वास्तव में वह अनुभूति–गृहणी तथा रूप विधायनी शक्ति है जो काव्य का प्राण है''''''''' कोई भी गम्भीर, व्यापक तथा महत्वपूर्ण अनुभूति काल्पनिक होती है।"[2] छायावादी कवियों के लिए कल्पना का बहुत बड़ा महत्व था। कल्पना मानसिक स्वतन्त्रता का प्रतीक रूप था। कल्पना के सहारे छायावादी कवि संकीर्ण सामाजिक वातावरण से निकलकर उन्मुक्त खुले आकाश में विचरण किया। कल्पना के माध्यम से मनोवांछित स्वप्नलोक का निर्माण करते समय छायावादियों की कल्पना कहीं–कहीं अतिरेक की सीमा तक पहुँच गयी है। डा0 नामवर सिंह के अनुसार "कल्पना छायावादी कवियों के मन की पांख थी, वह उसकी स्वतन्त्रता, मुक्ति, विद्रोह, आनन्द आदि आकांक्षाओं की प्रतीक थी। ' ' ' ' ' कल्पना के द्वारा एक ओर वह अतीत में जा पहुँचता था, दूसरी ओर भविष्य के स्वर्ण–युग को आँखों के सामने साकार करता था ; एक ओर असीम आकाश में उड़कर आनंदलोक बसाता था, दूसरी ओर वस्तुगत रहस्यों का पता लगाता था। कल्पना उसकी रागशक्ति भी थी और बोध शक्ति भी।"[3]

कल्पना के ही समान छायावादी कविता में वेदना की भी विवृति हुई है। 'उच्छवास' और 'आँसू' जैसी कृतियों का मूल विषय वेदना ही है। 'आँसू' में कवि ने स्पष्ट कर दिया है –

जो घनीभूति पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छायी।
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आयी।[4]

'सरोज स्मृति में विद्रोही कवि निराला भी कह उठते हैं – "दुःख ही जीवन की कथा रही।"[5] पूरी 'सरोज स्मृति' वेदना और करूणा भरे जीवन के चित्र को उकेर कर सामने रख देती

---

[1] –नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 31
[2] – सुमित्रानन्दन पंत – छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ 28
[3] – नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, पृष्ठ 31
[4] – जयशंकर प्रसाद – आँसू, पृष्ठ 14
[5] – सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' – अपरा, पृष्ठ 158

है। महोदेवी वर्मा की तो पूरी काव्य साधना ही वेदना की भाव भूमि पर आधारित है। वे स्पष्ट स्वीकार करती हैं – "वेदना में जन्म करूणा में मिला आवास।"

छायावादी युग का समाज अंग्रेजी पराधीनता की बेड़ी में बुरी तरह जकड़ा था। जिसे तोड़ने हेतु सामूहिक संघर्ष तथा कर्म की आवश्यकता थी। लेकिन संघर्ष की मंजिल तक पहुँचने की असमर्थता के साथ ही उन्हें दुःख और वेदना ने आ घेरा और वे वेदना के स्वर में ही अपनी भावनाओं को व्यक्त करने लगे। इस प्रकार समाज की वेदना उनकी अपनी वेदना बनी जो उनके काव्य की मूल विषय वस्तु भी बन बैठी। पन्त ने लिखा "बहुत सारी वेदना की अनुभूति उस युग के भाव प्रवण मन में इसलिए भी थी कि वह उन श्रंखला की कड़ियों के प्रति जाग्रत था जो समस्त देश तथा समाज की चेतना को अपने दुर्निवार, निर्मम, नृशंस लौह बन्धनों में जकड़े हुये थी और जिन्हें तोड़ने के लिए प्रबुद्ध सामूहिक कर्म तथा संयुक्त सामाजिक संघर्ष करना आवश्यक तथा अनिवार्य था। नये युग के भाव मुक्ति का भी मन की उड़ान भरने वाले, पिंजर बद्ध व्यक्ति – असमर्थ पंख उन जीवन – शून्य ठण्डे सींकचों के संपर्क के कठोर आघात से लहूलुहान होकर कराहती हुई वेदना के स्वरों में गा उठे थे।"[1] छायावादी काव्य वेदना का स्वरूप उत्तरोत्तर क्षीण होता चला गया है। प्रसाद ने वेदना के स्थान पर आत्रदवाद की स्थापना की तो पंत ने दोनो के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। इसी प्रकार 'राम की शक्ति पूजा' तक आते – आते निराला का काव्य भी वेदना को छोड़, कल्पना को त्याग यथार्थ कर्म की राह पकड़ता दिखायी पड़ता है। लेकिन महादेवी के काव्य में वेदना काफी हद तक पहले जैसी ही व्यक्त होती दिखायी देती है।

आत्मानुभूति तथा वेदना के अतिरिक्त छायावादी कवियों की दृष्टि नारी, प्रेम, सौन्दर्य और प्रकृति पर भी केन्द्रित हुई है। छायावादी कवि प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। वस्तुतः छायावादी काव्य में ही प्रेम को सर्वप्रमुख स्थान मिला। छायावाद का प्रेम पूर्णतया अशरीरी है। उसमें एक प्रकार की स्वस्थ्य मानसिक रागात्मकता मिलती है। छायावादी कवियों ने श्रृंगार का बहिस्कार नहीं किया बल्कि आदर्शवाद का सहारा लेकर प्रेम तथा श्रृंगार को उन्नत स्वस्थ रूप प्रदत्त किया। एक ओर व्यक्तिगत प्रेम की मनोदशाओं का अनेक रूपों में चित्रण किया तो दूसरी ओर प्रेम–भाव को एक उदात्त रूप प्रदान किया।

सौन्दर्य – बोध छायावाद की प्रमुख तथा मौलिक देन है। साथ ही यह छायावादी कवियों का आदर्श भी। प्रेम–भाव के ही समान सौन्दर्य–भाव की भी इनमें प्रधानता है। इस युग के कवियो के सौन्दर्य–बोध का फलक काफी विस्तृत है। छयावादी कवियों की दृष्टि अखिल विश्व के सौन्दर्य पर लगी थी। "सत्यं, शिवं, सुन्दरं मे से छायावाद की दृष्टि 'सुन्दरं' पर ही विशेष जीम यहाँ तक

---

[1] – सुमित्रानन्दन पंत – छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ 33–34

की वहाँ 'सत्यं' और 'शिवं' भी सुन्दरं के रूप में ग्रहीत हुए।''[1] तात्पर्य यह है कि छायावाद कवियों की दृष्टि प्रकृति–सौन्दर्य से लेकर मानव–सौन्दर्य तक को अपने में आत्मसात् किये हुए हैं।

छायावादी काव्य में प्रकृति को जैसा महत्व प्राप्त हुआ वैसा आदिकाल से लेकर द्विवेदी युग तक की कविताओं में कभी नहीं मिलता। इस युग में ही सर्वप्रथम प्रकृति को प्रेरणादायिनी शक्ति के रूप में देखा गया। इन कवियों के लिए प्रकृति मात्र उद्दीपन नहीं अपितु आलम्बन है। प्रकृति उन्हें एक प्रकार की शक्ति देती है तथा नये राह पर चलने के लिए मार्ग निर्देशन करती है। इस प्रकार प्रकृति उनकी प्रेरणा है, प्रकृति उनकी पूज्य है। इस प्रकार इस युग में उसे नयी दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया। संध्या, उषा, रात्रि, चांदनी, सरिता आदि सभी प्राकृतिक उपादानों को नयी अन्तर्दृष्टि से देखा गया। प्रकृति के चिर–परिचित दृश्यों के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने वन्य प्रकृति की ओर भी अपनी दृष्टि दौड़ाई। प्राकृतिक खण्डचित्रों के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने पहली बार प्रकृति को एक विराट सत्ता के रूप में देखा तथा प्राकृतिक वस्तुओं के स्थान पर समग्र प्रकृति को काव्य का विषय बनाया, और उसके ''प्रकृति –प्रेम के मूल में सभ्यता से उत्पन्न सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति और नैसर्गिक जीवन की आकांक्षा ही अधिक थी, पलायन कम। 'ले चले मुझे बुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे–धीरे' जैसी कवितायें जगतमात्र से पलायन नहीं बल्कि 'कोलाहल की अवनी' से त्राण पाने की अभिलाषाहै।''[2] पंत के प्रकृति चित्रण का स्वरूप भी विकासशील रहा है। 'वीणा' में प्रकृति–चित्रण भाव प्रधान है 'पल्लव' में कल्पना प्रधान है और 'गुंजन' में विचार प्रधानता[3] की झलक मिलती है।

छायावादी कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि जब सम्पूर्ण देश पराधीनता से त्रस्त होकर स्वाधीनता–संघर्ष में रत था, तब छायावादी कवि राष्ट्रीय –सामाजिक समस्याओं एवं चेतनाओं से दूर आत्मगत घेरे की संकीर्ण चहारदीवारी में ही चक्कर लगा रहे थे । लेकिन यह बात सत्य से परे है । छायावादी कवियों की तमाम रचनायें इस बात की साक्षी हैं कि इन्हें राष्ट्र लोक, मानव तथा अपनी संस्कृति की गरिमा का बोध था । छायावादी कवियों की इस चेतना तथा बोध का स्पष्ट स्वरुप निराला के 'भारतीय जय विजय करें ', 'महाराजा शिवाजी के नाम पत्र ', 'जागो फिर एक बार' जैसे जागरण गीतों तथा प्रसाद के 'हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार ' और 'हिमाद्रि–तुंग–श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' आदि गीतों में देखा जा सकता है ।

सामाजिक विषमताओं से पीड़ित छायावादी कवियों की दृष्टि लोक मंगल की ओर भा गई । फलतः उन्होने नारी, भिक्षुक, विधवा, कृषक आदि को भी अपने काव्य का विषय बनाया । सामाजिक

---

[1] – निर्मला जैन – आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन, पृष्ठ 73
[2] – निर्मला जैन – आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन, पृष्ठ 74
[3] – इन्द्रनाथ मदान – आधुनिक कविता का मूल्यांकन, पृष्ठ 38

विषमताओं तथा पीड़ाओं के अंकन की दृष्टि से निराला की कविताएं सर्वाधिक महत्व रखती हैं । 'भिक्षुक' , 'विधवा','वह तोड़ती पत्थर' आदि कविताओं में एक ओर सामाजिक विषंगतियों का जीता जागता स्वरुप मिलता है तो दूसरी ओर उसमें लोक मंगल–युक्त सामाजिक चेतना की झलक मिलती है । जागरुक सामाजिक चेतना के ही चलते छायावाद में युगों से उपेक्षित नारी को महत्वपूर्ण उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया गया । वस्तुतः ''छायावादी कवि ने नारी को अपमान के पंक और वासना के पर्यक से उठकर देवी और सहचरी के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया।''[1] प्रसाद ने उसे एक शक्ति के रुप में देखा है तो कविवर पन्त ने उसके रोम रोम से प्रेम किया है–

तुम्हारे रोम रोम से नारि !
मुझे है स्नेह –अपार;
तुम्हारा मृदु– उर ही सुकुमारि !
मुझे है स्वर्गाकार।[2]

इस प्रकार नारी के भावमय रुप के चित्रण पर विशेष बल दिया गया । लेकिन निराला ने शोषित एवं पीड़ित नारी के यर्थाथ रूप की तरफ भी अपनी दृष्टि फेरी और उसके मार्मिक स्वरुप को 'तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं में प्रकट किया है ।

दुःख और वेदना के गीत गाने वाली महादेवी वर्मा ने भी जागरण का आह्वान करते हुए लिखा–

तुम न अपनी छांह को अपने लिए काया बनाना।
जागो तुझको दूर जाना। (यामा)

प्रसाद के 'आंसू 'की समाप्ति ही विश्व कल्याण की कामना के साथ हुयी है–

सबका निचोड होकर तुम ! सुख से सूखे जीवन में ।
बरसो प्रभात हिमकन सा ! आँसू इस विश्व सदन में।[3]

इस यूग के कवियों की दृष्टि सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर भी गयी। पौराणिक और एतिहासिक कथानको एवं पात्रों को ग्रहण कर उन्हें नये रुपों में प्रकट किया गया तथा उनके प्रकटीकरण में ,उनके चित्रण में युग एवं समाज की आवश्यकताओं को हमेशा ध्यान में रखा गया है ।निराला की 'यमुना के प्रति' , ' तुलसीदास ','राम की शक्ति पूजा' ,प्रसाद की 'कामायनी ' इसकी जीती–जागती मिसाल है। स्पष्ट है कि छाया वादी काव्य में वस्तु–चयन का धरातल समष्टि की अपेक्षा व्यक्ति निष्ठ ही अधिक था तथा उसमे वेदना , कल्पना ,प्रेम सौन्दर्य तथा प्रकृति आदि

---

1 _नामवर सिंह –आधुनिक साहित्य की प्रवत्तियाँ, पृष्ठ 44
2 –सुमित्रानन्दन पन्त– पल्लव, पृष्ठ 66
3 _ जयशंकर प्रसाद–आंसू, पृष्ठ 66

की ही विशेष रुप से अभिव्यक्ति मिली तथापि लोक , राष्ट्र, मानव तथा समाज को किसी–न–किसी रुप में काव्य में स्थान दिया गया ।

छायावादी कवियों ने पात्रों के चयन में भी पूर्ण स्वछन्दता बरती है तथा पात्रों को प्रतीक रुप में उपस्थित किया है ।'कामायनी' के मनु, श्रद्धा, इड़ा सभी प्रतीकात्मक पात्र है। 'इडा' की कल्पना तो पूर्णतया मौलिक एवं युग की आवश्यकताओं के अनुरुप है । 'महाराणा का महत्व ' में प्रसाद ने एतिहासिक पात्रों – प्रताप ,अमरसिंह, अकबर ,रहीम खानखाना आदि का चयन किया है। रहीम खानखाना का चरित्र वीर, निर्भीक, शत्रुप्रशंसक, ईश्वर भक्त, असाम्प्रदायिक तथा निराभिमानी है।पन्त की कविता में प्रकृति ही पात्र के रुप में है । कहीं–कहीं प्रकृति को मानवीकरण कर भी उपस्थित किया गया है । प्रकृति के चितेरे पन्त ने प्रकृति के ही माध्यम से सुख–दुःख ,आशा–निराशा, प्रतिकार, प्रेरणा आदि भावों को प्रकट करने का सफल प्रयास किया है ।

निराला की कविता में पात्र चयन की विविधता दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी कविताओं में एक ओर समाज का शोषित वर्ग पात्र के रुप में चित्रित है तो दूसरी ओर पौराणिक चरित्रों को भी नये रुपों में युग की आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में चित्रित किया गया है। विधवा ,किसान ,मजदूर ही उनके काव्य के प्रमुख चरित्र है । 'तुलसीदास' में निराला ने ' रत्नावली ' को नारी महिमा के पद पर प्रतिष्ठित किया है । रत्नावली को साधारण नारी के रुप में चित्रित करते हुए भी उसको प्रेरक शक्ति के रुप में देखा गया है। 'राम की शक्ति पूजा' के राम पौराणिक ईश्वर न होकर एक मानवीय पात्र है। 'सन्ध्या सुन्दरी' जैसी अनेक कविताओं में निराला ने भी प्रकृति को पात्र रुप में चयन किया है।इस प्रकार छायावादी कवियों के पात्रों के चयन में विविधता दिखायी पड़ती है।

हिन्दी नव जागरण के संदर्भ में छाया वादी युग का अपना विशेष महत्व है। छाया वादी कवियों में अकेले निराला का काव्य नव जागरण की सारी प्रवत्तियों को वहन करने का सामर्थ रखता है । छायावादी युग में कुछ समय के लिये रहस्यवाद की प्रवृत्ति हावी होती अवश्य दिखयी पड़ती है ।लेकिन " हिन्दी नव जागरण केविस्तृत संदर्भ में यह प्रभाव अस्थायी सिद्ध हुआ जब निराला ने 'देवी ' और 'चतुरी चमार' की रचना की , प्रसाद ने 'तितली ' लिखी और पंत ने 'रुपाभ' का सम्पादन किया , तब छायावादी कवियों ने स्वयं रहस्यवाद को तिलांजली दी । इसके शिवा निराला–साहित्य में आरम्भ से ही रहस्यवाद –विरोधी प्रवृतियां दिखायी देती हैं।"[1]

वस्तुतः जिस राष्ट्रीय चेतना या राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति द्विवेदी काल में हुयी उसी की काव्यात्मक अभिव्यक्ति छायावादी काव्य में भी हुयी है।वह भी पराधीनता और रुढ़ियों

[1] – राम विलास शर्मा – महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नव जागरण ,भूमिका पृष्ठ 18–19

से मुक्ति की आकांक्षा रखता है। मार्क्सवादी आलोचक राम विलास शर्मा ने उचित ही लिखा है – कि " थोड़ी देर के लिए कलात्मक साहित्य छोड़कर छायावादी कवियों ही विचार धारा पर ध्यान दीजिए। निराला ने आंग्रेजी राज, जमींदारी प्रथा, किसान –आन्दोलन, वर्णाश्रम– धर्म, नारी की पराधीनता, भाषा की समस्या आदि – आदि पर जो कुछ लिखा है, उस पर ध्यान दीजिए तो पता चलेगा कि हिन्दी नवजागरण के संदर्भ में निराला का यह लेखन महावीर प्रसाद द्विवेदी के ही कार्य की अगली कड़ी है।"[1]

निराला के अतिरिक्त प्रसाद और पंत की रचनाओं पर भी नवजागरण का प्रभाव पड़ा है। पराधीन युग में पैदा हुए प्रसाद का मानस नवजागरण के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। यद्यपि उनके नाटकों में ही नवजागरण की चेतना अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से मुखर हुई है। लेकिन उनकी काव्य यात्रा भी इस चेतना को अपने साथ लिए हुए चली है । प्रसाद ने अपने काव्य के माध्यम से राष्ट्रीय गौरव के भव्य चित्र खींचकर भारतवासियों के ह्रदय में राष्ट्रीय चेतना और प्रेम की भावना भरने की कोशिश की है । नाटकों में प्रयुक्त गीतों तथा 'शेर सिंह का शस्त्र सर्मपण ' 'पेशोला की प्रतिध्वनि ' 'महाराणा का महत्व ' अीद कविताओं के माध्यम से कवि ने एक ओर भारतीय इतिहास के गौरव चित्र को खींचा है तो दूसरी ओर. राष्ट्र प्रेम की भावना उजागर की है । 'महाराणा के महत्व' में प्रसाद ने महाराणा के उदार एवं पराक्रमी व्यक्तित्व का चित्रण कर भारतीय संस्कृति के आदर्श को उद्घाटित किया है । निःसन्देह कवि की ये कवितायें राष्ट्रीय जागरण की चेतना को मुखर करने में अपनी महत्व पूर्ण भूमिका अदा की है।

वस्तुतः "जो नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम से आरम्भ हुआ , वह भारतेन्दु युग में और भी व्यापक बना, उसकी साम्राज्य–विरोधी, प्रवृत्तियाँ द्विवेदी युग में और पुष्ट हुई। फिर निराला के साहित्य में कलात्मक स्तर पर तथा उनकी विचार धारा में ये प्रवृत्तियाँ क्रान्तिकारी रुप में व्यक्त हुई।[2] इस प्रकार निराला के अलावा प्रसाद तथा अन्य छायावादी कवियों में भी नव जागरण की चेतना मुखर हुई है। इस क्षेत्र में निराला और प्रसाद का योगदान तो निःसन्देह विशेष उल्लेखनीय है।

स्वच्छन्दता वादी चेतना की दृष्टि से भी छायावाद की अपनी महत्ता है । प्रसाद , पन्त, निराला आदि की रचनायें स्वछन्दतावादी चेतना से भरी पड़ी है। कुछ विद्वानों ने भारतीय छायावाद को स्वछन्दतावाद की संज्ञा से भी अभिहित किया है। वस्तुतः रोमान्टिसिज्म के प्रारम्भ के पहले तक अंग्रेजी कविताओं में अतिनैतिकता , सुधारवाद शास्त्रीय मान्यताओं का बोलबाला था । लेकिन फ्रांस की राज्य कान्ति ने इग्लैण्ड के कवियों को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का सन्देश दिया । कहना न होगा

---

[1] – राम विलास शर्मा – महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, भूमिका, पृष्ठ 18

[2] _राम विलास शर्मा– महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नव जागरण , भूमिका ,प्रष्ठ 19

की अंग्रेजी कविता के समान ही हिन्दी कविता की भी स्थिति थी , द्विवेदी युग का मर्यादावाद एवं भाषा परिष्कार ने काव्य को काफी अनगढ़ बना दिया था , और छायावादियों ने इसका डटकर विरोध किया । वस्तुतः जिस प्रकार से रोमान्टिक युग के युवकों की सौंदर्य दृष्टि तथा उनकी प्रेम–लालसा पर धर्म एवं समाज की नीतियों एवं मान्यताओं का अंकुश लगा हुआ था, ठीक उसी प्रकार छायावादी कवियों के प्रेम एवं सौन्दर्य की भावना पर भी हिन्दू समाज की रूढ़ियाँ एवं नैतिकताएं हावीं थी और वे अपना पूर्ण नियन्त्रण कायम रखना चाहती थी । रोमांटिक कवियों के ही समान हमारे छायावादी कवियों ने भी दैनिक जीवन की असंगतियों , विषमताओं एवं समाज की कटुताओं से त्राण पाने हेतु प्रकृति एवं अध्यात्म के प्रांगण में अपना कदम रखा है तथा उसका आश्रय ग्रहण किया है।

यद्यपि आंग्रेजी रोमांटिक कविता तथा हिन्दी छायावादी कविता में प्रकृतिगत समानता है । फिर भी वह रोमांटिक कविता की पूर्णरूपेण अनुकृति नहीं है । वह आधुनिक युग की सामाजिक , राजनीतिक परिस्थितियों के बीच नये जीवन मूल्यों को अभिव्यक्ति देने वाला एक सफल प्रयास है, जो कि युग की नवीन तथा ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप है। नये जीवन मूल्यों तथा ऐतिहासिक आवश्यकताओं को भारतेंदु तथा उनके सहयोगी रचनाकारों ने पहले ही पहचान लिया था तथा उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने हेतु स्वछन्द चेतना का सहारा लिया । और वह स्वछन्दतावादी चेतना पं0 श्रीधर पाठक की कविताओं से शुरू होकर रूपनारायण पाण्डेय , लोचन प्रसाद, रामनरेश त्रिपाठी आदि की कविताओं में विकसित होती हुयी छायावादी कविता में पूर्ण विकाश को प्राप्त की । तात्पर्य यह है कि छायावादी हिन्दी स्वछन्दता वादी काव्यधारा का स्वाभाविक विकसित रूप है जो कई रूपों में भरतेंन्दु तथा द्विवेदी युगीन स्वछन्दतावादी काव्यधारा से काफी भिन्न और विशिष्ट है।

छायावाद के प्रतिनिधि कवि जयशंकर प्रसाद की कृतियों में स्वछन्दतावादी प्रवत्तियाँ काफी मुखर हुयी है ।' प्रेमराज्य', 'चित्रधार', 'काननकुसुम', ' प्रेमपथिक' ,'महाराणा का महत्व', करूणालय'तथा 'झरना' आदि रचनाओं में स्वछन्दतावादी प्रवत्तियाँ स्पष्ट रूपेण दिखायी देती है । इसके अतिरिक्त 'इन्दु' में प्रकाशित कुछ रचनायें भी स्वछन्दतावादी चेतना को उद्घाटित करती है। छायावादी कविता में स्वछन्दतावाद की प्रायः सभी प्रवत्तियों –वैयक्तिकता , मर्यादा के प्रति विद्रोह, पलायन, निराशा, वेदना, विद्रोह, अतीत प्रेम, प्रकृति प्रेम, आदि का समावेश सफलतम रूप में हुआ है। पुरानी परम्परागत रूढ़ियों को त्याग कर नये–नये विषयों का चयन , भाषा तथा शैली–शिल्प आदि का प्रयोग में भी युगान्तकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। रूढ़ परम्परागत छन्दों तथा तुकों के त्याग की बात तो द्विवेदी जी ने पहले ही कर दी थी। 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेम पथिक 'की रचना स्वछन्दतावादी शैली में की गयी है। कल्पित कथानक को लेकर लिखा गया काव्य

'प्रेमपथिक' स्वछन्दधारा की प्रतिनिधि कृति है जिसकी रचना तुक–विहीन है तथा छन्द–विधान पूर्णतया स्वछन्द है। 'झरना' की कविताओं की अभिव्यंजना इतनी नवीन है कि उसे स्वछन्दतावादी शैली के अन्तर्गत बिना हिचक रखा जा सकता है।

महाकवि निराला ने भारतीय नवजागरण की समग्र विशेषताओं को अपने काव्य में सुन्दर ढंग से समाहित किया है तथा वस्तु ,भाषा, छन्द एवं शैली सभी क्षेत्रों में उन्होने अपनी स्वछन्दतावादी प्रवृत्ति का परिचय दिया है । महाकवि की स्वछन्दतावादी चेतना अन्य कवियों की अपेक्षा स्वस्थ्य एवं मुखर है । सत्य तो यह है कि हिन्दी स्वछन्दतावाद के कवि शक्ति, सौन्दर्य और प्रकृत आवेश के कवि है और उनकी कविता में स्वछन्दता की चेतना अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। जहाँ अन्य स्वछन्दता वादी कवियों के काव्य में अनुभूति और विचार, भाव और बुद्धि, राग और दर्शन प्रथक प्रतीत होते है, वहाँ निराला के काव्य में ये परस्पर विरोधी तत्व एवं भव्य एकता का निर्माण कर लेते है । 'जूही की कली', 'बादल राग' आदि उपकी स्वछन्दतावादी प्रवृत्ति की प्रमुख रचनायें है।

पंत की काव्य साधना स्वच्छन्दतावाद के क्रमिक विकास की दृष्टि से विशेष महत्व रखती है। प्रकृति और कल्पना के उपासक कवि के रूप में वे सामने आते हैं। महादेवी वर्मा ने स्वच्छन्दतावादी काव्य के कला पक्ष को सर्वाधिक ठोस एवं व्यापक रूप प्रदान किया। लेकिन महादेवी में स्वच्छन्दतावादी चेतना ह्रासोन्मुख होती दिखायी देती है। कहा जा सकता है कि यदि जयशंकर प्रसाद के काव्य में हिन्दी स्वच्छन्दतावाद की प्रस्तावना मिलती है तो निराला का काव्य उसकी प्राण प्रतिष्ठा करता है। सुमित्रान्दन पन्त का कृतित्व स्वच्छन्दतावादी कल्पना के वैभव का विस्तार–पूर्वक आकलन करता है।

सौन्दर्य साहित्य का एक शाश्वत मूल्य है। यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि शरीर और प्राण के समान साहित्य और सौन्दर्य का सम्बन्ध बहुत गहरा है। सौन्दर्य क्या है ? तथा उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति कैसे की जा सकती है ? आदि के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । यद्यपि मै इस विवाद में पड़ना उचित नहीं समझता क्योंकि यहाँ विस्तार का अवकाश नहीं है। वैसे भी छायावादी काव्य की सौन्दर्य दृष्टि पर विचार करना ही केवल मेरा अभिप्रेत है । यहां एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सौन्दर्य बोध की भावना या सौन्दर्य–अवलोकन की दृष्टि कभी स्थिर रहने वाली चीज नही है अपितु समाज, सभयता एवं संस्कृति के परिर्वतनों के साथ ही परिवर्तित होंती चलती है । भक्तिकालीन कवियों के समक्ष अघ्यात्मिक सत्ता ही सर्वोपरि थी। अतः उन्होने अघ्यात्मिक सत्ता को ही सौन्दर्य का अक्षय भन्डार माना। सत्य तो यह है कि यही उनका आदर्श भी था । लेकिन एक बात ध्यान देने कि यह भी है कि आध्यात्मिक सत्ता को सौन्दर्य ही अक्षय सत्ता स्वीकारी करते हुए ,उन्हे अपने आदर्श मानते हुए भी भक्तिकालीन कवियों ने

मानवीय सौन्दर्य की कहीं भी उपेक्षा नहीं की है। यह अवश्य सत्य है कि उनका मानवीय सौन्दर्य सर्वत्र आध्यात्मिक शिव से निर्देशित है।[1] तात्पर्य यह है कि मानवीय सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक सत्ता के सौन्दर्य दोनो के प्रति भक्ति कालीन कवियों का दृष्टि कोण समान रहा है । यही कारण है कि कवियों ने मनुष्य के विविध रागात्मक संघर्षों पर विशेष ध्यान देने की अपेक्षा उनके सत्– असत् सुन्दर – असुन्दर आदि भावों को विभाजित करके देखने का प्रयास किया है।

रीति कालीन सौन्दर्य दृष्टि नारी शरीर की वासनोत्तेजक सुषमा तक ही सीमित रह गयीं हैं।इस काल के कवियों की दृष्टि प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर भी घूमी लेकिन उसकी नियोजना मात्र भावों उद्दीपन हेतु की गयी है। नारी के आंगिक सौंदर्य एवं हावभाव तक सीमित रीतिकालीन कविता की सौन्दर्य दृष्टि नितांत असंश्लिष्ट एवं ऊहात्मक है। उसमें इस जीवंतता का अभाव है जो आगे आने वाले युग –विशेषकर छायावादी कविता में देखने को मिलता है । तात्पर्य यह है कि रीतिकालीन कविता की सौन्दर्य दृष्टि उपरले स्तर की तथा पथरायी हुई है, उसमें हृदय की अनुभूति धड़कन तथा गंभीरता की पूर्णतया अभाव है । यदि कुछ देखने को मिलता है तो केवल नारी के मांसल आंगिक सौन्दर्य का ऊहात्मक तथा वासनोत्तेजक चित्रण मात्र।

सौन्दर्य–बोध की दृष्टि से , उसकी व्यापकता , नवीनता एवं मौलिकता की दृष्टि से छायावाद श्रेष्ठ है । इसमें प्राकृतिक एवं मानवीय दोनों सौन्दर्य को – आन्तरिक एवं वाह्य धरातलो पर समान रूप से गहराई एवं सहानुभूति के साथ उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार छायावादी कवियों की सौन्दर्य दृष्टि एक ओर वस्तु जगत् की वाह्य छवियों को बड़ी तन्मयता के साथ देखती है तो दूसरी ओर उसकी आन्तरिक चेतनाओं , राग – विरागों आदि के प्रति भी गहरी आस्था प्रकट करती है। वस्तुतः "छायावादी सौन्दर्य दृष्टि किसी भी व्यक्ति या वस्तु के स्थूल सौन्दर्य को ही सौन्दर्य नहीं मानती , वह उसके भीतर निहित आन्तरिक सौन्दर्य या मानस चेतना कों देखना और उद्घाटित करना चाहती है।[2]

सौन्दर्यानुभूति और प्रेमानुभूति छायावादी काव्य धारा की मुल भाव भूमि रही है। जिस प्रकार से छायावादी कवियों की प्रेमानुभूति , स्वानुभूति एवं व्यक्तिगत है, उसी प्रकार उसकी सौन्दर्यानुभूति भी मौलिक एवं नवीन तथा व्यक्तिगत है। छायावादी कवियों की दृष्टि सौन्दर्य के उपरले परत तक ही पहुँच कर नहीं रह जाती अपितु वह सौन्दर्य की मूल आत्मा तक ही अपनी पैठ रखती है । सौन्दर्य–अवलोकन की छायावादी दृष्टि सुक्ष्म एवं पैनी है । वस्तुतः रीति काल में सौन्दर्य को स्थूल दृष्टि से देखा गया था तथा कवियों की दृष्टि नारी अंगों की मोटी– मोटी रेखायें मात्र तक ही

---

[1] –राम दरश मिश्र – हिन्दी आलोचना का विकाश ,पृष्ठ 202

[2] –लक्ष्मीनारायन 'सुधांशु (संपादक)–हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास भाग –13, पृष्ठ 480

सीमित थी । सत्य तो यह है कि उनकी सौन्दर्य–अवलोकन की दृष्टि इतनी पथरा गयीं थी कि वह सौन्दर्य के आन्तरिक पक्ष तक पहुँच ही नहीं सकती थी ।

सौन्दर्य का आश्रय समस्त सृष्टि है। चारों ओर सौन्दर्य का अक्षयभंडार फैला हुआ है। इस संसार के एक –एक कण में एक–एक अंग में सुन्दरता समायी हुयी है। यह बात दूसरी है कि किसी कण विशेष या पदार्थ विशेष में किसी को सौन्दर्य दिखायी देता है तो किसी को नहीं ,किसी को कम और किसी को ज्यादा । यही कारण है कि किसी को सुन्दरता प्रकृति में दिखायी देती है तो किसी को मानव में, तो किसी को दोनों में समान रूप से। कहना न होगा कि छायावादी कवियों नें प्रकृति एवं मानव दोनों में सौन्दर्य का अक्षय भंडार खोजा है। फलस्वरूप छायावादी कविता में सौन्दर्य की व्यापकता है । सौन्दर्य चित्रण की नवीनता एवं मौलिकता छायावादी कविता की मुलभूति विशेषता है। इस युग की कविता में मानव तथा प्रकृति दोनो को एक दूसरे के पूरक के रूप में स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि इस युग की कविता एक ओर मानवीय सौन्दर्य की गरिमा प्रदर्शित करती है तो दूसरी ओर प्राकृतिक सौन्दर्य का अंकनन तो केवल वाहय दृश्य है और न ही स्थूल , अपितु उसमें भी चेतनता है, मनुष्य के ही समान उसमें भी संवेदना की लहरें उठती है।

छायावादी सौन्दर्य दृष्टि स्थूल शरीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा सुक्ष्म और परोक्ष सौन्दर्य को महत्व देती है। इस युग की कविताओं काव्य में सौन्दर्य चित्रण की व्यापकता का कारण छायावादी कवियों का यही सौन्दर्य बोध है। उमड़ते मेघ , चमकते तारागण , कलकल करते निर्झर, कलख करते खग कुल चाँदनी रात, नारी , शिशु, बालिका, झूमते वृक्ष, वन, बाग आदि सभी मे छाया वादी कवि को किसी–न–किसी सौन्दर्य की सत्ता दिखायी पड़ती है, जो उसे प्रेरित करती है, उत्साह प्रदान करती है, और नयी राह दिखयी देती है।

छायावादी कवियों की सौन्दर्य–चेतना को उद्‌घाटित करते हुए डा0 विमल कुमार ने लिखा है–" अधिकतर छायावादी कविताओं में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति (इन) तीनो रूपों में हुई है–मानव –सौन्दर्य , मनवेत्तर सौन्दर्य अैर कलात्मक सौन्दर्य "[1] यह सत्य है कि छायावादी कवियों की व्यापक सौन्दर्य दृष्टि प्रकृति , मानव , नारी एवं शिशु पर विशेष रूप से केन्द्रित रही है। लेकिन प्रकृति–सौन्दर्य तथा नारी–सौन्दर्य के अंकन में इस युग के कवियों ने विशेष रूचि प्रदर्शित की है। इस युग में कहीं नारी कों प्रकृतिमय रूप में तो कहीं प्रकृति को नारीमय रूप में प्रकट किया है। यही कारण है कि कविवर पंत को वृक्ष की छाया भी नल द्वारा परित्यकता दमयंती सी प्रतीत होती है।' गुंजन ' में कवि ने चाँदनी की कल्पना एक मरणोन्मुखी रूग्ण बाला के रूप में की है–

---

[1] –कुमार विमल–छायावाद का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ 107

जग में दु:ख दैन्य–शयन पर
यह रूग्गा जीवन – बाला
रे कब से जाग रही, यह
आँसू की नीरव माला।[1]

वस्तुतः पंत की सौन्दर्य–दृष्टि प्रकति सौन्दर्य के चित्रण में विशेष रूप से रमी है प्रकृति के बाह्‌य – सौन्दर्य के अंकन में कवि पंत कों विशेष सफलता मिली है। देखिये न प्रकति के बाह्‌य सौन्दर्य की मनोरम एवं आकर्षक झाँकी–

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश
पल– पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्रद्रग – सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार–बार
नीचे जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण – सा फैला है विशाल।[2]

'नौका–विहार' शीर्ष्रक कविता भी प्रकृति – सौन्दर्य की अनुपम रचना है। यह कविता एक ओर प्रकृति – सौन्दर्य का अनुपम चित्र प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर मानव के गतिशील एवं शाश्वत जीवन सौन्दर्य को भी व्यंजित करती है। वस्तुतः पन्त की सौन्दर्य दृष्टि पहले प्रकृति के आगोश में उलझती है, लेकिन जब कवि का सौन्दर्य बोध विकसित होता है, उसकी चेतना नयी राह पकड़ती है तो उसकी सौन्दर्य दृष्टि भी परिवर्तित होती है, और तब वह मानव – सौन्दर्य की गरिमा से भी साक्षात्कार करता है तथा स्वीकार करता है कि –

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर,
मानव! तुम सबसे सुन्दरतम्।[3]

प्रसाद में भावात्मक सौन्दर्य की अनुपम झाँकी दृष्टिगत होती है। इनके सौन्दर्य – चित्रण स्वस्थ एवं सूक्ष्म हैं। उसमें एक प्रकार की संयमशीलता दिखाई देती है। सौन्दर्य के इस चित्र को देखा जा सकता है –

---

[1] –सुमित्रानन्दन पंत –गुंजन , पृष्ठ 34
[2] – सुमित्रा नन्दन पंत– पल्लव, पृष्ठ 6
[3] – सुमित्रा नन्दन पंत– युगपथ, पृष्ठ 50

तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक छिपकर चलते हो क्यों ?
नतमस्तक गर्ववहन करते, यौवन के धन रस–कन ढरते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों ?[1]

कवि ने नारी के रूप मे प्रकृति – सौन्दर्य की भी झाँकी प्रस्तुत की है। श्रद्धा के रूप का चित्र प्रस्तुत करते हुए प्रसाद ने लिखा है –

कुसुम कानन अंचल में मंद, पवन प्रेरित सौरभ साकार।
रचित – परमाणु – पराग – शरीर, खड़ा हो ले मधु का आधार।[2]

प्रसाद के सौन्दर्य–बोध को समझने के लिए 'आँसू' की इन पंक्तियों को भी देखा जा सकता है –

थी किस अनंग के धुन की वह शिथिल शिञ्जिनी दुहरी
अलबेली बाहुलताया तुन की छविसर की नव लहरी ?
चंचला स्नानकर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।[3]

भावात्मक सौन्दर्य तथा यथार्थ सौन्दर्य दोनों का समन्वय निराला की कृतियों को देखने को मिलता है। 'संध्या–सुन्दरी' में प्रकृति सौन्दर्य के उदात्त रूप को मानवीकृत कर उपस्थित किया गया है तो 'चल रहा लकुटिया टेक' तथा ' वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं में सौन्दर्य के यथार्थ पहलू को प्रस्तुत किया गया है। 'संध्या–सुन्दरी' की इन पंक्तियों को उाहरण स्वरूप देखा जा सकता है –

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या – सुन्दरी परी – सी
धीरे – धीरे – धीरे।

* *

अलसता की – सीलता
किन्तु कोमलता की वह कली[4]

यथार्थ चित्रण की दृष्टि से 'तोड़ती पत्थर' कविता काफी मार्मिक बन पड़ी है –

श्यामतन, भर बंधा यौवन
नतनयन, प्रिय–कर्म–रत मन,
गुरू हथौड़ा हाथ

---

1 – जयशंकर प्रसाद – चन्द्रगुप्त, पृष्ठ 54–55
2 – जयशंकर प्रसाद – कामायनी, पृष्ठ 22
3 – जयशंकर प्रसाद – आसू, पृ्ठ 24
4 – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – अपरा, पृष्ठ 29

करती बार–बार प्रहार ?[1]

वस्तुतः छायावादी कविता की सौन्दर्य – दृष्टि न तो स्थूल सौन्दर्य–प्रयोजन की सामग्री ही जुटाती है और न ही रीतिकाल की भांति भोगवादी प्रवृत्ति को ही उकसाती है। उसमें एक संयमशीलता और सूक्ष्मता है जो कि सौन्दर्य की उदारता को और अधिक बढ़ाने में सहायता देती है।

छायावादी कवि की दृष्टि मानवतावादी रही है। और "मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले कवि के चित्र में उन काव्य रूढ़ियों का प्रभाव नहीं रह जाता तो दीर्घकालीन परम्परा और रीतिबद्ध चिन्तन – पद्धति के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के चित्त पर आ गिरी होती है और कल्पना के अविरल प्रवाह में तथा आवेगों की निर्बाध अभिव्यक्ति में अन्तराय उपस्थित करती है। इस दृष्टिकोण को अपनाने से सौन्दर्य की नई दृष्टि मिलती है क्योंकि मानवीय आचारों और क्रियाओं के मूल्य में अन्तर आ जाता है इस अवस्था में सौन्दर्य केवल वाह्‌य रूप में नहीं रहता बल्कि आन्तरिक औदार्य और मानस गठन में भी व्यक्त होता है। सौन्दर्य के बंधे–सधे आयोजनों घिसे – घिसाये उपनामों और पिटी – पिटाई उत्प्रेक्षाओं पर आधारित चिंतन शून्य काव्य – रूढ़ियों से मुक्ति पाया हुआ चित्त मानवता के मापदण्ड में सब कुछ देखता है।"[2] इस प्रकार मानवतावादी दृष्टि से समंन्वित छायावादी कवियों का सौन्दर्य–बोध छोटी–से–छोटी तथा बड़ी–से–बड़ी वस्तुओं में भी सौन्दर्य खोज निकालता है। और इसी दृष्टिकोण के चलते इस युग में नारी – सौन्दर्य को सीमा से बाहर निकालकर देखा एवं परखा गया है। नारी को छायावादी कवियों ने जीवन–सहचरी, माँ–बहन, पुत्री एवं शक्ति प्रदायनी प्रेरणा – स्त्रोत के रूप में देखा है तथा उसके अन्यान्य मानवीय संवेदनाओं – दया, ममता, करूणा, कोमलता, सहिष्णुता आदि को उद्‌घाटित किया है।

वस्तुतः "छायावादी कविता की विषयवस्तु जिस प्रकार मूलतः एवं अंततः व्यक्ति–चिंतन की जीवन दृष्टि से रूपायित है, उसी प्रकार इसके शिल्प के मूल में भी व्यक्ति–चिंतन की विचारधारा है।"[3] वस्तुतः छायावाद के आने के पहले तक हिन्दी खड़ी बोली में जो कविता हुई उसमें उस भावात्मकता का अभाव था जिसका काव्य में होना नितान्त आवश्यक होता है। छायावाद में आकर कविता वर्णनात्मकता अथवा प्रचारात्मकता से अलग हो भावात्मकता से अपना सम्बन्ध जोडती है। इस दृष्टि से वह अपना वैशिष्ट्‌य स्थापित करती है।

भाषा प्रयोग की दृष्टि से छायावादियों की अपनी अलग विशिष्टता है। इस युग के कवियों ने नये शब्दों का प्रयोग किया तथा जो शब्द पहले काव्य में नहीं आये थे उनको भावाभिव्यक्ति के

---

1 – सूर्यकान्त त्रिपाठीर 'निराला' – अपरा, पृष्ठ 29
2 – मुकुन्द द्विवेदी (सम्पादक) – हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रन्थावली, खण्ड 3, पृष्ठ 512
3 – इन्द्रनाथ – आधुनिक कविता का मूल्यांकन, पृष्ठ 41

साधन के रूप में काव्य में नियोजित किया। शब्दों के विविध प्रयोगों के माध्यम से नये अर्थों की उत्पत्ति की गई। छायावादी काव्य भाषा के संदर्भ में प्रसाद जी का कथन उल्लेखनीय है –

''नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई , हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे; किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है।''[1]

इस प्रकार द्विवेदी युगीन शुष्क एवं अनगढ़ भाषा के स्थान पर कोमल कान्त पदावली से युक्त भावों के अनुकूल शब्दों की योजना छायावादी युग में हुई।

छायावादी युग में सूक्ष्म भावों एवं स्वानुभूतियों के उद्घाटन पर विशेष बल दिया गया। अतः उसीके अनुरूप भाषा प्रयोग भी नवीन एवं सांकेतिक रूप में किया गया। छायावादी काव्य भाषा में तद्भव, तत्सम, देशज एवं देश –विदेश की अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रचुर रूप में प्रयोग किया गया है, भावों की तीव्रता एवं प्रवहमयता को ध्यान में रखते हुए ही वाक्य – विन्यास की योजना की दृष्टि से ''जूही की कली'', 'परिवर्तन' तथा 'प्रलय की छाया', 'तोड़ती पत्थर' अपना अलग वैशिष्ट्रय रखती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शब्द चयन तथा वाक्य विन्यास तथा दोनों की योजना में छायावादी कवियों ने पूर्ण स्वच्छन्दता दिखाई है।

कथ्य परिवर्तन के साथ ही छायावाद के शिल्प–प्रयोग में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। छायावादी कवियों ने अपने सूक्ष्म आन्तरिक भावों के ही अनुरूप अभिव्यक्ति के माध्यम की भी तलाश की और इस दृष्टि से उन्होने प्रतीकों, बिम्बों, अलंकार एवं नये छन्दों की योजना की। भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता बढ़ाने हेतु ही छायावादी कवियों ने प्रतीकों एवं बिम्बों की योजना की है। प्रकृति, इतिहास, पुराण दर्शन आदि सभी क्षेत्रों से कवियों ने नवीन एवं प्राचीन प्रतीकों को गहण किया तथा युग की आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें नवीन रूप प्रदान किया। परम्परात्मक, आध्यात्मिक, प्राकृतिक एवं रहस्यात्मक प्रतीकों की दृष्टि से पंत और रहस्यात्मक प्रतीकों के अलावा स्वच्छन्द प्रतीकों का भी इस युग के कवियों ने प्रयोग किया। परम्परागत प्रतीकों की दृष्टि से प्रसाद, आध्यात्मिक प्रतीकों की दृष्टि से निराला, प्राकृतिक प्रतीकों की दृष्टि से महादेवी वर्मा के काव्य विशेष महत्व रखते हैं।

छायावाद के प्रायः सभी कवियों ने अपने काव्य में बिम्बो की योजना की है। सत्य तो यह है कि ''स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज्म) और बिम्ब का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और साहित्य के क्षेत्र में जैसे – जैसे स्वच्छन्छतावादी प्रवृत्ति बलवती होती गई वैसे – वैसे बिम्ब काव्य के अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता गया।''[2] इस प्रकार छायावादी कवियो ने बिम्ब को अभिव्यंजना–प्रणाली के सहायक के रूप में प्रयुक्त किया है। बिम्ब नियोजन की विविधता या

[1] – जयशंकर प्रसाद – काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ 122

[2] – केदार नाथ सिंह – आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब – विधान, पृष्ठ 158

व्यापकता सबसें अधिक निराला में देखने का मिलती है। इनकी बिम्ब योजना विराट एवं ओज प्रधान है। निराला के काव्य में युगीन विषमताओं, कटुताओं, मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्वों आदि की सफल बिम्बात्मक अभिव्यक्ति हुई है। 'सरोज – स्मृति', 'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास', 'जूही की कली', 'संध्या सुन्दरी' आदि कवितायें बिम्ब नियोजन की दृष्टि से काफी महत्व रखती है। प्रसाद तथा महादेवी वर्मा की कविताओं में सौन्दर्य मूलक बिम्बों की झलक मिलती है। बिम्ब नियोजन की दृष्टि से प्रसाद की "कामायनी" विशेषकर श्रद्धा, लज्जा, चिन्ता एवं इडा सर्ग – विशेष महत्व रखती है। प्राकृतिक बिम्बों की दृष्टि से पंत का विशेष महत्व है। इनके काव्य में मधुर एवं कोमल बिम्बो की अधिकता है।

मिथकीय दृष्टि से भी छायावादी कविता काफी सशक्त है। युग संवेदना एवं परम्परा की अभिव्यक्ति के लिए मिथक एक सशक्त माध्यम होता है। मिथक के स्वरूप के सम्बन्ध में डा0 पुष्पपाल सिंह ने लिखा है – "मिथक आदिम मस्तिष्क से उत्पन्न क्रमशः विकसित एवं पुरातन कथा है, जो प्राचीन होकर भी नित नवीन बनी रहती है एवं जिसनें कथा तत्व का महत्व न होकर उसके माध्यम से व्यंजित तत्व, यथार्थता, सत्य आदि महत्वपूर्ण होते हैं। मूलतः धर्म से संयुक्त होकर भी वह अपने स्वरूप में पूर्णतया सामाजिक एवं सांस्कृतिक होता है।"[1] छायावादी कवियों ने भी पुराणों, उपनिषदों तथा वैदिक ग्रन्थों आदि के विस्तृत क्षेत्र से मिथकों को ग्रहण किया तथा उसके माध्यम से अपने काव्य स्वरूप को सशक्त रूप प्रदान किया है। सत्य तो यह है कि काव्य – सामग्री की खोज में कवि – कल्पना कवि के अनजाने ही मिथक के क्षेत्र में पहुँच जाती है। कवि अपने कथ्य को मिथक के माध्यम से ऐसा प्रभावी बना लेता है कि पाठक का उससे सहज और स्वाभाविक रूप से तादात्म्य स्थापित हो जाता है। वैसे तो सभी छायावादी कवियों ने थोड़ा बहुत मिथक का प्रयोग किया है लेकिन उन सब में प्रसाद और निराला का स्थान सर्वोपरि है। मिथक–प्रयोग की दृष्टि से 'कामायनी' तथा 'राम की शक्ति पूजा' रचनायें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। 'कामायनी' में भीषण जलप्लावन तथा मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि वैदिक घटनाओं तथा पात्रों के जरिए मानवीय विकास को उद्घाटित किया गया है। ये मिथक प्रयोग एक ओर एतिहासिक हैं तो दूसरी ओर सांकेतिक भी। इस प्रकार वैदिक घटनाओं के माध्यम से युग की समस्या को भी वाणी प्रदान की गई है। 'राम की शक्ति पूजा' में रावण और राम के युद्ध एक ओर ऐतिहासिक अर्थ उद्घाटित करते हैं तो दूसरी ओर सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक भी। यह राम रावण का युद्ध अपनी प्रतीकात्मकता में पाप–पुण्य, देवी एवं आसुरी शक्ति–संघर्ष की व्यंजना करता है जो हर युग विशेष में घटित होता है। इसके

---

[1]– पुष्पपाल सिंह – काव्य मिथक – पृष्ठ 13–14

अतिरिक्त इस कविता में देवी के इंदीवर उठाने का प्रसंग, हनुमान क्रोध आदि मिथक – प्रयोग की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

छन्द रचना के क्षेत्र में भी छायावादी कवियों ने अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का परिचय दिया है। इस युग के कवियों ने खड़ी बोली के अनुरूप में छंदों के रूपों में परिवर्तन भी किया तथा उन्हें परिष्कृत एवं परिनिष्ठित कर काव्य की संगीतमयता में भी वृद्धि की। गीतों तथा प्रगीतों के लिए छायावादी कविता में मुक्त छन्द का काफी प्रयोग हुआ। मुक्त छन्द के प्रवर्तक महाकवि निराला हैं तथा उनकी जूही की कली को मुक्त छन्द का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता हैं। निराला ने सभी रूढ़िगत बन्धनों का विरोध किया तथा शास्त्रीय छन्द को काव्य पथ का रोड़ा मानते हुए उसे हटाने का भरपूर प्रयास किया। इस प्रकार उन्होने शास्त्रीय छन्दों के त्याग के साथ – ही – साथ मुक्त छन्द की प्रतिष्ठा की। मुक्त छन्द में रची उनकी कविताएं इस बात की साक्षी हैं। निराला के अलावा प्रसाद और पंत ने भी मुक्त छन्दों का प्रयोग किया। इस प्रकार छायावादी कवियों ने कवित्त, सवैया, कुण्डलियां, छप्पय आदि छन्दों की जड़ता एवं एकरसता को भंग किया तथा छन्द--विधान में नवीनता एव मौलिकता का परिचय दिया।

प्रसाद की रचना 'आँसू' छन्द तथा उनकी प्रसादात्मक शैली कवि की मौलिक एवं नवीन उद्‌भावना है। डा0 इन्द्रनाथ मदान ने भी लिखा है कि "प्रसाद का आँसू छन्द इनकी मौलिक उद्‌भावना का परिणाम है, पन्त का छन्द विधान इनकी कोमलकान्त रूचि से प्रभावित है निराला की छन्द योजना इनके विद्रोही व्यक्तित्व की देन है और महादेवी का छन्द विधान इनके संगीतात्मक सस्कारों से प्रेरित है।"[1] इस प्रकार छायावादी कवियों ने लोकछन्दों को ग्रहण किया, नवीन छन्दों की सृष्टि की तथा कुछ पुराने प्रचलित छन्दों के रूपों में परिष्कार कर उसे नवीन भावों को वहन करने योग्य बनाया।

अलंकार सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक होते हैं। छायावादी कवि मूलरूप से प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं, अतः छायावादी कवियों के लिए अलंकारों का विशेष महत्व होना स्वाभाविक ही था; वस्तुतः अलंकार केवल वाणी की सजावट हेतु ही नहीं होते अपितु वे भावों की अभिव्यक्ति में सहायक भी होते हैं। भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भाषा की सौष्टवता हेतु अलंकार एक आवश्यक उपादान होते हैं। इसलिए छायावादी कवियों ने भाव तथा रूपों दोनो प्रकार के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हेतु पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों अलंकारो का यथा अवसर प्रयोग किया है। चित्र भाषा शैली या प्रतीक पद्धति पर भी विशेष बल प्रदान किया गया है। छायावाद के विषय में अपनी

[1] – इन्द्रनाथ मदान – आधुनिक कविता का मूल्यांकन, पृष्ठ 48

प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए आचार्य शुक्ल ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "छायावाद का प्रधान लक्ष्य काव्य शैली की ओर था, वस्तु विधान की ओर नहीं।"[1]

वस्तुतः छायावाद ने वस्तुगत रूढ़ परम्परा को ही नहीं अपितु "कविता के रूप विन्यास को (भी) पुरानी संकीर्ण रूढ़ियों से मुक्त करके उसने नवीन अभिव्यंजना प्रणाली के लिए द्वार खोल दिया।"[2] कहा जा सकता है कि छायावादी कविता में भाषा और शिल्प पर विशेष ध्यान दिया गया। भाषा, शब्द – प्रयोग, प्रतीक, बिम्ब मिथक, छन्द एवं अलंकार आदि का काव्य में नये – नये रूपों में प्रयोग हुआ। चित्रात्मक, अलंकारिक, सूक्ष्म तथा लाक्षणिक प्रयोगों को विशेष महत्व दिया गया। फलतः चित्रात्मक, अलंकारिक, लाक्षणिक शैली की बहुलता हुई। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि छायावादी कविता में काव्य भाषा एक नयी राह पर चली तथा इस नये राह पर चलते हुए उन्मेष के शिखर पर पहुंची।

२ – छायावाद का अवसान : नई काव्यधारा का उन्मेष

छायावादी कवियों में अपनी रचनाओं के जरिये सांस्कृतिक परिवेश में उद्घाटित तों किया, लेकिन उसकी आधार भूमि मुख्यरूप से कल्पनात्मक, आदर्शात्मक , भावनात्मक एवं रहस्यात्मक ही अधिक रही। साहित्य किसके लिये ? का वह कहीं उत्तर नहीं देता। सत्य तों यह है कि व्यक्तिवादिता कविता पर इस कदर हावी हो गयी थी कि उसी के घेरे में घिरी कविता दिनों दिन सामान्य जनता से कटती चली जा रही थी । वस्तुतः "छायावाद के बीच मौलिकता और नवीनता के नाम पर जो असामान्य की खोज हुई उसने उसे सामान्य जनता से बहुत दूर कर दिया ।"[3] इस प्रकार सामान्य जनता तथा उसकी समस्याओं से दूर, युगीन समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ, कल्पना और व्यक्तिवादिता के नशे में चूर रहस्य एवं अध्यात्म की खोल ओढ़े , सामान्य जनता से कटी छायावादी कविता को युग की जागरूक चेतना स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थी फलतः प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही था और हुआ भी यही । कहना न होगा कि छायावाद के अवसान के यही प्रमुख कारण भी बने ।

अपने अन्तिम समय में छायावादी कविता की कल्पना एवं उसकी रूमानियत अपनी अतिवादिता के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी थी । जीवन एवं समाज की वाह्य वास्तविकताओं से उसका सम्बन्धविच्छेद सा हो गया था। कविता यथार्थजीवी न होकर कल्पनाजीवी हो गयी थी ।

---

[1] – राम चन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 439
[2] – नामवर सिंह – छायावाद, पृष्ठ 154
[3] – केशरी नारायन शुक्ल–आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत , पृष्ठ 133

कवि वस्तुस्थित का पूर्ण रूप न प्रकट कर उसे कल्पना के आवरण पहनाकर उद्घाटित करता था। उसमे भी उसकी स्वअनुभूतियों एवं भावनाओं की ही प्रधानता रहती थी। इस प्रकार " छायावादी कविता की ताजगी , रंगीनी औंर कल्पना का अतिरेक सन्तुलित चित्रण के अभाव की पूर्ति न कर सका । कवियों की नवीनता और .मौलिकता भी बहुत दूर न जा सकी क्योंकि छायावादी कवि प्रधानता अपनी ही भावना और अनुभूति में तन्मय रहे और इनमें से अधिकांश भावनायें और अनुभूतियां न तो बहुत गहरी थी और न सत्य से समन्वित[1] "महादेवी जी ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि " छायावाद का पराभव एक तो इस कारण हुआ कि छायावादी कवियों की अध्यात्मिक अनुभूति, अपूर्ण और दुर्बोध थी और दूसरे उसमें मानव जीवन को उचित गौरव न देकर उसके प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण के स्थान पर भावात्मक दृष्टि को अपनाया गया " ।[2]

छायावाद युग की वाह्य परिस्थितियाँ बड़ी विडम्बना पूर्ण थी । एक ओर पराधीनता की बेड़ी कसती जा रही थी तो दूसरी ओर क्रान्ति की आवाज उठ रही थी। परिस्थितियाँ तेजी से करवटें बदल रही थी । लेंकिन छायावादी कवि इन सबसे बेखबर अपने स्वानुभूत भावनाओं के गोद में पड़ा प्रेम और सौन्दर्य की चादर ओढ़े लोक से दूर शून्य क्षितिज के उस पार जाने की इच्छा में मग्न था । इस प्रकार वह बदलती परिस्थितियों वाह्य वास्तविकताओं से अपना दामन बचाती मुँह चुराती सामान्य जीवन से दूर दूरतर होती जा रही थी। यही कारण था कि जिस छायावादी कविता का प्रारम्भ में खुले दिल से स्वागत किया गया था वही कविता बाद में चलकर भार सी बन गयी जिसे उतार फेंकने की पहल स्वयं जागरूक छायावादी कवियों –निराला एवं पन्त –ने ही किया। इस प्रकार छायावादी कविता के पराभव का एक कारण समाज की वाह्य परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के प्रति उसकी उदासीनता भी थी ।

वस्तुतः छायावादी कवियों ने सौन्दर्य की खोज की ,प्रेम की प्रतिष्ठा की , अनुभूतियों का उद्घाटन लेकिन समाज की विषम परिस्थितियों की तरफ एक नजर डालने की भी जरूरत नहीं समझी। प्रेम की प्रतिष्ठा उनका उद्देश्य था , सौन्दर्य उनका आदर्श , लेकिन प्रेम और सौन्दर्य के स्थायित्व के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता थी उन पर विचार ही नहीं किया। इस प्रकार "छायावादी काव्य में उन सामाजिक एवं राष्ट्रीय तथा अर्न्तराष्ट्रीय गतिविधियों की ओर ध्यान नहीं दिया जिनसे जीवन कुचला जा रहा था। .... उसने न उन सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूढ़ियों की ओर संकेत किया और न शोषक और शोषित के बीच जगत व्यापी संघर्ष का दिग्दर्शन कराया । वे कवि इन यथार्थताओं से दूर भी भागतं रहें ।वर्ग–संघर्ष से वें अलग ही रहें ।इस प्रकार जनता और कवि की इच्छा और आशाओं के बीच बड़ा भारी अन्तर उपस्थित हो गया ।"[3]

---

[1] –केशरी नरायन शुक्ला –आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृष्ठ 133
[2] –महीदेवी वर्मा – आधुनिक कवि (एक)पृष्ठ 22–25
[3] – केशरी नरायन शुक्ला –आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत, पृष्ठ 133

वस्तुतः ये सभी एसी चीजें थी जो छायावादी कविता की नींव को दिनो दिन कमजोर करती जा रही थी।और उसके पतन का कारण भी बनी ' दिनकर ' के अनुसार छायावादी कवियों की वैयक्तिकता की धुन , बौधिकता का प्रसार, भावुकता और रूदनशीलता, वास्तविकता की उपेक्षा, सजावट का मोह तथा काव्य चित्रों के बीच उस पारदर्शिता का अभाव जिसके भीतर से जीवन की कुछ गहराइयों को देखा जा सके आदि ऐसे कारण थे जो छायावादी कविता के दोष थे और जिनके कारण उसे पतन की राह देखनी पड़ी।''[1]

इस प्रकार सौन्दर्य – लोक में विचरण करता छायावादी काव्य परिस्थितियों की यथार्थता, वास्तविकता तथा जनसामान्य से काफी दूर हो गया तथा वह कृत्रिम कल्पना लोक में विचरण करने लगा। फलतः छायावादी काव्य युग की आवश्यकताओं की पूर्ति, विषमताओं के उद्घाटन तथा यथार्थ चित्रों के प्रस्तुतीकरण में असमर्थ रहा। जन – समस्याओं तथा सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति सचेष्ट छायावादी कवियों ने छायावाद की इस असमर्थता को समझा तथा उन्होने युग परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रख नई दिशा ग्रहण की इस प्रकार छायावादी काव्य का अवसान स्वयं छायावादी कवियों की बदलती मानसिकता तथा युगीन मान्यताओं के चलते हुए, 'पंत' जैसे कोमल कल्पना के कवि ने छायावादी कविता की कल्पनात्मकता तथा आत्मनिष्ठा के विरूद्ध यथार्थ चित्रण की आवश्यकता पर बल दिया तो 'निराला' जैसे महाकवि ने उसे ठोस आधार प्रदान किया। कहना न होगा कि प्रगतिवादी काव्यधारा का सूत्रपात भी इन्ही कवियों की लेखनी से हुआ।

एक बात और छायावादी काव्य अपने चरम बिन्दु पर पहुँचते – पहुँचते एक प्रकार की अस्पष्टता से आवेष्टित हो गया था। ''अनुभूति शून्य रहस्यवाद एक प्रवृत्ति बनता जा रहा था। न केवल कथावस्तु, अस्पष्ट तथा रहस्यात्मक कल्पना के तानों बानो से बुनी जा रही थी, उसी के अनुरूप शैली – शिल्प की नियोजना भी हो रही थी। वस्तु और शिल्प दोनो ही क्षेत्रों में कविता निगूढ़, अस्पष्ट और दुर्बोध बनती जा रही थी। लाक्षणिकता तथा प्रतीकात्मकता बुद्धि की सीमाओं से बाहर होती जा रही थी। समस्त काव्य के ऊपर कृत्रिम आवरण पड़ता जा रहा था। बुद्धि और ज्ञान विज्ञान की उपलब्धियों से शून्य कविता का एक अलग काल्पनिक लोक निर्मित हो गया था।''[2] तात्पर्य यह कि छायावादी काव्य में युग और जीवन उपेक्षित था, कल्पना और भाव प्रधान। स्थूल के स्थान पर सूक्ष्मता की प्रतिष्ठा में अस्पष्टता और दुर्बोधता हावी हो गयी थी। जीवन एवं समाज की गतिविधियों एवं नये ज्ञान – विज्ञानों से बेखबर, कल्पना और रहस्य के जाल में उलझी छायावादी कविता निस्पन्द – सी हो गयी थी। जागरूक सामाजिक चेतना इस स्थिति को बरदाश्त नहीं कर सकती थी। वह सभी जंजीरों और बाधाओं को तोड़, उन्मुक्त राह बना उस खुले आकाश में विचरण

---

1 – रामधारी सिंह 'दिनकर'– काव्य की भूमिका, पृष्ठ 75–78

2 – उमेश चन्द्र मिश्र – प्रगतिवादी काव्य, पृष्ठ 292

करना चाहता था, जहाँ न कोई बन्धन हो, न कोई सीमा हो, न तो किसी कल्पनिकता का बोलबाला हो वरन् वहाँ यथार्थ की भावभूमि तथा समष्टिगत चेतना का भाव हो।

वस्तुतः छायावादी काव्य में जिस अस्पष्टता, रहस्यमयता, काल्पनिकता, अतिसूक्ष्मता और लाक्षणिकता की प्रधानता बढ़ती जा रही थी, उससे छायावाद की जड़ें भी जर्जर होती जा रही थीं। फलस्वरूप उसका स्थायित्व अधिक दिनों तक सम्भव न था। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए डा0 रघुवंश ने लिखा है कि – "जीवन की अस्वीकृतियों को गौरवान्वित करके, मानसिक कुण्ठाओं को छिपाकर, कल्पनालोक, छायाभ्यास और रहस्याभास–वैभव में अपने–आपको भुलाये रहना अधिक सम्भव नहीं था और सामाजिक भावनाओं के लिए अज्ञात, अशरीरी आलम्बन का रहस्यात्मक आधार भी अधिक टिकाऊ सिद्ध नहीं हो सका। परिणामस्वरूप आज के काव्य में एक नया मोड़ स्वाभाविक था।"[1] इस प्रकार छायावादी कविता की हासोन्मुख प्रवृत्तियां धीरे – धीरे उसे अवसान की ओर ले जा रही थी और धीरे – धीरे छायावादी काव्य धारा में ही छायावादी कवियों के माध्यम से इस छायावाद के अवसान तथा नवीन परिवर्तन के चिन्ह दिखायी पड़ने लगे थे। लेकिन उसका वास्तविक स्वरूप सुमित्रानन्दन पंत के 'युगांत' के प्रकाशन से ही स्पष्ट होता है।

कहा जा सकता कि छायावादी कविता के अवसान में दो चीजें मुख्य रूप से क्रियाशील थीं। एक तो छायावादी काव्यधारा की स्वयं हासोन्मुख प्रवृत्तियां, दूसरी राजनीतिक – सामाजिक आन्दोलन की नयी चेतना। वैसे यह तो नहीं कहा जा सकता है कि छायावादी काव्यधारा सामाजिक – राजनीतिक आन्दोलनों तथा विषमताओं से पूरी तरह से कटा था। लेकिन यह मानना ही होगा कि उसमें जीवन की आवश्यकताओं तथा वास्तविकताओं के चित्रण का अभाव था। कहीं – न – कहीं छायावादी कवि परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति उदासीन अवश्य थे। यही नहीं उनकी आध्यात्मिक चेतना में भी वह पूर्णता नहीं थी, जिसकी आवश्यकता थी और ये चीजें छायावाद के पराभाव की मुख्य कारक बनीं।

वस्तुतः वह युग ही ऐसा था। दिन – प्रतिदिन नई करवटें ले रही देश की परिस्थितियों में जहाँ एक ओर आन्दोलनों का जोर बढ़ रहा था, वहीं दूसरी ओर खूनी अत्याचार का आतंक अधिक गहरा रहा था और आतंक के माहौल में कवि – समुदाय क़ल्पनालोक या छायालोक में कब तक विचरण कर सकता था ? वस्तुतः कवियों की विचरण की राहें भी आतंक और अत्याचार की गर्द – गुबार से भरती जा रही थी। वह कितना ही 'कोलाहल की अबनी' को छोड़ 'शून्य क्षिजित के पार' जाने की सोचता,, लेकिन परिस्थितियों की विषमता एवं कड्डुवाहट वहाँ भी उनका पीछा नहीं छोडती थी। ऐसी परिस्थितियों की विषमता एवं कड़वाहट भरे वातावरण में युग की आवश्यकताओं को मद्देनजर रखते हुए कवि का जगना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी था।क्योंकि नई सामाजिक

---

[1] – रघुवंश – साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ 117

चेतना उन्हें नई राह पर चलने को प्रेरित कर रही थी, यदि युग की आवश्यकता उनका आहवान कर रही थी, आतंक एवं अत्याचार उनके हृदय को व्यथित कर रहा था तो आन्दोलनों का जोश उन्हें नयी स्फूर्ति दे रहा था। कहना न होगा कि उनके अन्दर एक व्यापक परिवर्तन की भावना कसमसा रही थी।

वस्तुतः समाज एवं राष्ट्र की इन विषम परिस्थितियों ने ही कवि एवं काव्य दोनों को नयी राह पर चलने की प्रेरणा प्रदान की। पंत, निराला, दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और कुछ हद तक रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने काव्य को नई राह प्रदान करने का कार्य किया। यह अवश्य सत्य है कि पंत और निराला जैसे कवि कुछ दिनों तक नये पथ पर विचरण कर तथा उसे आगे बढ़ाने के पश्चात पुनः अपने चिरपरिचित छायावादी काव्य पथ पर ही आ गये। लेकिन उन्होने काव्य को जो नयी राह पकड़ाई, उसे अन्य कवियों ने बखूबी आगे बढ़ाया तथा समूह बनाया। हरिवंशराय बच्चन, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', नरेन्द्र शर्मा आदि ने छायावादी शैली को छोड़ एक नवीन अभिव्यंजना – शैली को जन्म दिया तो सुमित्रानन्दन पंत और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जैसे पुराने छायावादी कवियों ने विषय और शैली दोनों दृष्टियों से छायावाद का पटाक्षेप किया। साथ ही वे परिवर्तित परिस्थितियों के बीच काव्यगत नये परिवर्तन के अग्रदूत भी बने। इस प्रकार स्वयं छायावादी कवियों – पंत, निराला आदि – ने छायावाद की धारा को रोक नई धारा का प्रवर्तन किया तथा उत्तर छायावादी कवियों – बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा आदि – ने उनके कार्य में सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार अपने अन्तिम चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर स्वयं छायावादी काव्यधारा ने आगे की धारा के लिए स्थान रिक्त कर दिया। इस संदर्भ में डा0 शिव कुमार मिश्र की यह मान्यता पूर्णतया सत्य है कि "छायावाद की हत्या नहीं हुई, जैसा कि कुछ लोगों का विचार है अपितु अपने विकास की परिपक्वावस्था पर पहुँच कर एक पके हुए फल की भांति धरती पर चूकर, उसने स्वतः ही नई चेतना के लिए स्थान रिक्त किया है।"[1] इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि छायावादोत्तर नयी चेतना को वहन करने वाले प्रथम कवि छायावादी कवि ही हैं छायावादोत्तर कवि नहीं।

३ – (क) – प्रमुख काव्य धारा

(1) प्रगतिवाद : युग – यथार्थ एवं विद्रोह की अभिव्यक्ति

बीसवीं शताब्दी के तीसरे – चौथे दशक में स्वराज्य आन्दोलन काफी तेज हो चुका था। स्वतंत्रता संग्राम की यह आखिरी लड़ाई थी। परिस्थितियां काफी जटिल होती जा रही थीं। "सन्

[1]–शिव कुमार मिश्र–प्रगतिवाद, पृष्ठ 11

1936 के आस पास फेलने वाला समाजवादी प्रभाव, दूसरा महायुद्ध उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न आर्थिक – राजनीतिक संकट, मंहगाई, बेकारी सन् 1942 क्रांति, उसका दमन, मजदूरो की एतिहासिक हड़तालें, किसानों के जाग्रत अभियान और सबसे बढ़कर बंगाल का अकाल आदि वे कारण हैं जिन्होने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी गति देकर, उसे अधिक सचेष्टता से मात्र राजनीतिक ही नहीं प्रत्युत आर्थिक स्वाधीनता के लिए भी सक्रिय रूप से प्रयत्नशील होने को बाध्य किया।"[1] ऐसी विषम परिस्थितियों की उपेक्षा साहित्यकार भला कैसे कर सकता था ? राष्ट्रीय – अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर उभरने वाली घटनायें साहित्यकार को भी आन्दोलित कर रही थी तथा उन्हे एक नई राह का संकेत दे रही थी। फलतः साहित्यकार की दृष्टि एवं बोध में परिवर्तन का आना स्वाभाविक ही था और कवियों ने नये बोध एवं दृष्टि से समन्वित युग यथार्थ की परिसिीतियों को कविताओं में चित्रित करते हुए जन–जन की आकांक्षाओं को सजीव रूप प्रदान किया। साहित्य को वह जीवन के साथ जोड़ने में सफल हुआ तथा साहित्य को समाज की प्रगति का आधार बनाते हुए साहित्य किसके लिए प्रश्न का तर्क – पूर्ण उत्तर दिया। सन् 1930 के आस पास मार्क्सवादी –समाजवादी विचार धारा का प्रभाव भारत ही नहीं अपितु समूचे विश्व पर व्यापक रूप से पड़ा। एक तरफ उसने राष्ट्रीय आन्दोलनों एवं नेंताओं को प्रभावित किया तो दूसरी ओर सामान्य जन–जीवन पर भी अपना प्रभाव छोड़ते हुए उनमें नयी चेतना जगायी तथा उन्हें नई दिशा का संकेत दिया । युग की परिवर्तित परिस्थितयों एवं घटनाओं के बीच यह विचार धारा इतनी वैज्ञानिक एवं प्रभाव शाली प्रतीत हुई कि देश या ज्ञान का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा, जो इससे प्रभावित न हुआ हो । फिर साहित्य कैसे अप्रभावित रहता ? कल्पना एवं रूमानियत को इस विचार धारा से त्याज्य माना और यथार्थ उसकी प्रिय बनी । परिणाम स्वरूप उसके साहित्य में भी यथार्थ का आगमन हुआ । 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना का मूल आधार यथार्थ का आग्रह ही रहा है। प्रगतिवादी काव्यधारा का मूल उद्देश्य भी सामाजिक यथार्थ का अंकन रहा है। काव्य के क्षेत्र में पंत एवं निराला तथा गद्य के क्षेत्र में मुशी प्रेम चन्द्र इस विचार धारा से सर्वाधिक प्रभावित हुए और इस विचार धारा के प्रगतिशील तत्वों को ग्रहण कर उसे काव्य के माध्यम से रचनात्मक रूप प्रदान कर सामाजिक विकास एवं नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में अपना योगदान दिया ।

सन् 1935 में पेरिस में एक अर्न्तराष्ट्रीय संस्था 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना की गयी । इसके प्रथम अधिवेशन के सभापति प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ई0एम0फारर्स्टर थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था से प्रभावित होकर डा0 मुल्कराज आन्नद , भवानी भट्टाचार्य तथा सज्जाद जाहिर आदि भारतीय लेखकों ने लंदन में 'भारतीस प्रगतिशील लेखक संघ 'की नींव डाली । इसके

[1]– शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 147

प्रथम अधिवेशन– लखनऊ 1936में सभापति पद से बोलते हुए मूंशी प्रेमचन्द्र ने कलात्मक तथा पलायन वादी प्रवृत्तियों की कटु आलोचना की तथा साहित्य का सहीदिशा निर्देश करते हुए साहित्यकारों से समाजोपयोगी रचनात्मकता को प्रशय देने का आग्रह किया साहित्य की कसौटी की चर्चा करते हुए उन्होने कहा कि ''हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो , स्वाधीनता का भाव हो , सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो , जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो हममे गति , संघर्ष और बेचैनी पैदा करें, सुलायें नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।''[1] सन् 1938 के द्वितीय अधिवेशन के अवसर पर प्रकाशित –घोषणा पत्र में देश एवं समाज की तत्कालिक परिस्थितियों – साहित्यिक, सामाजिक , राजनीतिक आदि पर प्रकाश डाला गया तथा लेखको एवं कवियों को अपने कर्तव्य के प्रति सजग होने का आवाहन किया गया। आगे होने वाले अधिवेशनो में भी प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया गया।

वस्तुतः राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विषम परिस्थितियों एवं 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना से कवि समाज अप्रभावित न रह सका। इसका सबसे महत्व पूर्ण उदाहरण छायावादी कवियों के पथ – परिवर्तन में देखा जा सकता है। 'पंत' और 'निराला' दोनो महाकवियों ने कल्पना एवं रूमानियत की कोमल धरती को छोड़ यथार्थ के मार्ग पर चलने का साहस दिखाया। पंत जी ने 'रूपाभ ' के सम्पादकीय में स्पष्ट रूप से लिखा है कि ''इस युग में जीवन की वास्तविकताओं ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती । उसकी जड़ों को अपनी पोषक सामग्री ग्रहण करने के लिये धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।

'''हमारा उद्देश्य उस इमारत से धूनियाँ लगान का कदापि नहीं है, जिसका कि गिरना अवश्यभावी है। हम तो चाहते हैं उस नवीन के निर्माण में सहायक होना , जिसका प्रादुर्भाव हो चुका है।''[2] इस प्रकार रूपाभ के कवि ने 'प्रगतिवाद' का संदेश दिया तथा द्वितीय अंक में ' प्रगति' शब्द की वास्तविक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सांस्कृतिक क्रान्ति के जरिये युग को बदल डालने के संकल्प को दुहराया। निराला जैसे क्रांतिदर्शी तथा पंत जैसे कोमल कल्पना एवं प्रकृति की शिल्पी , छायावाद के शीर्षस्थ कवियों ने ही नव युग की चेतना का आवाहन किया । 'युगवाणी' 'ग्राम्या' 'नये पत्ते' 'बेला' ' कुकुरमुत्ता' , आदि रचनाओं को छायावादी कवियों एवं उनकी कविताओं के पथ – परिवर्तनकी सबसे बड़ी सूचक है।

यह सत्य है कि प्रगतिवाद का सैद्धान्तिक पक्ष मार्क्सवादी दर्शन तथा वैज्ञानिक यंत्र के नये विकास से काफी हद तक प्रभावित है फिर भी प्रतिवादी काव्यधारा का विकास अपनी ही

---

[1] – प्रेमचन्द्र–साहित्य का उद्देश्य , पृष्ठ 26
[2] –सुमित्रानन्दन पंत–रूपाभ , संपादकीय, अंक 1जुलाई1938

राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के चलते अधिक हुआ है। प्रगतिवादी काव्यधारा का चिन्तन डारविन के विकासवाद से अत्यन्त प्रभावित है। यह धारा नियति, ईश्वर, भाग्य कर्मफल पर अविश्वास से प्रभावित रही है। प्रगतिवादी काव्यधारा "मार्क्सवादी दर्शन और नये राजनीतिक विचार – प्रवाहों से प्रभावित होते हुए भी छायावादी साहित्य भारतीय है।"[1] इस प्रकार इस धारा की भावभूमि काफी अलग रही है तथा इसकी प्रवृत्तियां भी अपनी पूर्ववर्ती काव्य–प्रवृत्तियों की अपेक्षा काफी व्यापक हैं।

मार्क्सवादी – समाजवादी विचारों से प्रभावित प्रगतिवादी काव्यधारा की कविताओं में यथार्थ का आग्रह मिलता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें रूमानियत और कोमलता का भाव नहीं है। वस्तुतः रूमानियत को वह अपने काव्य में स्थान देता है लेकिन यथार्थ से दूर करके नहीं। यही कारण है प्रगतिवादी कविताओं में एक ऐसे यथार्थ का चित्रण मिलता है जो संघर्ष की प्रेरणा देता है। तथा उच्च्य मानवादर्शों को स्थापित करता है। यह बात दूसरी है कि कहीं – कहीं भाषणबाजी तारे नारेबाजी का स्वर भी देखने को मिलता है। यों भी प्रगतिवादी काव्यधारा में कवियों की दृष्टि शिल्प की अपेक्षा वस्तु केन्द्रित अधिक रही है। प्रगतिवादी कवि को वस्तु के मूल्य पर शिल्प का महत्व कदापि ग्राह्रय नहीं है। वह वस्तु की अवहेलना इस लिए नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि शिल्प को प्रधान स्थान देने का मतलब है 'रूपवाद' (फार्मलिज्म) को बढ़ावा देना लेकिन यह वस्तु की प्रकाशन हेतु शिल्प की आवश्यकता को पूरी तरह से नजर अंदाज भी नहीं करता। इस प्रकार वह दोनों की एकता स्थापित करना चाहता है।

समाज – सापेक्ष व्यक्ति की कल्पना करता है। एकाकी व्यक्ति का उसके लिए कोई महत्व नहीं है। इस प्रकार वह व्यक्तिवादी भावधारा का विरोध करता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को भी वह समाज – सापेक्ष रूप में ही स्वीकार करता है। वस्तुतः प्रगतिवादी कवि एवं रचनाकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए वे भी व्यक्तिवादी और अहम्वादी जीवन – दर्शन का प्रबल विरोध करता है। इस प्रकार वह समष्टिवाद की स्थापना करता है और कला क्षेत्र में अनैतिकता, अश्लीलता अथवा अतिनग्नता का वह प्रबल विरोधी है। साहित्य का सम्बन्ध समाज निर्माण से होता है। क्योंकि एक ओर वह समाज से प्रभावित होता है तो दूसरी ओर उसे प्रभावित भी करता है। इसलिए साहित्य में अश्लीलता, अनैतिकता का अर्थ है समाज की सारी व्यवस्था का भ्रष्ट होना अतः वह स्वस्थ्य समाज की स्थापना में स्वच्छता यथार्थता और नैतिकता को प्रश्रय देता है लेकिन 'काम' – जो कि मानव जीवन का एक प्रमुख अंग है – का तथा यौन–सम्बन्धों की अवहेलना करना वह उचित नहीं समझता।"[2]

---

[1] – रमाकान्त शर्मा – छायावादोत्तर हिन्दी कविता, पृष्ठ 203

[2] – राहुल सांकृत्यायन – 'हमारी प्रतिशीलता', हंस, नवम्बर, 1943

प्रगतिवादी धारा या चिन्तन परम्परा और अतीत को न तो पूरी तरह से ग्रहण करता है और न ही उन्हें छोड़ता है। परम्परा और अतीत की संस्कृति को वह छोड़ भी नहीं सकता क्योंकि उसकी दृष्टि "जैसे सामाजिक जीवन कोई नवीन व्यवस्था पुरानी व्यवस्था से एकदम अलग होकर नहीं आ सकती, वैसे ही साहित्य में विकास क्रम को भंग करके शून्य में नई प्रगति आरम्भ नहीं हो सकती।"[1] वस्तुतः कोई भी प्रगति परम्परा की ही आधार भूमि पर हो सकती है। लेकिन वह परम्परागत संस्कृति अथवा अतीत की महान उपलब्धियों का यथावत् ग्रहण करने का पक्षपाती नहीं है, अपितु प्रगतिवादी उसे – परम्परा अथवा अतीत को – समाज एवं जनता की सापेक्षता में देखता एवं परखता है। वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टि से उसकी व्याख्या करता है तब कहीं जाकर वह उसके ग्रहण – अग्रहण की बात सोचता है अतीत की चेतना एवं जनवादी प्रवृत्ति से प्रेरणा लेकर व समाज के नवनिर्माण – की आकांक्षा करता है। अतीत की रूढ़िगत प्रवृत्तियों का वह खुलेआम विरोध करता है।

साहित्यकार को राजनीतिक दृष्टि से जागरूक होना चाहिए। इस लिए प्रगतिवादी कवि साहित्य एवं राजनीति को एक करके देखता है। समाज की ही भांति राजनीतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं का साहित्य में खुलेआम अंकन करता है। प्रगतिवादी कवि न तो सौन्दर्यहीन रचनाओं को ही स्वीकार करता है और न ही मात्र राजनीतिक स्टंट वाली रचनाओं को ही। अपितु वह कला और राजनीति दोनों की एकता पर जोर देता है।

अब थोड़ी चर्चा कवियों तथा उनकी कविताओं की। प्रतिवाद की 'पुरस्कर्ता कवियों – निराला और पंत – की चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ। प्रगतिवादी काव्यधारा को वस्तु एवं शिल्प दोनों धरातलों पर अपनी रचनात्मक क्षमता के माध्यम से इन दोनों कवियों ने विकासोन्मुख बनाने का सफल प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त जिन कवियों ने प्रगतिवादी धारा को सशक्त बनाने तथा उसको प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाने पर अपना योग दिया है, उसमें राम विलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, नागार्जुन, शिवमुगल सिंह 'सुमन', रांगेय राघव, महेन्द्र भटनागर आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रगतिवादी धारा के प्रखर समीक्षक और कवि राम विलास शर्मा की भावधारा बहुमुखी रही है। इनकी जनवादी विचारधारा एक ओर क्रांति का समर्थन करती रही है तो दूसरी ओर समाज – सापेक्ष साहित्य की वकालत कवि ने "तारसप्तक' (1943) तथा 'रूप–तरंग' की कविताओं में एक ओर ग्रमीण जीवन की यथार्थता के साथ – ही – साथ प्रकृति के सामान्य आंचलिक और विशिष्ट सौन्दर्य से प्रभावित होकर उसे उसकी सारी खूबियों के साथ उद्घाटित किया है तो दूसरी ओर देश की तत्कालीन परिस्थितियों एवं उससे उत्पन्न होने वाली घटनाओं से अभीभूत होकर आशा–निराशा, हर्ष–विशाद तथा उल्लास की भावनाओं को भी व्यंजित किया है।

---

[1] – राम विलास शर्मा– सस्कृति और साहित्य, पृष्ठ 9

इस प्रकार कवि की चेतना बहिमुखी तथा चहुँमुखी रही है। लेकिन इन सबके बीच कवि का सबसे ऊँचा स्वर आस्था, विश्वास और जनवाद से युक्त है –

एक दिशा में उठते है अब
लाखों कदम धूल माटी में सने हुए सब एक साथ हीं।
आजादी की सरिता में कितनी भँवरें हैं
पर अदम्य अर्न्तधारा – सी
इस धरती पर बहती है पावनजन – गंगा। (बैसवाड़ा)

इनकी रचनाओं में कहीं – कहीं नारेबाजी तथा प्रचार के भी स्वर देखने को मिलते हैं लेकिन इनकी व्यंगात्मक कविताएं (सत्यं–शिवं–सुन्दरम्'– तारसप्तक) काफी प्रभावशाली बन पड़ी है। कवि को सामान्य जनता पर भरोसा है तथा उसकी सफलता को वे असंदिग्ध मानते हैं। ईश्वर तथा प्राचीन जड़ आस्तिकतावादी आदर्शों के प्रति इनमें विरक्ति है लेकिन अपने प्रगतिशील सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति इनके मन में अगाध श्रद्धा है।

केदारनाथ अग्रवाल को सच्चे अर्थों में जनकवि कहा जा सकता है। इनकी रचनाओं में वैचारिकता का रूखापन नहीं अपितु सहज एवं रागात्मक बोध मिलता है। कवि अपनी तीव्र सामाजिक संवेदना के चलते सहज एवं मधुर अभिव्यक्ति में अपना सानी नहीं रखता। यद्यपि इन्होने रूस, चीन, लालझण्डा आदि पर प्रशस्ति पूरक गीत रचे हैं।, उद्‌बोधनात्मक कविताएं की हैं लेकिन ये हमारे सामने मात्र प्रचारक के रूप में नहीं अपितु काव्य – मूल्यों के पारखी के रूप में आते हैं। 'युग की गंगा' (1947), 'नींद के बादल' (1947), 'लोक और आलोक'(1957) में इनकी काव्य संवेदना के तीन सोपानों को देखा जा सकता है। पहले में रूमानियत, दूसरे में आशा यथार्थ तथा तीसरे में आज से भरा प्रगतिवादी स्वर सुनाई देता है। कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है –

देख नाश का ताण्डव बर्बर,
एक बोध से
घन गरजे जन गरजे,[1]

वस्तुतः कवि जनवादी स्वर से युक्त अपनी कविताओं के माध्यम से एक ओर सामाजिक विषमताओं, धर्मगत रूढ़ियों तथा ईश्वर आदि की खोखली सूरत उजागर करता है तो दूसरी ओर समाज के नव निर्माण हेतु आशा का भी संचार करता है।

त्रिलोचन शास्त्री की कविताओं में मार्क्सवाद या यों कहें कि प्रगतिवाद की सैद्धान्तिक मान्यतायें व्यवहारिक रूप में उपस्थित हुई हैं। कवि ने प्रगतिवादी जीवन दर्शन को गला पचाकर उसे वास्तविक तथा सामान्य जनजीवन के लिए ग्रहणीय बनाया है। इस प्रकार कवि ने मार्क्सीय

---

[1] – केदार नाथ अग्रवाल – फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृष्ठ 23

जीवन दर्शन अथवा प्रगतिवादी जीवन दर्शन के क्षेत्र को व्यापक रूप से जन सुलभ बनाने हेतु महत्वपूर्ण कार्य किया। इनकी रचनाओं में युग परिवेश और संस्कृति साकार हो उठी है तथा उसमें जीवन संघर्षों से लोहा लेने की अदम्य शक्ति भी दिखायी पड़ती है। वस्तुतः इनकी कविताएं देश की सामान्य, पीड़ित और शोषित जनता के सुख–दुःख पूर्ण जीवन की वास्तविक प्रतिनिधि है। 'धरती' (1944), 'गुलाब और बुलबुला' (1956), में कवि ने नये समाज के निर्माण का स्वप्न देखा है। यहाँ कवि की सामाजिकता चेतना और यथार्थ बोध से युक्त दृष्टि ने जीवन एवं समाज की वास्तविकताओं को बड़ी ही खूबी के साथ उद्घाटित किया है । इनकी कविताओं में मिट्टी की सोंधी गंध और गरिमा प्रकट होती है। जीवन के जिन संघर्षों नें कवि को नई दिशा दी है, नयी चेतना प्रदान की है, उनका कवि ने साफ शब्दों में उद्घाटन किया है –

आभारी हूँ मैं पथ के सब आघातों का,
मिट्टी जिनमें वज्र हुई उन उत्पातों का,[1]

नागार्जुन सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं तथा इन्हें अपने देश तथा जनता से अत्यन्त प्रेम है। इनकी सामाजिक संवदेना देश की सामान्य जनता और उनके सुख –दुःख की व्यापक अनुभूतियों से सम्बन्ध स्थापित करती दिखायी देती है। सामान्य जन जीवन की महानता एवं यथार्थता का अंकन, जड़ रूढ़ियों एवं समानताओं का विरोध तथा आर्थिक–सामाजिक विषमताओं से पीड़ित और गतिहीन जीवन के नवनिर्माण एवं विकास की चाहत ही इनके ही काव्य के मूलस्वर हैं। इनकी रचनाओं में कलाकार की सह्रदयता और राजनीतिज्ञ की जागरूकता एक साथ परिलक्षित होती है। देश की मिट्टी तथा जन सामान्य को इन्होने ने नजदीक से देखा एवं परखा है। उसके प्रति कवि में अपार श्रद्धा भरी है। इनकी व्यंग्य कविताओं का क्षेत्र काफी व्यापक है। देश एवं समाज की रूढ़ियों, भ्रष्टाचार, आर्थिक–राजनीतिक–सामाजिक विसंगतियों तथा उनके कारणों पर कवि ने बड़े ही तीखे व्यंग्य किये हैं। 'बजट वार्षिक', 'छोटे बाबू', 'स्वदेशी शासक', 'प्रेत का बयान', 'विजयी के वंशधर', 'तालाब की मछलियां, आदि व्यंग्य कविताओं को उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है।

प्रगतिवादी कवि कला एवं शिल्प के प्रति कहीं भी सप्रयास जागरूक नहीं दिखायी देते क्योंकि वे वस्तु – चयन पर ही विशेष ध्यान देते हैं। शिल्प के प्रति उदासीनता के चलते नागार्जुन की कविताओं में एक प्रकार की रूक्षता, कठोरता और अभिधात्मक उक्तियों की प्रधानता है। फिर भी कविता काफी स्पष्ट, मार्मिक, अकृत्रिम एवं स्वाभाविक बनकर सामने आती है।

शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्रगतिवादी धारा के लोकप्रिय कवि हैं। इनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण रचनाओं की लयात्मकता, अनुभूतिगत सच्चाई तथा अभिव्यक्ति की सहजता है। 'जीवन

---

[1] – त्रिलोचन – प्रतीक, नवम्बर, 1951

के गान' (1940), 'प्रलय सृजन' (1944), 'विश्वास बढ़ता ही गया', 'पर आँखें नहीं भरीं' आदि रचनायें प्रगतिवादी जीवन दर्शन तथा सामाजिक बोध से प्रभावित एवं भरी पड़ी हैं। कवि को दलितों एवं पीड़ितों से लगाव है, अतः उनकी करूण आवाज सुनते ही वह नयी राह पर उनके साथ चलने के लिए उत्सुक दिखाई देता है –

विस्तृत पथ है मेरे आगे, उस पर ही मुझको चलना है,
चिर–शोषित असहायों के संग, अत्याचारों को दलना है,[1]

जीवन के गान में तो कवि निजी अनुभूतियों की सीमा से बाहर निकल युग और सामान्य जीवन के व्यापक शोषित परिवेश से अपना तादात्म्य स्थापित करता है। समाज एवं जीवन के नव – निर्माण की अदम्य आकांक्षा, प्रगति के मार्ग पर बढ़ने की ललक, सामाजिक विषमता, जीवन संघर्ष के उदात्त चित्र उसे क्रांति के गीत लिखने के लिए प्रेरित करते हैं।

प्रगतिवादी धारा के सशक्त कवि रांगेय राघव अपने राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सदा सजग रहे हैं। 'अजय–खण्डहर'(1944) में दूसरे विश्व युद्ध में लाल सेना की विजय तथा स्तालिनग्राद के युद्ध के वर्णन के माध्यम से भारतीय जनता के मन में राष्ट्र प्रेम की भावना तथा जनवादी चेतना जाग्रत करने की कोशिश की गई है तो 'पिघलते पत्थर' (1946), में कवि ने साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और फासिज्म के विरोध को लेकर प्रगतिशील विचार प्रकट किये हैं। देशभक्ति की प्रगाढ़ता, आस्था एवं दृढ़ता से इनकी रचनायें भरी पड़ी हैं।

कवि महेन्द्र भटनागर की कविताओं में एक तरफ जनजागरण और क्रांति का स्वर है तो दूसरी ओर अडिग आस्था सुन्दर भविष्य की कल्पना तथा सामाजिक नवनिर्माण की अदम्य आकांक्षा है। कवि सड़ी–गली व्यवस्था एवं पुरातन रूढ़ियों को ध्वस्त कर एक नये स्वस्थ्य समाज का निर्माण करना चाहता है –

सब जर्जर – जर्जर ध्वस्त करो!
चिर जीर्ण पुरातन ध्वस्त करो!

* *

मिट्टी संसृति में नूतन बल
प्राणों का जीवित वेग भरो![2]

गजानन माधव 'मुक्तिबोध' मार्क्सवादी परम्परा तथा आस्था के कवि है। पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति आक्रोश उनकी कविताओं में है। जनवादी विचारों एवं संवेदनाओं से युक्त उनकी अनेक कवितायें प्रगतिवादी काव्यधारा के अन्तर्गत अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

---

1 – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – हिल्लोल, पृष्ठ 81
2 – महेन्द्र भटनागर – टूटती श्रंखलायें, पृष्ठ 3

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि प्रगतिवादी कवियों ने अपने युग और जीवन को बड़ी ही गहनता से समझ–बूझकर तथा उसे बिना किसी लाग लपेट के प्रकट कर जनता एवं समज में नयी चेतना फैलाने की कोशिश की है। प्रगतिवादी काव्यधारा जिन 'ऐतिहासिक आवश्यकताओं को लेकर जन्मी उसे उसने बखूबी वाणी प्रदान की । यह दूसरी बात है कि वस्तुस्थिति के चित्रण में पड़कर वह शिल्पगत सहजता से दूर होती गयी तथा उसमें कलागत सौष्ठव का अभाव होता गया। लेकिन प्रगतिवाद की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने काव्य और जीवन को एक साथ किया, सामाजिक यथार्थ को उद्‌घाटित किया, प्रणय एवं श्रंगार स्वरूपों को प्रकट किया, उपेक्षित तथा पीड़ित जनसाधारण को कविता में स्थान दिया, पूंजीवादी – सामंतवादी – साम्राज्यवादी व्यवस्था के खोखले रूपों का विरोध किया, समाज–विरोधी व्यक्तिवादी जीवन दृष्टि की उपेक्षा की, नगर तथा ग्राम–जीवन के यथार्थ चित्रों को बड़े सजीव रूप में उद्‌घाटित किया, साथ ही कलावादी अथवा रूपवादी विचारधारा के स्थान पर वस्तुगत एवं यथार्थवादी विचारधारा को प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार इस धारा का योगदान काफी क्रांतिकारी एवं सराहनीय रहा है।

(2) – प्रयोगवाद : काव्यगत नव – प्रयोगों की ओर उन्मुखता

प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद छायावादोत्तर काल की दो महत्वपूर्ण काव्यधारायें है। प्रगतिवादी विचारधारा ने काव्य के अलावा साहित्य की अन्य विधाओं को भी काफी प्रभावित किया है। प्रगतिवादी काव्यधारा अभी अपने चरमोत्कर्ष को भी नहीं प्राप्त कर पाई थी। कि सन् 1943 में 'तारसप्तक' का प्रकाशन हुआ। इस काव्य संग्रह के प्रकाशन के साथ ही काव्य में एक नई प्रवृत्ति का जन्म हुआ, जिसे कालान्तर में 'प्रयोगवाद' नाम दिया गया। वस्तुतः इस धारा की नींव द्वितीय विश्व महायुद्ध तथा उसके बाद की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर खड़ी है यद्यपि प्रयोगवादी काव्यधारा अनेक पाश्चात्य विचारधाराओं (अस्तित्ववाद, अतियथार्थवाद, मनोविश्लेषणवाद आदि से) काफी हद तक प्रभावित है। लेकिन यह पूरी तरह पाश्चात्य प्रभाव से निकली नवीन उपज नहीं अपितु देश की समाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक स्थितियों परिस्थितियों से अंकुरित हुई है। देश की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियां काफी जटिल हो गईं थीं तथा कवि को सोचने के लिए मजबूर कर रही थीं। एक कवि वर्ग ऐसा था जो देश की विषमता पूर्ण स्थिति से बाहर निकलने की भरसक कोशिश कर रहा था तो एक वर्ग ऐसा भी था जो परिस्थिति जन्य विषमता, पीड़ा, अवसाद, पराजय और निराशा की अभिव्यक्ति में लिप्त था। इस प्रकार कवि वर्ग की स्थिति भी काफी उलझ सी गई थी। तथा वह अपने को समाज से कटा नितांत असहाय महसूस

करने लगा था और परिस्थितियों के बीच ही 'संतोषप्रद परिवृत्त' ढूढ़ने की कोशिश करने लगा था। ऐसे ही कवियों में से कुछ ने प्रयोगवादी काव्यधारा का प्रणयन किया।

इस नयी राह पर चलने वाले कवियों (प्रयोगवादियों) ने छायावादी कविता की काल्पनिकता तथा रहस्यात्मक अभिव्यंजना प्रणाली की आलोचना की तथा नवीन प्रयोगों पर विशेष जोर दिया । प्रारम्भ में इस धारा के कवियों ने वस्तु की अपेक्षा शैली शिल्प की ओर विशेष ध्यान दिया तथा भाषा प्रयोग, छंद एवं अलंकार प्रयोग, प्रतीक एवं उपमान प्रयोग आदि सभी क्षेत्रों में नये – नये प्रयोगों की सृष्टि की ओर और अपने प्रयोगवादी प्रवृत्ति का स्पष्ट परिचय दिया। 'प्रयोगवाद' का जन्म प्रगतिवाद की कतिपय प्रवृत्तियों के विरोध स्वरूप भी हुआ है। वस्तुतः प्रयोगवादियों की पूर्ण समाज प्रधानता की प्रवृत्ति प्रयोगवादियों को स्वीकार्य नहीं क्योंकि इससे व्यक्ति की अस्मिता या महत्व समाप्त हो जाता है। प्रयोगवादी अपने कला के केन्द्र में समाप्त नहीं अपितु व्यक्ति को रखना ज्यादा उचित समझता है। इस प्रकार वह व्यक्ति की महत्ता को रखना ज्यादा उचित समझता है। इस प्रकार वह व्यक्ति की महत्ता को विशेष स्थान देता है और एक बात वस्तु एवं शिल्प के बारे में – प्रयोगवादी कवियों ने वस्तु – पक्ष की ओर अपना विशेष लगाव दिखाया तथा शिल्प पक्ष की दृष्टि से काफी उदासीनता बरती। जबकि प्रयोगवादियों ने वस्तु की अपेक्षा शिल्पगत नव–प्रयोगों पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की है। डा0 शिवकुमार मिश्रा ने प्रयोगवादियों की इस प्रमुख प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए लिखा है कि "प्रयोगवादी कवि ने वस्तु–तत्व की अपेक्षा शैली और शिल्प के नवीन प्रयोगों पर ही सारी शक्ति केन्द्रित कर देने का समर्थन व आग्रह किया है। उसने तर्क दिया कि सूक्ष्म कल्पना, नये रूपकों तथा प्रतीकों का प्रयोग काव्य के मूल स्वरूप को विकृत करने के स्थान पर इसमें चमत्कार तथा सौन्दर्य की सृष्टि करता है।"[1] कालान्तर में प्रयोगवादियों की इस प्रवृत्ति (शिल्प के प्रति विशेष आग्रह) की आलोचना भी हुई और प्रयोगवादियों की दृष्टि शिल्प एवं शैली के साथ – ही – साथ वस्तु (विषय) की सजीवता की ओर भी घूमी। लेकिन शैली – शिल्पगत नूतन – प्रयोगों की दृष्टि से प्रयोगवादी काव्य धारा की महत्ता विशेष प्रभावित होती है।

यह कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद के प्रवर्तन के प्रमुख कारण थे – पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रभाव, देश की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक परिस्थितयां, प्रगतिवादी काव्यधारा की शिल्पगत उपेक्षा तथा रूखापान, छायावादियों की अतिकाल्पनिकता तथा रहस्यमयता आदि।

प्रयोगवाद के प्रवर्तक कवि के नाम को लेकर काफी विवाद है। प्रयोगवाद के ही साथ काव्य में प्रयोगों की भी काफी चर्चा हुयी और आलोचकों ने इस पर भी विचार किया कि प्रयोगों का प्रारम्भ सर्वप्रथम किस कवि से माना जाय। वैसे प्रयोग तो सभी में हुये हैं लेकिन नूतन के प्रयोगों

---

[1] – शिवकुमार मिश्र –नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 209

के प्रश्न पर विद्वानों में मैतव्य नहीं हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार प्रयोगों का प्रारम्भ 'प्रसाद' से होता है।[1] तो कुछ के अनुसार पंत[2] अथवा निराला[3] से। यहीं कुछ लोग इसका प्रारम्भ नलिन विलोचन शर्मा से मानते हैं।[4] लेकिन एक बात तो पूर्णतया स्पष्ट है कि 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ उभर कर सामने आया। वस्तुतः काव्यगत नूतन प्रयोग 'तारसप्तक' के प्रकाशन के पूर्व के कवियोंने भी लिखा है लेकिन उसको आन्दोलन का रूप कभी नहीं दिया गया था। लेकिन ताारसप्तक (1943) के प्रकाशन के साथ ही काव्य क्षेत्र में विशिष्ट एवं नूतन–प्रयोगों का एक आन्दोलन ही चल पड़ा और यह कहना कतई अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि नूतन प्रयोगों के पुरस्कर्ता और कोई नहीं अपितु 'अज्ञेय' ही हैं, जिन्होने समूचे हिन्दी काव्य को एक नयी दिशा दी।

सन् 1943 में 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही काव्यक्षेत्र में काव्य – प्रयोगों की विस्तृत चर्चा हुई और बाद में नूतन काव्य प्रयोगों वाली कविताओं को 'प्रयोगवाद' नाम से अभिहित किया गया। तारसप्तक के कवि – वक्तव्यों में मुक्तिबोध, माथुर एवं माचवे आदि कवियों ने भी काव्यगत नव प्रयोगों की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया तथा उसे एक आन्दोलन का रूप प्रदान किया। 'अज्ञेय' ने तो भूमिका में ही लिख दिया कि कवियों के चुनाव में "दूसरा मूल सिद्धान्त यह था कि संग्रहीत कवि सभी ऐसे होगे, जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं – जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।"[5] इस प्रकार 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही 'प्रयोगवाद' नाम की चर्चा चल पड़ी। अज्ञेय के ही सम्पादकत्व में निकली 'प्रतीक' (1947) नामक पत्रिका ने इस नयी प्रयोगवादी काव्य प्रवृत्ति को और अधिक ठोस रूप प्रदान किया। 'दूसरा सप्तक' (1951) के प्रकाशन ने तो उसे सर्वोच्चता के शिखर पर पहुँचा दिया। 'तारसप्तक' के कवियों के ही समान इस संग्रह के कवियों ने भी अपने वक्तव्यों में शैली – शिल्प के नवीन एवं विशिष्ट प्रयोगों की आवश्यकता की चर्चा की है। 'अज्ञेय' ने संग्रह की भूमिका में प्रयोग संबंधी भ्रान्तियों का खण्डन किया। तथा काव्यगत नये सत्यों की खोज हेतु प्रयोगों की आवश्यकता पर बल दिया। कहा जा सकता है कि 'तारसप्तक' ने प्रयोगवाद की नींव रखी तक 'प्रतीक' पत्रिका तथा 'दूसरा सप्तक' ने उसे ठोस रूप प्रदान किया। यह बात दूसरी है कि इन संग्रहों की सभी कवितायें अथवा कवि प्रयोगवादी नहीं है फिर भी इन कवियों तथा उनकी रचनाओं में जो शिल्पगत नव–प्रयोग मिलता है, वह अपना विशिष्ट महत्व रखता है। कहना न होगा कि इस धारा की यही शैली – शिल्पगत नव–प्रयोगों की ओर उन्मुखता – इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता भी बन गयी है।

---

[1] – सुमित्रानन्दन पंत – इण्डिया रेडियों परिसंवाद, 1952 (नया हिन्दी काव्य पृष्ठ 203 से उद्द्यत)
[2] – बालकृष्ण राव – 'नयी कविता', कल्पना, जून, 1956
[3] – गिरिजा कुमार माथुर – 'काव्य में प्रयोगशीलता , आलोचना, जनवरी, 1952
[4] – केसरी कुमार – प्रपद्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि, अवंतिका, जनवरी, 1954
[5] – अज्ञेय – तारसप्तक, भूमिका, पृष्ठ 10 – 11

एक बात और! इस नये काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति – नूतन एवं विशिष्ट प्रयोगों की आवश्यकता के प्रति विशेष के रूझान – के आधार पर आलोचकों ने इस 'प्रयोगवाद' की संज्ञा दी। इस नामकरण का प्रयोगवादी कवियों ने पहले काफी प्रयोग विरोध किया। 'अज्ञेय' ने अपनी भूमिकाओं तथा वक्तव्यों में प्रयोगों की आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी प्रयोग के किसी वाद से अपना अथवा अन्य कवियों का सम्बन्ध जोड़ने की प्रवृत्ति का व्यापक विरोध किया तथा कहा कि "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, न ही है। न प्रयोग आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है ; कविता भी अपने आप इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना।[1] कवि अज्ञेय ने स्वीकार किया है कि प्रयोग तो हमेशा हर काल में हुए हैं। तो क्या प्रयोगवादी कवियों के प्रयोगों तथा पहले के युग के काव्य प्रयोगों में कुछ भिन्नता है ? यदि हाँ तो वह कैसी व किस रूप में ? इस संदर्भ में शमशेर की यह युक्ति काफी सार्थक जान पड़ती है – "मैं अगर दो शब्दों का प्रयोग करूं तो ज्यादा अच्छा होगा – प्रयोग और 'प्रयोग'। प्रयोग – जैसा कि अज्ञेय जी ने स्पष्ट किया है, निरन्तर होते आये हैं। 'प्रयोग' के अन्तर्गत मेरा निवेदन है कि वह रूझान है जो उपरोक्त दो कविता – संग्रहों (तारसप्तक, दूसरा सप्तक) में और आमतौर से 'प्रतीक' की कविताओं में पाया जायेगा और वह हिन्दी में नयी आज की चीज है। इस प्रकार ये कवि प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद के बीच में आते है।इसी विशेषता को लक्ष्य देकर डा0 शिवकुमार मिश्र ने इन कवियों को 'मध्यवर्ती काव्य धारा 'में स्थान दिया है।[2] तात्पर्य यह कि यह न तो प्रयोगवाद की ही प्रतिक्रिया है और न ही प्रगतिवाद की बल्कि यह दोनो काव्य धाराओं का सहज एवं स्वाभाविक विकास है।इस बात को 'नयी कविता ' की रचनायें प्रमाणित भी करती है।

'तारसप्तक ' के कुछ तथा दूसरे एवं तीसरे सप्तकों के प्रायः सभी कवि तथा उनकी रचनायें इस काव्य धारा के अर्न्तगत आती है।इन रचनाओं में अन्य काव्य धाराओं की प्रगतिशील मान्यताओं एवं प्रवत्तियों को एक साथ रखकर उद्घाटित किया गया है।और यदि वह धरातल है जहाँ इन कवियों की रचनायें प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद दोंनों से भिन्न खड़ी दिखयी देती है।इन कवियो ने न तो किसी एकतावद्ध आन्दोलन का ही सूत्रपात किया है और किसी धारा विशेष से सम्बद्ध ही रहे ।लेकिन उनकी कविता की मूल प्रवत्ति –प्रगति और प्रयोगवादी काव्य परम्परा के तत्वों एवं प्रवत्तियों का मिला जुला प्रयोग ही उनको एक धरातल पर ला खड़ा करता है। और इसी प्रकार वे एक ही काव्यधारा के कवियों की श्रेणी में खड़े हो जाते है।

---

1 – अज्ञेय – दूसरा सप्तक, भूमिका, पृष्ठ 6

2 - शिव कुमार मिश्र– नया हिन्दी काव्य , पृष्ठ 260

नयी कविता की मूल प्रवत्ति है –व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द ।यह द्वन्द करी प्रवत्ति ही इन कवियों प्रगति एवं प्रयोग के बीच.में रखती है इन कवियों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या है –

कौन सा पथ है ?
मार्ग में आकुलन – अधीरातुर बटोही यो पुकारा
कौन सा पथ है ?[1]

अर्थाथ 'पथ ग्रहण की समस्या 'है ।और इसी समस्या के बीच कवि हृदय अन्र्तद्वन्द में पड़ता है।वह कभी व्यक्ति की ओर घूमता हैतो कभी समष्टि की ओर ।इस प्रकार के द्वन्द से भरपूर कवितायें काफी मार्मिक है तथा कवि के मानसिक अस्थिरता को उद्घाटित करने में सफल भी रहीं है।कवि –मस्तिष्क में चलने वाले व्यष्टि और समष्टि के अन्र्तद्वन्द के कारणों पर विचार करते हुए डॉ0 शिवकुमार मिश्र ने लिखा है–''जहाँएक ओर इन कवियों के संस्कार ,अपनी परिवृत्ति के प्रति उनका असन्तोष ,उसे कर सकने में असफल होने के कारण उत्पन्न विक्षोभ तथा अन्ततः उसी के अनुरूप आत्मस्थ होने की अनिच्छित आकाँक्षा उन्हे व्यष्टिवादी –व्यक्तिवादी बनने को विवश करती है, तो दूसरी ओर युग के नयेंप्रभाव , जन –आन्दोलन का प्रसार और क्षमता ,सामाजिकता का बढ़ता हुआ युगीन आग्रह और उसके फलस्वरूप अपने सामाजिक दायित्वों की अनुभूति , पूँजीवादी समाज का वैषम्य ,शोषण, चारों ओर व्याप्त भ्रष्टाचार , अनाचार, युद्ध– संकट आदि इन्हे समष्टि की ओर खीचते है।' [2]और इन कारणें से जो मानसिक अन्र्तद्वन्द उत्पन्न होता है उसे प्रायः सभी कवियों की कविताओं में थोड़े – बहुत मात्रा में देखा जा सकता है।'मुक्तिबोध ' की कवितायें तो मानसिक अन्र्तद्वन्दों के बीच ही निर्मित हुई है।

यह चीज यूरोप में 19 वीं. शताब्दी के अन्त में पैदा हुई, उर्दू में भी यह चीज आयी थी, मगर मजाज, साहिर, सरदार, मखदूम, कैफी और जोश की कविताओं ने उसे बिल्कुल दबा दिया। बस रूझान में 'सिम्बोलिज्म' और 'फार्मेलिज्म' (प्रतीकवाद और रूपप्रकार वाद) के नाना रूप और छायायें हैं। यूरोप ये आन्दोलन लगभग अपना काम पूरा कर चुके, हिन्दी में इनका युग आना बाकी था, सो आया।''[3] इस प्रकार प्रयोगवादियों के काव्य – प्रयोगों तथा पूर्व युग के काव्य प्रयोगों के बीच काफी अन्तर है।

वस्तुतः प्रयोगवादियों के काव्यगत प्रयोग के पीछे एक उद्देश्य था जबकि अन्य काव्यधाराओं के काव्य प्रयोग सीमा एवं मर्यादा के बीच होते रहे तथा उनमें किसी निश्चित उद्देश्य का भाव नहीं रहता था। बालकृष्ण राव ने पिछले काव्य प्रयोगों की चर्चा करते हुए लिखा है कि ''पिछले सभी प्रयोग चाहे वे विषय वस्तु को लेकर लिखे गये हों, या अभिव्यंजना के साधन को,

---

1 – भारत भूषण अग्रवाल–तारसप्तक , पृष्ठ 106
2 - शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य ,पृष्ठ 266–67
3 – शमशेर बहादुर सिंह – कला और साहित्य में प्रयोगवाद , आलोचना – जनवरी, 1952

किसी न किसी विशिष्ट दिशा की ओर और किसी – न – किसी सीमा रेखा द्वारा मर्यादित क्षेत्र के भीतर ही होते रहे, फलतः वे प्रयोगशील अथवा प्रयोगवादी प्रयत्न न कहे गयें।[1] यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह नाम प्रतिक्रियावश नहीं दिया गया है अपितु कवियों एवं कविताओं की काव्यगत प्रमुख प्रवृत्ति – प्रयोगों के प्रति विशेष रूझान – को ध्यान में रखकर दिया गया है।

प्रयोगवादी काव्यधारा की प्रवृत्तियां प्रायः सभी प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं में समान रूप से दिखायी देती है वाह्य एवं आन्तरिक जगत् की विषमता का चित्रण तथा उसमें सन्तुलन का भाव, युग के प्रति आस्था एवं अनास्था का भाव, व्यक्तिवाद और अंहवाद की प्रधानता, व्यक्ति – महत्ता एवं स्वतन्त्रता की स्थापना के साथ ही समष्टि में विलीन होने का भाव, निराशा कुण्ठा, घुटन, पीड़ा एवं दर्द का व्यापक प्रदर्शन, स्व की लघुता और निरीहता का चित्रण, यौन – वर्जनाओं के प्रति असंतोष, प्रेम एवं रस – रोमांस का नवरूपों में चित्रण एवं अभिव्यक्ति, सौन्दर्यानुभूति को बिना किसी लाग – लपेट के चित्रित करना, काव्य की क्लिष्टता आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जो कवियों एवं उनकी कविताओं में देखने को मिलती है। प्रयोगवाद का जन्म देश की परिस्थितियों एवं घटनाओं के प्रभावस्वरूप हुआ। कहना न होगा कि प्रयोगवादी कवि देश की विषमता से काफी पीड़ित थे। युग–जीवन की विषमताओं एवं कटुताओं से पीड़ित कवि उसका मुकाबला करने में असमर्थ होने के कारण नितान्त असहाय एवं एकांगी होते गये। फलतः उनमें व्यक्तिवाद की भावना पैदा हुयी और उसकी चरम परिणति अंहवाद के रूप में व्यक्त हुयी। लेकिन कवि 'स्थिर समर्पण भी करता है इस आशा के साथ कि आगे चलकर –

फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।[2]

और वह अपने अस्तित्व को नये रूपों में प्रमाणित करने में सफल होगा। भारती, सर्वेश्वर, लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि नये प्रयोगवादी कवियों ने भी अपनी कविताओं में इस व्यक्तिवाद–अंहवाद का प्रतिपादन किया है। प्रयोगवादी कवियों को अपने अंह पर पूर्ण विश्वास और वह अंह के सहारे ही आगे बढ़नें में पूर्ण विश्वास रखते हैं। तात्पर्य यह कि प्रयोगवादी कवि अपने व्यक्तिवादी – अंहवादी भावना के चित्रण के साथ अपना विश्वास नहीं खोता। वह व्यक्ति – स्वतन्त्रता या व्यक्ति – महत्ता की स्थापना करता है, साथ ही वह अपने को समष्टि को समर्पित करने का भाव भी रखता है।[3] इस प्रकार प्रयोगवादियों की व्यक्तिवादी भावना छायावादियों के समान युग – जीवन एवं परिवेश से कटी नहीं अपितु व्यापक जीवन परिवेश से जुड़ी है तथा वह युग जीवन के सत्य को स्पर्श करती

---

[1] – बालकृष्ण राव – 'नयी कविता' कल्पना, जून 1956
[2] – अज्ञेय – हरी घास पर छण भर, पृष्ठ 66
[3] – अज्ञेय – बावरा अहेरी, पृष्ठ 61

है। यद्यपि युग की विषमताओं एवं विडम्बनाओं ने कवि को विवश भी बनाया है, उसमें ग्लानि एवं अनास्था का भाव भी पैदा किया है लेकिन प्रयोगवादी कवियों ने युग की विषमताओं के प्रमुख कारक – वाह्रय जगत एवं अंतर्जगत के असंतुलन – को समझा एवं परखा है। यही कारण है कि यज्ञेय जैसे प्रयोगवादी कवियों ने वाह्रय जगत एवं अंतर्जगत में संतुलन की स्थापना की बात की। 'असाध्यवीणा' सन्तुलन – स्थापना की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कविता है।

'तारसप्तक' तथा अन्य प्रयोगवादी कवियों में मध्य अथवा निम्न वर्ग के प्रति आत्ममीयता का भाव है तथा (पूंजीवादियों) के खिलाफ बगावत की आकांक्षा। इस प्रकार युग के प्रति अपनी आस्था को हमेशा बरकरार रखा है। यह बात दूसरी है कि जिन परिस्थितियों के प्रेरणा स्वरूप कवि व्यक्तिवादी बना, उसी के चलते वह अनास्थावादी भी हुआ है। तथा उसने समाज सहित्य एवं जीवन के परम्परागत मूल्यों का तिरस्कार किया है, वर्तमान सभ्यता एवं संस्कृति को सड़ी गली बताकर नये मूल्यों की स्थापना की इच्छा जाहिर की है। लेकिन एक बात का ध्यान रख़ना चाहिए कि प्रयोगवादियों ने किसी व्यापक अथवा ठोस दिशा का निर्देश नहीं किया, समाधान नहीं प्रस्तुत किया अपितु अनास्था के गीत गाकर ही संतोष कर लिया। इस अनास्थावादिता ने कवि को शंकालु बना दिया फलतः उसे सभी मार्ग अवरूद्ध दिखाई देने लगे –

लगता है सारा अस्तित्व किसी झूठ पर
टिका हुआ, जाता है आप ही बिखर – बिखर।[1]

वर्तमान जीवन मूल्यों के प्रति अनास्था का भाव प्रायः सभी प्रयोगवादी कवियों में देखने को मिलता है। निराशा, कुण्ठा, घुटन, पीड़ा एवं दर्द का व्यापक प्रदर्शन तथा स्व की लघुता तथा निरीहता के उद्‌घाटन में भी ये कवि आगे रहे हैं और इन सबका कारण कवि की जीवन एवं समाजगत संघर्षों की असफलता है। इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति भी काफी सजीव रूप में हुई है –

ऐसा लगता आज कि मेरा सारा जीवन नष्ट,
ऐसा लगता आज कि मेरी सभी साधना भ्रष्ट,
मैने हरदम घोटा, अपने सपनों का दम,[2]

पलयानवादी तथा क्षणवादी मनोवृत्ति की प्रधानता के पीछे कवि की व्यक्तिवादी – अंहवादी भावना ही विशेष रूप से क्रियाशील रही है। परिस्थितियों से एकाकी संघर्ष के बीच कवि असफल होकर एक ओर अवसाद – ग्रसित एवं क्षुब्ध होता है तो दूसरी ओर यथार्थ भीरू तथा वस्तु जगत के प्रति उदासीन भी हो जाता है। परिणामतः पलायनवादी भावना का जन्म होता है। अज्ञेय तथा भारती आदि की कविताओं में इस प्रवृत्ति की झलक मिलती है –

---

[1] – जगदीश गुप्त – नाव के पांव, पृष्ठ 78
[2] – धर्मवीर भारती – ठंडा लोहा, पृष्ठ 61

नहीं, मुझको नहीं अपने दर्द का अभिमान,

मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद[1]

प्रयोगवादियों की क्षणवादी भावना के पीछे सार्त्र, डी. एच. लारेन्स तथा प्रतीकवादियों का प्रभाव है। क्षणवादी विचारधारा के अनुसार जीवन का एक क्षण, जो मनुष्य को सुख व तृप्ति प्रदान करता है, शेष सारे जीवन से कहीं अधिक महत्व रखता है। वह अपने – आप में इतना अधिक पूर्ण एवं समग्र होता है कि उसे भोग लेने के बाद भविष्य में और अधिक आवश्यकता या आशा रखना उचित नहीं है। और इसी भावना ने प्रयोगवादियों को भोगवादी प्रवृत्ति की ओर उन्मुख किया। ''द्वीप हैं हम, यह नहीं है शाप, यह अपनी नियति है'' तथा ''दास मैं भी हूँ नियति का, क्या भला विश्वास मेरा'' आदि के माध्यम से कवियों ने अपनी नियतिवादी प्रवृत्ति को भी उद्‌घाटित किया है। अपनी लघुता एवं इनके प्रकाशन में भी कवियों का पराजित एवं पद–दलित 'अंह' ही साकार हुआ है। अज्ञेय ''मै ही हूँ पद क्रांत रिरियाता कुत्ता'' के माध्यम से तथा भारती ने ठंडा लोहा और जगदीश गुप्त 'नांव के पांव' आदि में अपनी लघुता एवं निरीहता तथा पापों एवं अपराधों की स्वीकृति रूपों में की है।

यह सत्य है कि प्रयोगवादी कविताओं का वस्तुपक्ष कमजोर है लेकिन शैली एवं शिल्प – पक्ष की सजीवता ने प्रयोगवादियों की इन कविताओं में नयी जान डालकर उसे सजीवता प्रदान कर दी है, और यही उसका वास्तविक प्रदेय भी बन गया है। एक बात और, प्रगतिवादियों ने समाज और जीवन के वाह्रय – यथार्थ को ही उद्‌घाटित कर अपने कर्तव्य की इति मान लिया था, जबकि प्रयोगवादियों ने वाह्रययथार्थ के ही साथ आन्तरिक यथार्थ के उद्‌घाटन पर भी बल दिया तथा दोनों के बीच संतुलन स्थापित करने की कोशिश की है। अंतर्जगत के उद्‌घाटन में कवियों ने काफी ईमानदारी बरती है।

प्रयोगवादियों का सौन्दर्यबोध नवीनता लिए हुए समाज–सापेक्ष धरातल पर खडा है। वह सामान्य – से – सामान्य चीजों में भी सौन्दर्य की छाया देखता है। यौनवर्जना के प्रति कवियों ने अपना असंतोष जाहिर किया है। अज्ञेय की 'सावन मेघ' तथा 'शिशिर की राका निशा' आदि कविताओं में यौन–कुण्ठाओं की खुली एवं यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। फ्रायड तथा अस्तित्ववादियों से प्रभावित इन कवियों की कविताओं में जिस यथार्थ का अंकन किया गया है, वह कहीं – कहीं अति की सीमा को पार कर गया है तथा नग्न यथार्थ की कोटि तक पहुँच गया है। लेकिन अपने सौन्दर्यानुभूति को कवियों ने बिना किसी लाग–लपेट के उद्‌घाटित किया है। राम विलास की चाँदनी, माचवे की 'वसंतागम' तथा भारत भूषण के 'फूटा प्रभात' में इस स्वततंत्रता एवं स्वच्छन्दता को देखा जा सकता है।

[1] – अज्ञेय – हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ 17

प्रयोगवादियों की बौद्धिकता के प्रति विशेष आग्रह, फ्रायडीय मनोविज्ञान के फ्री एसेशियेशन की प्रक्रिया, स्वप्न प्रतीक, संकेतमयी भाषा, नवीन शब्दों, मुहावरों एवं उपमानों के विशेष प्रयोग की ललक, शब्दों को नवअर्थों से सज्जित करने की आकांक्षा आदि के चलते ही प्रयोगवादी कविताओं में दुरूहता एवं क्लिष्टता बढ़ती गयी। तात्पर्य यह कि एक ओर बौद्धिकता के प्रति विशेष आग्रह ने दुरूहता को जन्म दिया तो दूसरी ओर शिल्पगत प्रयोगों की अधिकता ने भी उसे क्लिष्ट बनाया, और अतिशय प्रयोगों के चक्कर में वह सामान्य समझ से बाहर होती गयी। वैसे इस धारा की सबसे बड़ी देन विशेषकर शिल्प–शैली के क्षेत्र में ही रही है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि प्रयोगवादी कवियों ने काव्य को एक नयी राह पकड़ायी है। अन्य काव्यधाराओं की अपेक्षा इस काव्य में समाज एवं जीवन का व्यापक परिवेश उद्घाटित हुआ है। शिल्पगत प्रयोगों की दृष्टि से तो अपने पूर्ववर्ती काव्यधाराओं को यह काफी पीछे छोड़ देता है। यद्यपि इस धारा के कवि जीवन एवं समाज के संघर्षों से टूटकर व्यक्तिवादी अंहवादी फलतः धीरे – धीरे कुण्ठित, अवसाद ग्रसित, पलायनवादी नियतिवादी एवं क्षणवादी होते गये हैं। लेकिन इन कवियों में भी जीवन के प्रति अनुरक्ति है, युग के प्रति आस्था का भाव है, सौन्दर्यबोध की नवीन चेतना है, और इस प्रकार यह काव्यधारा अपने पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से काफी सशक्त एवं महत्वपूर्ण भी है।

प्रयोगवादी काव्यधारा के प्रमुख कवि 'अज्ञेय' का प्रयोगवादी रूप सन् 1936 के बाद की रचनाओं 'चिन्ता' (1942), 'तारसप्तक' की कविताएं (1943), 'इत्यलम' (1946), 'हरी घास पर क्षण भर' (1949), 'बावरा अहेरी (1954), 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए थे' (1957), 'अरी ओ करूणा प्रभामय' (1959), – में ही देखने को मिलता है। ये सभी रचनायें कवि के काव्य – व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षो को उद्धाटित करती है। 'चिन्ता' तथा 'इज्यलम' की कविताओं में कवि का व्यक्तित्व जहां क्रांति एवं विद्रोह के स्वर से युक्त सामने आता है –

तुम सत्ताधारी, मानवता के शव पर आसीन
जीवन के चिर–रिपु, विकास के प्रतिद्वन्द्वी प्राचीन
तुम श्मशान के देव ! सुनो यह रणभेरी की तान –
आज तुम्हे ललकार रहा हूँ, सुनो घ्रणा का गान।[1]

वही निराण प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति भी सामने आती है। एक ओर सामाजिक परिवेश की विडम्बनाओं से पीड़ित कवि क्षुब्ध होता है, यौन – भावनाओं को स्पष्ट अभिव्यक्ति देता है तो दूसरी अपनी दीनता और लघुता का प्रकाशन भी करता है –

---

[1] – अज्ञेय – इत्यलम, पृष्ठ 53

"मैं ही हूँ वह पदक्रांत रिरियाता कुत्ता"[1]

दृष्टिकोण की व्यापकता, बौद्धिकता के प्रति विशेष आग्रह, अभिव्यंजना के नये साधनों तथा काव्यगत नव–प्रयोगों की दृष्टि से 'हरी घास पर क्षण भर' तथा 'बावरा अहेरी' उल्लेखनीय हैं। यहाँ कवि अपने व्यक्तित्व को, अपने अंह को व्यापक सामाजिकता में लीन करने का भाव रखता है –

यह दीप अकेला स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो"..... ।[2]

बाद की रचनाओं में एक प्रकार की संयमशीलता एवं शिल्प का अनूठापन मिलता है। वस्तुतः अज्ञेय शैली – शिल्प की दृष्टि से सर्व समर्थ कवि हैं। इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में भाषा प्रयोग एवं वाक्य विन्यास संस्कृत गर्भित एवं जटिल है लेकिन बाद की रचनाओं का भाषा प्रयोग सहज, सरल, लोक जीवन के करीब एवं भावाभिव्यक्ति के अनुकूल है। 'कलगी बाजरे की' जैसी कविताओं को बतौर उदाहरण देखा जा सकता है। वस्तुतः प्रतीक प्रयोगों की विविधता, छन्दगत नवीन प्रयोग, देशज शब्दों का चयन अप्रस्तुत – विधान आदि कवि की शिल्पगत उपलब्धियां हैं। जिसके माध्यम से कवि ने छायावादोत्तर प्रयोगवादी काव्यधारा को एक नूतन दिशा दी है।

प्रयोगवादी काव्यधारा को विकास की राह पर आगे बढ़ाने में अज्ञेय के ही समान ठंडा लोहा (1952), 'सात शीत वर्ष' (1959), 'कनुप्रिया' (1959), और अन्धायुग (1954) के रचनाकार धर्मवीर भारती का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। स्थूल, मांसल एवं वासना युक्त प्रेम, युग परिवेश के प्रति घुटन एवं निराशा तथा उससे उत्पन्न पीड़ा ही कवि की प्रमुख काव्य प्रवृत्ति रही है। लेकिन भारती की कविता का यह केवल एक पक्ष है। दूसरा पक्ष वह है जिसमें एक प्रकार की कसमसाहट है , और यह कसमसाहट है। परिवेश की विषमताओं तथा अपनी असफलताओं की। यहाँ ईमानदारी एवं निष्ठा से युक्त कवि का सच्चा सामाजिक स्वर उभरता है –

भूख लाचारी, गरीबी ही मगर
आदमी के सृजन की ताकत
इन सबों की शक्ति के ऊपर
और कविता सृजन की आवाज है
फिर उभर कर कहेगी कविता
क्या हुआ अगर दुनिया मरघट बनी
अभी मेरी आखरी आवाज आकी है

---

[1] – अज्ञेय– इत्यलम, पृष्ठ 165
[2] – अज्ञेय – बावरा अहेरी, पृष्ठ 61

लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ।[1]

'सात गीत वर्ष में' में व्यक्त कवि के विचार पूर्णतया नवीन एवं यथार्थ पर अवलम्बित हैं –

हम सब के दामन पर दाग
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूठ।[2]

'तीसरा सप्तक' के कवि, 'काठ की घंटियां', 'बांस का पुल' और 'एक सूनी नांव' के रचनाकार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना 'विषमताओं, आभावों एवं लाचारियों के कवि हैं। कवि की संवेदना बड़ी तीब्र एवं यथार्थ – बोध से समन्वित है। व्यंग्य इनका मूल स्वर है। मानव जीवन से कवि का तीव्र लगाव है, वही उसका प्रेरक, वही उसके प्रेम का आधार है। उन्होने युद्ध शान्ति साम्यवाद तथा अन्य समस्याओं पर कविता के माध्यम से विचार तथा समाधान प्रस्तुत किया है। समस्याओं के चित्रण तथा उसके समाधान के प्रस्तुतीकरण में कवि ने राजनीतिक दृष्टि की अपेक्षा मानवीय दृष्टि से विचार किया है। कवि राजनीतिक युद्धों को सारी समस्याओं का जनक मानता है। 'कलाकार और सिपाही', 'पीस पैगोडा' जैसी कविताएं इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। जीवन एवं समाज की कटुताओं, विषम यथार्थताओं, जीवन – संघर्षों तथा अर्थहीन व्यवस्थाओं पर करारी चोट की है। 'चुपाई मारौ दुलहिन' समाज के कटु सत्य पर खुला व्यंग्य है।

प्रयोगवादी कवियों में शिल्प प्रयोग की दृष्टि से सर्वेश्वर का विशेष महत्व है। अपने कवि वक्तव्य में कवि ने शिल्प की अपेक्षा वस्तु पर विशेष ध्यान देने का आग्रह किया है – ''रूप विधान का पूर्ण अनुशासन भंग करने को तैयार हूँ क्योंकि मेरे निकट विषय की तीव्रता और पूर्ण प्रभाव रूप विधान से अधिक महत्वपूर्ण है।''[3] इस प्रकार कवि ने कहीं भी शिल्प के प्रति अतिरिक्त आग्रह तो नहीं दिखाया है लेकिन यह सत्य है कि कवि की कविताओं में एक प्रकार की अभिव्यक्तिगत साफगोई स्पष्ट झलकती है।

अज्ञेय भारती और सर्वेश्वर के अतिरिक्त प्रयोगवादी काव्यधारा को अपने चिन्तन एवं सृजन के माध्यम से समृद्ध करने में लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, विजय देवनारायण साही आदि का भी महत्वपूर्ण स्थान है। 'अतुकांत' के कवि लक्ष्मीकान्त वर्मा जड़ पम्पराओं एवं मान्यताओं के विरोध तथा खुले व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक, जीवन के यथार्थ पक्ष पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हैं। सीधें प्रहार में विश्वास रखने वाले कवि ने अन्य प्रयोगवादियों के समान विषमताओं का चित्रण किया है.

[1] – धर्मवीर भारती – दूसरा सप्त्क, पृष्ठ 188
[2] - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – सात गीत वर्ष, पृष्ठ 21
[3] –सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – तीसरा सप्तक, पृष्ठ 210

प्रहार में विश्वास रखने वाले कवि ने अंन्य प्रयोगवादियों के समान विषमताओं का चित्रण किया है, आस्था और अनास्था के गीत गाये हैं लेकिन उनकी व्यंग्य प्रधान रचनायें ही अधिक प्रभावोत्पादक एवं अर्थवान बन पड़ी हैं। वस्तुतः खुला व्यंग्य उक्ति का अनूठापन उनकी कविता की पहचान है। वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न कवि मानव विवेक की स्वतन्त्रता की आकांक्षा करता है तथा उसके संस्कारगत जड़ता को नष्ट करने का इच्छुक भी है। इसके लिए वह नये – नये प्रयोग भी करता है। वस्तुतः "प्रयोग में लक्ष्मीकान्त की चिर आस्था है। इसलिए एक ओर जहाँ उनकी काव्य शैली सदैव जीवंत रहती है, वहीं दूसरी ओर उनकी कविता का निश्चित स्वरूप नहीं उभर पाता।"[1]

'नाव के पांव', 'शब्द दंश' तथा 'हिम विद्ध' के कवि जगदीश गुप्त के सम्बन्ध में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि, "कवि कर्म को उन्होने पर्याप्त गम्भीरता से ग्रहण किया है तथा काव्य के मर्म तक पहुँचने की वास्तविक आतुरता भी है। प्रयोगवादी काव्य से सम्बन्धित जितनी नई प्रतिभायें हैं, श्री गुप्त का उनमें एक विशिष्ट स्थान है।"[2] व्यवहार जगत समाजवादी विचारधारा के पक्षधर विजय नारायण साही का दार्शनिक दृष्टिकोण 'सार्न' से प्रभावित है।[3] उनमें जीवन के प्रति अदम्य जिजीविषा है, आस्था है लेकिन कविताओं में वेदना, निराशा, अनास्था, पराजय, घुटन एवं रूदन के स्वर ही अधिक मिलते हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ जिस प्रयोगवादी काव्य धारा की नींव पड़ी थी उसे अज्ञेय, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, विजय देवनारायण साही जैसे कवियों ने वस्तु एवं रूपों दोनों धरातलों पर समृद्ध बनाते हुए प्रतिष्ठित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

(3) – नयी कविता : प्रगति–प्रयोग का सहज एवं स्वाभाविक विकास

प्रयोगवाद का प्रारम्भ 'तार सप्तक' से हुआ तथा 'प्रतीक' पत्रिका और 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन ने इसके अस्तित्व को पूर्णतया स्थापित कर दिया। लेकिन इन संग्रहों के अधिकांश कवियों ने प्रयोगवाद की कुछ अतिवादी मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों से अपनी असहमति प्रकट करते हुए एक नये ढंग की रचनाओं का प्रणयन किया जिसे 'नयी कविता नाम से जाना गया। इस धारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके कवियों ने प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद दोनों की प्रवृत्तियों को ग्रहण करने का कार्य किया है तथा उनकी अतिवादी प्रवृत्तियों को छोड़ने का सफल प्रयत्न किया है। इस

[1] – रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी नव लेखन, पृष्ठ 53
[2] – शिव कुमार मिश्र – हिन्दी नवलेखन, पृष्ठ 249
[3] – कमला प्रसाद पाण्डेय – छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ 309

कुमार मिश्र ने इन कवियों को 'मध्यवर्ती काव्यधारा' में स्थान दिया है।[1] तात्पर्य यह कि यह न तो प्रयोगवाद की प्रतिक्रिया है और न ही प्रगतिवाद की। बल्कि यह दोनो काव्यधाराओं का सहज एवं स्वाभाविक विकास है। इस बात को 'नयी कविता' की रचनायें प्रमाणित भी करती है।

'तार सप्तक' के कुछ तथा दूसरे एवं तीसरे सप्तकों के प्रायः सभी कवि तथा उनकी रचनायें इस काव्यधारा के अन्तर्गत आती हैं। इन रचनाओं में अन्य काव्यधाराओं की प्रगतिशील मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों को एक साथ रखकर उद्घाटित किया गया है। और यदि वह धरातल है जहाँ इन कवियों की रचनायें प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद दोनों से भिन्न खड़ी दिखायी देती है। इन कवियों ने न तो किसी एकताबद्ध आन्दोलन का ही सूत्रपात किया है और किसी धारा विशेष से सम्बद्ध ही रहे हैं। लेकिन उनकी कविता की मूल प्रवृत्ति – प्रगति और प्रयोगवादी काव्य परम्परा के तत्वों एवं प्रवृत्तियों का मिला जुला प्रयोग – ही उनको एक धरातल पर ला खड़ा करता है और इसी प्रकार वे एक ही काव्य धारा के कवियों की श्रेणी में खड़े हो जाते हैं।

नयी कविता की मूल प्रवृत्ति है – व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द्व। यह द्वन्द्व की प्रवृत्ति ही इन कवियों को प्रगति एवं प्रयोग के बीच में रखती है। इन कवियों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या है –

कौन – सा पथ है ?
मार्ग में आकुल – अधीरातुर बटोही यों पुकारा
कौन सा पथ है ?[2]

अर्थात 'पथ ग्रहण की समस्या है, और इसी समस्या के बीच कवि हृदय अन्तर्द्वन्द्व में पड़ता है। वह कभी व्यक्ति की ओर घूमता है तो कभी समष्टि की ओर। इस प्रकार के द्वन्द्व से भरपूर कवितायें काफी मार्मिक हैं तथा कवि के मानसिक अस्थिरता को उद्घाटित करने में सफल भी रही हैं। कवि – मस्तिष्क में चलने वाले व्यष्टि और समष्टि के अन्तर्द्वन्द्व के कारणों पर विचार करते हुए डॉ0 शिव कुमार मिश्र ने लिखा है – "जहाँ एक ओर इन कवियों के संस्कार, अपनी परिवृत्ति के प्रति उनका असन्तोष, उसे बदल सकने में असफल होने के कारण उत्पन्न विक्षोभ तथा अन्ततः उसी के अनुरूप आत्मस्थ होने की अनिच्छित आकांक्षा उन्हें व्यष्टिवादी – व्यक्तिवादी बनने को विवश करती है, तो दूसरी ओर युग के नये प्रभाव, जन – आन्दोलन का प्रसार और क्षमता, सामाजिकता का बढ़ता हुआ युगीन आग्रह और उसके फलस्वरूप अपने सामाजिक दायित्वों की अनुभूति, पूंजीवादी समाज का वैषम्य, शोषण, चारों ओर व्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार, युद्ध संकट आदि इन्हें समष्टि की ओर खींचते हैं।[3] और इन कारणों से जो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है। उसे प्रायः सभी

[1] – शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 260
[2] – भारत भूषण अग्रवाल – तार सप्तक, पृष्ठ 106
[3] – शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 266 – 67

कवियों की कविताओं में थोड़े बहुत मात्रा में देखा जा सकता है। 'मुक्तिबोध' की कविताएं मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के ही बीच निर्मित हुई है।

मुक्तिबोध के अलावा नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, हरिनारायण व्यास, नरेश मेंहता आदि ने भी अपने मानस में प्रतिष्ठित इस व्यष्टि एवं समष्टि के द्वन्द्व तथा उससे जन्मी आत्मगत कमजोरियों को अपने कवि वक्तव्यों में ईमानदारी से स्वीकार किया है। व्यक्तिवाद एवं अंहवाद की आलोचना करते हुए द्वन्द्व से छूटने की कवियों ने पूरी कोशिश की है लेकिन उससे सदा के लिए अपना पीछा कभी नहीं छुड़ा पाये हैं। लेकिन इनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि असफल होने पर भी ये कवि धैर्य नहीं खोते, संघर्ष नहीं रोकते अपितु, हार–हार कर भी संघर्ष – पथ पर साहस एवं निष्ठा के साथ आगे बढ़ते हैं। तात्पर्य यह कि व्यष्टि और समष्टि का द्वन्द्व इन कवियों तथा कविताओं की मूल प्रवृत्ति रही है। इसके अतिरिक्त प्रगति एवं प्रयोगवादी काव्यधारा की उन प्रवृत्तियों की चर्चा – जो किसी न – किसी रूप में इस धरा से अपना सम्बन्ध अवश्य रखती हैं – यहाँ आवश्यक न होगा क्योंकि उनका विश्लेषण पहले ही किया जा चुका है। हाँ, कवि – वक्तव्यों एवं उनकी मान्यताओं की चर्चा कर लेना आवश्यक है। क्योंकि वह एक आधार भूमि है जिस पर नई कविता जन्मी एवं विकसित हुई है। नयी कविता के कवियों ने अपने काव्य संग्रहों तथा अन्य पत्र – पत्रिकाओं में अपनी कविताओं के बारे में काव्य – वक्तव्य लिखे हैं तथा अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं को भी उद्‌घाटित किया है। लेकिन कवियों की ये काव्य मान्यतायें अथवा कवि वक्तव्य किसी धारा विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं, अपितु व्यक्तिगत है। वैसे इन वक्तव्यों एवं मान्यताओं से कवि के जीवन दर्शन को जानने एवं समझने में काफी सहूलियत होती है।

वस्तुतः नई कविता का कवि कला और साहित्य दोनो को अभिन्न रूप में स्वीकार करते हुए उसे 'बहुजन हिताय' बनाने की घोषणा करता है।[1] 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का विरोध करते हुए नयी कविता का कवि कहता है –"अपनी कला चेतना को जगाना और उसकी मदद से जीवन की सच्चाई और सौन्दर्य को अपनी कला में सजीव से सजीव रूप देते जाना : इसी को मैं 'साधन' मानता हूँ। और इसी में कलाकार का संघर्ष छिपा हुआ देखता हूँ।[2] तात्पर्य यह कि कला और साहित्य की महत्ता जीवन के साथ जुड़ने में है उससे कटने में नहीं। वही काव्य अथवा साहित्य दीर्घजीवी और उपयोगी हो सकता है जो समाज एवं मानव जीवन को निराशा, कुंठा, कमजोरी आदि हसोन्मुखी चेतनाओं से निकालने में समर्थ हो तथा उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा दे। इस प्रकार कविता मनोरंजन अथवा विलास की वस्तु कदापि नहीं है।[3] इस

---

[1] – गिरिजा कुमार माथुर – काव्य में प्रयोगशीलता, आलोचना, जनवरी, 1952

[2] – शमशेर बहादुर सिंह – दूसरा सप्तक, पृष्ठ 80

[3] – प्रभाकर माचवे – आजकल, सिम्बर, 1956

काव्यधारा के कवि कविता को एक अस्त्र के रूप में स्वीकार करते हैं। तथा उसे (कविता को) शोषक सत्ता से लड़ने में सहायक मानते हैं।[1]

प्रायः सभी सप्तकीय कवियों ने अपने कवि वक्तव्यों में समाजिक यथार्थ पर विश्वास प्रकट किया है। तथा कविता की जड़ों को यथार्थ में होने की आवश्यकता पर बल दिया है क्योंकि इससे कविता अत्यधिक ठोस एवं सजीव होती है।[2] शमशेर बहादुर सिंह ने तो यहां तक कहा कि "कला का संघर्ष समाज के संघर्षों से एकदम कोई अलग चीज नहीं हो सकती' ' ' ' ' ' ।[3] इस प्रकार नई कविता का कवि एकांत वैयक्तिकता की घोर आलोचना करता है। यद्यपि वह जीवन और समाज की विषमताओं एवं वाह्रय परिस्थितियों से पीड़ित होकर व्यक्तिवादी जीवन दर्शन उस पर पूर्णतया हावी नहीं हो पाता। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि कवियों की सामाजिक चेतना काफी प्रखर एवं सुलझी हुई है। वह ऐसी वैक्तिकता पर विश्वास करता है जिसका प्रसार समाज से कट कर न हो। हरिनारायण व्यास ने अपने कवि वक्तव्य में कहा है कि कवि को अपनी वैक्तिकता को इतना विशाल बनाना चाहिए कि उसमें समाज की समस्त आवश्यकतायें समाहित हो सकें तथा उसकी वाणी समाज के उस वर्ग की गीतिका बन सके जो सच्चा समाज है।[4]

परम्परा और काव्य का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। नयी कविता का कवि परम्परा को न तो पूर्णतया अस्वीकार ही करता है ओर न ही स्वीकार। बल्कि युग–जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार, वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसकर परम्परा के स्वस्थ्य एवं प्रगतिशील तत्वों को ही ग्रहण करता है। वह साहित्य या काव्य को राजनीति से सम्बद्ध एवं प्रभावित मानते हुए भी उसे मात्र राजनीतिक प्रचार का माध्यम नहीं स्वीकार करता।

प्रगतिवाद की दृष्टि वस्तु केन्द्रित रही है जबकि प्रयोगवाद की शैली शिल्प केन्द्रित । लेकिन इस धारा का कवि वस्तु और रूप दोनो पर गम्भीरता से विचार करते हुए वस्तु की महत्ता के साथ – ही – साथ शैली और शिल्प प्रयोगों की नवीनता, अर्थवत्ता, तथा आवश्यकता को पूर्णतया आवश्यक मानता है। सप्तकीय कवियों के वक्तव्यों से भी यह बात साफतौर पर जाहिर होती है। वस्तुतः कविता का शिल्प एवं शैली विधान के परिवर्तन के साथ ही वस्तु विधान में भी परिवर्तन आवश्यक समझता है और काव्यगत प्रयोगों को मात्र शैली शिल्प में ही नहीं बल्कि वस्तु में भी देखना चाहता है। इस प्रकार वह वस्तु तत्व एवं रूप तत्व के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है, कविता और पाठक के बीच तादात्म्य स्थापित करने की आवश्यकता पर बल देता है।

---

1 – भारत भूषण अग्रवाल – तारसप्तक, पृष्ठ 87
2 – रघवीर संहाय – दूसरा सप्तक, पृष्ठ 139
3 – शमशेर बहादुर सिंह – दूसरा सप्त्क, वक्तव्य, पृष्ठ 77
4 – हरिनारायण व्यास– दूसरा सप्तक, पृष्ठ 53

इस प्रकार इन कवियों ने अपनी कविताओं के साथ ही कवि वक्तव्य देकर अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं को व्यक्त कर दिया है। इन वक्तव्यों पर विचार करने पर एक बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि इनकी मान्यतायें स्वस्थ्य प्रगतिशील एवं व्यवहारिक हैं लेकिन इनके काव्य इनके वक्तव्यों की कसौटी पर पूर्णतया सफल नहीं दिखाई देते। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएं अवश्य उनके वक्तव्यों के अनुरूप हैं।[1] अन्य कवियों के सम्बन्ध में भी डा0 मिश्र का यह निष्कर्ष पूर्णतया उपयुक्त है – ''सामाजिक वस्तुत्व और शैली–शिल्प के सन्तुलन पर अत्यधिकबल देने वाले गिरिजा कुमार अक्सर ही रंग, रस और रोमांस के प्रति विशेष अनुरक्ति दिखा गये हैं, वैयक्तिकता को विशाल बनाने का आग्रह करने वाले नेमिचन्द्र, 'मुक्तिबोध', भारत भूषण जैसे कवि व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व में ही उलझ गये हैं, उनकी वैयक्तिकता कम ही स्थलों पर इनकी इच्छानुकूल विशाल बन सकी है, शमशेर की अनेक कविताएं अधिकांशतः उनकी रूपवादी – प्रतीकवादी – प्रयोगवादी मनः स्थिति की उपज है – जीवन की अभिन्न अंग नहीं बन पाई है। माचवे की सारी प्रतिभा व्यंग्यों में ही लीन होकर रह गई है, जिनमें से अधिकांश नीरस और निष्प्रभ हैं। रघुवीर संहाय तथा नरेश मेहता आदि भी समाज और बाह्य वास्तविकताओं की अपेक्षा या तो अपने व्यक्तित्व की गुत्थियों में उलझ गये हैं या उनसे एक प्रकार की पलायनवादिता की सूचना देते हुए प्रकृति और कला शिल्प की पच्चीकारी में ही दत्त चित्र हुए हैं।''[2]

कहा जा सकता है कि नई कविता इन कवियों की विचारधारायें प्रगतिवादी और प्रयोगवादी धारा की मान्यताओं से अपना स्पष्ट लगाव व्यक्त करती है। सर्वप्रथम इन कवियों ने ही वस्तु एवं शिल्प दोनों की समान आवश्यकता पर बल दिया तथा काव्य को संतुलित राह पर खड़ा किया। अतः यह कहना स्वाभाविक है कि यह काव्यधारा प्रयोगवाद एवं प्रगतिवाद का सहज, स्वाभाविक एवं ऐतिहासिक विकास है ताकि इसकी कुछ अलग विशिष्टतायें हैं जो उसे अन्य धाराओं से अलग प्रतिष्ठित करती हैं।

थोड़ी चर्चा – सृजन और सर्जन की। 'दूसरा सप्तक' के कवि शमशेर बहादुर सिंह प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद से होकर नयी कविता के क्षेत्र में आये हैं। कवि का काव्य संसार दोनों की प्रवृत्तियों को अपने में समेटे हुए नयी कविता का प्रतिनिधित्व करता है। 'कुछ कवितायें' (1959), तथा 'कुछ और कविताएं' (1961) में एक ओर प्रयोगवादियों के समान निराशा, विवशता, दर्द, घुटन, विषाद एवं पराजय की अभिव्यक्ति सुनाई पड़ती है तो दूसरी ओर दलितों एवं पीड़ितों के प्रति सहानुभूति का भाव, जन – जन की मुक्ति तथा नवयुग की आकांक्षा , दृढ़ता एवं आशा का भाव,

---

[1] – शिवकुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 266
[2] – शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 265

मानव–व्यक्तित्व पर अडिग आस्था तथा सामान्य जन की एकता के प्रति अडिग विश्वास का स्वर भी सुनाई देता है –

दैन्य दानव! क्रुर स्थिति! कंगाल बुद्धि!
मजूर घर भर! एक जनता का अमर वर!
एकता का स्वर! अन्यथा स्वातंत्र्य इति!

नयी कविता के कवि गजानन माधव 'मुक्तिबोध' वैचारिक दृष्टि से प्रगतिवादी है। 'यद्यपि ये 'तार सप्तक' के माध्यम से काव्य क्षेत्र में आये लेकिन इनकी काव्य प्रवृत्तियां इन्हें नयी कविता की ओर ले जाती हैं। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कवितायें व्यापक जीवन परिवेश से अपना सम्बन्ध रखती हैं। मध्य वर्ग के इस कवि में घोर असंतोष, अशांति एवं अव्यवस्था जन्य क्षुब्धता है। ब्रम्हाराक्षस, 'अंधेरे में', 'चकमक की चिंगारियां' जैसी कविताये मध्यवर्ग के मानस के अर्न्तद्वन्द्व को उद्घाटित करने में सर्वाधिक सफल रही है। कवि की वैयक्तिकता समष्टिगत चेतना से युक्त है इसलिए वह एक ओर सुखद एवं व्यवस्थित भविष्य का स्वप्न देखता है तो दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी शक्तियों के नाश हेतु, अपनी आवाज भी उठाता है –

क़र सकों घ्रणा ! क्या इतना
रखते हो अखण्ड तुम प्रेम ?
जितनी अखण्ड हो सके घ्रणा! उतना प्रचण्ड
रखते क्या जीवन का व्रत नेम ?[1]

द्वन्द्वजन्य अस्पष्टता तथा फैंटेसी के प्रति लगाव ने इनकी कविताओं को दुर्बोध, अस्पष्ट एवं लम्बी तो बनाया ही है, उसकी भाषा को भी जटिल बना दिया है। फिर उसमें जो सामाजिकता एवं क्रांतिकारी ओजस्विता है। वही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

'मंजीर', 'नाश और निर्माण' (1946), 'धूप के धान' (1955), 'शिला पंख चमकीले' (1961), के रचनाकार गिरिजा कुमार माथुर नयी कविता मे रस, रंग तथा रोमांस की कविता लिखने वालों में अपना विशेष महत्व रखते हैं। लेकिन यह उनके सृजन का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष मुक्त तथा निर्द्वन्द्व सामाजिकता के स्वर से युक्त है। प्रारम्भिक कविताओं में यदि प्रेम, सौन्दर्य, विषाद एवं निराशा के भावों की अधिकता है तो बाद की कविताओं में युग जीवन एवं मानव के प्रति अटूट आस्था, विश्वास और दृढ़ता का सामाजिक स्वर प्रधान एवं मुखर है। वस्तुतः संवेदना के साथ ही शिल्पगत नव प्रयोगों की दृष्टि से भी कवि ने नई कविता को समृद्ध करने में उल्लेखनीय योग दिया है।

---

[1] – गजानन माधव 'मुक्तिबोध' – तार सप्तक, पृष्ठ 21

बोलचाल की भाषा तथा शैली के प्रयोग की दृष्टि से रघुवीर संहाय का नयी कविता के क्षेत्र में विशेष महत्व है। कवि की चेतना वैयक्तिक भावनाओं से ऊपर उठकर, सामाजिक चेतना से समन्वित होकर समाज एवं जीवन के कल्याण एवं विकास पथ की ओर अग्रसर होती है। व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्व के बावजूद कहीं भी युग परिवेश और जीवन की विषमताओं से संघर्ष करने में कवि निराश अथवा विवाद ग्रस्त नहीं होता वरन् मनुष्य के प्रति असीम आस्था व्यक्त करता दिखाई पड़ता है। कवि की प्रकृति प्रेम एवं ग्रामजीवन के चित्रांकन से युक्त कवितायें काफी हद तक यथार्थ के धरातल को छूती हैं –

लो, सहसा झर झर कर पहला झोंका आया
हम बढ़े घरों की ओर तनिक जल्दी – जल्दी दौड़े – दौड़े
दो गोरे – गोरे बलगर बैलों की रोंई
हो गई ठुमक कर खड़ी पकरिया के नीचे
उड़ गई चहक कर नीबी के सबसे ऊँची
फुनगी पर बैठी गौरैया
फैली चुनरिया अटरिया चढ़ लई उटार
जल्दी – जल्दी घांघर समेट घर की युवती।[1]

भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं में एक प्रकार की व्यापक मानवीयता तथा सामाजिकता का भाव मिलता है। एक ओर कवि सुख के कारण जुटाने की बात करता है, धूप और वर्षा का अभिनन्दन करता है, मानव – मात्र की एकता के गीत गाता है तो दूसरी ओर व्यंग्य करने से भी नहीं चूकता –

जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह – तरह के ! गीत बेचता हूँ;
मैं सभी किसिम के गीत ! बेचता हूँ।[2]

सामाजिक चेतना से लगाव तथा कला एवं शिल्प के प्रति सजगता की दृष्टि से कवि की महत्ता असंदिग्ध है। भाषा एवं शैली की सजगता, लोकभाषा के प्रति लगाव, अभिव्यक्ति की सादगी इनकी प्रमुख विशेषतायें हैं। वस्तुतः "स्वस्थ्य सामाजिक विचारों तथा उनकी अभिव्यक्ति के लिए एक अतीव सहज सीधी शैली के प्रयोगकर्ता भवानी प्रसाद मिश्र ही मध्यवर्ती कवियों में कदाचित् ऐसे हैं। जिनकी वृत्ति सबसे अधिक बहिर्मुखी और फलतः जिनकी कविता द्वन्द्व अथवा उलझन से सबसे कम अकांत, स्वच्छ और सहज प्रभावोत्पादक है।"[3]

---

[1] – रघुवीर संहाय – दूसरा सप्तक, पृष्ठ 142
[2] – भवानी प्रसाद मिश्र – दूसरा सप्तक, पृष्ठ 23
[3] – शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य , पृष्ठ 291

'चक्रव्यूह', 'परिवेश' : हमतुम' तथा तीसरा सप्तक के कवि कुँवर नारायण ने अपने काव्य – वक्तव्य में काव्य के अन्तर्गत विचार पक्ष की प्रधानता, कविता के संगठन तथा प्रयोग की प्रधानता की बात की है।"[1] कहना न होगा कि इनकी कवितायें इसी विचारधारा से अनुशासित भी हैं। इनकी कविताओं में काव्यगत प्रयोगों को ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में स्वीकार करता है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त भारत भूषण अग्रवाल, नेमिचन्द जैन, नरेश मेहता, प्रभाकर माचवे, हरिनारायण व्यास, बाल कृष्ण राव, शंकुत माथुर, प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, दुष्यंत कुमार, देवराज, वीरेन्द्र कुमार जैन, अजित कुमार श्रीकान्त वर्मा, विपिन कुमार अग्रवाल जैसे अनेक अनेक कवियों ने अपनी कृतियों के माध्यम से नयी कविता को समृद्ध बनाया है तथा उसे विकास की गति दी है। प्रायः इन सभी कवियों में विक्षोभ, निराशा, पीड़ा, दर्द एवं अपने परिवेश के प्रति असंतोष का भाव है। लेकिन सामाजिकता की प्रखर चेतना तथा प्रगति के पथ पर बढ़ने की प्रबल आकांक्षा भी है –

है निरन्तर ही प्रगति की,
एक गति से दौड़ने की छिपी मन में चाह,

* *

सर्वभक्षी सागरों को रौंद जाने
लाँघ जाने का अथक उत्साह
ऐसी चाह
रूह है जिन्दगी की राह।[2]

(ख) गौण काव्य धारा

(1) छायावादोत्तर छायावादी काव्य धारा

अपनी ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों तथा युग की वाह्य वास्तविकताओं के प्रति उदासीनता के परिणाम स्वरूप छायावादी काव्य का अवसान हुआ। लेकिन यह स्मरणीय है कि यद्यपि युग का अन्त हुआ, नयी धारा ने जन्म लिया फिर भी वह – छायावादी धारा पूरी तरह से नष्ट नहीं हो गई। कहीं –न– कहीं उसकी जड़ें अभी भी जीवित थीं। युग की परिवर्तित परिस्थितियों एवं घटनाओं का प्रभाव युग के कवियों पर पड़ना स्वाभाविक ही होता है। सन् 1936 के पश्चात् वैज्ञानिक चेतना के फलस्वरूप यथार्थोन्मुखी दृष्टिकोण का व्यापक प्रसार हुआ, जिसका प्रभाव साहित्य पर भी गहरे रूपों

---

[1] – कुँवर नारायण – तीसरा सप्तक, वक्तव्य, पृष्ठ 148 – 49
[2] – नेमिचन्द जैन – तार सप्तक, पृष्ठ 66

में पड़ा। 'प्रगतिशील आन्दोलन' के रूप में इस दृष्टिकोण को रचनात्मक रूप भी प्रदान किया गया। वस्तुतः राजनीतिक – सामाजिक रंगमंच पर यथार्थवादी – मार्क्सवादी विचारधारा की स्वीकृति इस बात की साक्षी थी कि देश का नव युवक चाहे वह साहित्यकार हो अथवा नेता सभी – एक क्रांतिकारी परिवर्तन की आकांक्षा कर रहे थे। और ऐसे सामाजिक बोध के बीच छायावाद की वायवी भावनाओं तथा काल्पनिक रहस्यवादी चित्रों को महत्व मिल पाना नामुमकिन था।

इस प्रकार युग की आवश्यकताओं को समझते बूझते हुए, नव चेतना से अनुप्राणित स्वयं छायावादी कवियों – 'पंत एवं निराला'– ने छायावाद को एक नयी दिशा प्रदान की। यह नवीन दिशा छायावादी होते हुए भी प्रगतिवादी थी और प्रगतिवादी होते हुए भी छायावादी। इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि छायावाद की मूल प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ तथा स्वयं छायावादी कवियों ने उस परिवर्तन को सक्रिय रचनात्मक रूप प्रदान किया। लेकिन यहाँ एक सवाल उठता है कि क्या इस मूल प्रवृत्ति के परिवर्तन के पश्चात छायावादी कवियों के सृजन की भूमि पूरी तरह से नवीन हो गई अथवा वह पुरानी ही बनी रही ? इस सवाल का उत्तर छायावादोत्तर छायावादी काव्यधारा के प्रमुख कवियों तथा उनकी रचनाओं के अनुशीलन के बाद स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगा।

छायावादोत्तर छायावादी कवियों में 'निराला' का नाम प्रमुख है। विषय एवं शिल्प दोनो दृष्टियों से इनके काव्य में विविधता दिखाई देती है। इन्होने अपने काव्य में उन नवीन जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा की है जो कि युग की ऐतिहासिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक थे। राष्ट्रीय सामाजिक परिवर्तनों एवं आवश्यकताओं के प्रति सजग 'निराला' ने राष्ट्रीय – सामाजिक जन जीवन को ठोस, सशक्त एवं विकसित परिवेश प्रदान करने हेतु सांस्कृतिक उत्थान की आवश्यकताओं पर विशेष बल दिया। प्राचीन गौरवशाली परम्पराओं तथा चरित्रों के माध्यम से – उन्हे नये रूपों में प्रस्तुत कर – नयी सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न की। एक ओर इनकी कविताओं में कल्पना, रहस्य और अध्यात्म की झलक मिलती है तो दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ का ठोस रूप भी परिलक्षित होता है। यही कारण है कि कवि एक ओर गीतिका जैसी रचना प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' का सृजन करता है, एक ओर छायावादी काव्यधारा का सबल प्रतिनिधित्व करता है तो दूसरी ओर प्रगतिवाद की रूपरेखा भी स्पष्ट करता है। छाया के अवसान के बाद के निराला के काव्य को तीन सोपानो में बाँटकर देखा जा सकता है। पहले सोपान में 'गीतिका' (1936), 'अनामिका' (1937), 'तुलसीदास' (1939) की रचनाएं हैं। जिनमें कवि का शास्त्रीय व्यक्तित्व स्पष्ट रूपेण उभरा है। दूसरे सोपान में 'कुकुरमुत्ता' (1942), 'अणिमा' (1946), 'बेला' (1946), 'नये पत्ते' (1946) की रचनाओं को रखा जा सकता है जिसमें कवि का व्यक्तित्व सामाजिक एवं राजनीतिक बोध को लेकर उपस्थित होता है और नये परिवेश की आवश्यकता पर विशेष बल देता है। तीसरे सोपान में 'अर्चना' (1950), 'आराधना' (1953), 'गीतगुंज' और 'सांध्य का कली' की

रचनायें विशेष महत्व रखती हैं जिसमें कवि पुराने छायावादी राह पर पुनः अग्रसर होता दिखायी देता है।

पहले सोपान की गीतिका की कविताएं जयदेव और विद्यापति की गीति परम्परा से प्रभावित मौलिक एवं नई हैं। उसमें विचारों की प्रधानता तथा मानवतावादी सांस्कृतिक चेतना की नई सौन्दर्य दृष्टि है –

वर दे, वीणा वादिनी वर दे
प्रिय स्वतन्त्र – रव अमृत – मंत्रनव, भारत में भर दे।[1]

भाषा एवं शैली, विचार एवं भाव, कल्पना एवं यथार्थ, गहराई एवं फैलाव आदि सभी दृष्टियों से 'अनामिका' में कवि की प्रतिभा अपने पूरे उन्मेष के साथ प्रकट हुई है। दूसरे सोपान की रचनाओ में सामाजिक बोध से युक्त नवीन जीवन – परिवेश के प्रति अनुरक्ति है। इस दौर की कविताओं में कवि ने मानव जीवन को गतोन्मुख करने वाले शासकों, पूँजीपतियों, जमींदारों आदि को लताड़ते हुए उन पर कठोर व्यंग्य किया है तथा उनकी पोल खोली है –

भेद कुल खुल जाये वह सूरत हमारे दिल में है।
देश को मिल जाये जो पूँजी जो तुम्हारे मिल में है।[2]

इनमें कला एवं शिल्प की उदात्तता के स्थान पर ऊबड़–खाबड़ पन अधिक है। वस्तुतः निराला की क्रांतिकारी व्यक्तित्व सामूहिक संघर्ष को सहने करने में सफल नहीं हो पाया। यही कारण है कि तीसरे सोपान की रचनाओं तक आते – आते मानवतावादी एवं क्रांतिकारी वाणी मुखरित करने वाला कवि ईश्वर के अधिक सन्निकट पहुँचा दिखाई पड़ता है –

दुःख हर दे, जल शीतल सर दे।
वर दे! पवन उर को कर दे।[3]

छायावाद के प्रबल समर्थक, प्रकृति और मनुष्य जीवन के सौन्दर्य को चित्रित करने वाले, खड़ी बोली को सरलता, सहजता एवं सहजाभिव्यक्ति प्रदान करने वाले, कोमल लयात्मकता की प्रतिष्ठा करने वाले, जीवन के सुन्दर पक्ष को ही विशेष रूप से अंकित करने वाले कवि सुमित्रान्दन पंत छायावादोत्तर काल में छायावादी कविता का अन्त घोषित करते दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः छायावादी कविता को शक्तिशाली एवं सम्पन्न बनाने के पश्चात युग की आवश्यकताओं एवं परिवर्तनों को दृष्टि में रखकर कवि पंत ने बड़े ही साहस एवं शक्ति के साथ छायावाद के अवसान को घोषित किया तथा कविता को नयी राह पकड़ायी और उसे युग की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया। यही कारण है कि लोग उन्हें 'प्रगतिवाद' का पुरूस्कर्ता भी घोषित करते हैं। इनकी भाव

---

1 – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – गीतिका, पृष्ठ 3
2 – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – 'बेला, पृष्ठ 75
3 – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – आराधना , पृष्ठ 28

भूमि को भी तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहला, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा रविन्द्र नाथ टैगोर से प्रभावित , दूसरा मार्क्स के भौतिक वादी जीवन दर्शन से प्रभावित , तीसरा और अन्तिम गांधी वादी दर्शन और अरविन्द दर्शन से प्रभावित भाव –भूमि ।

छायावादोत्तर काल की रचनाओं में ' युगपथ '(युगांत) (1936) , ' युगवाणी '(1936)' , ग्राम्या'(1940) 'स्वर्ण किरण' स्वर्णधूलि', ' उत्तरा', ' अतिमा ', ' कला और बूढ़ा चाँद' आदि रचनायें विशेष महत्व रखती हैं ।' युगांत' में छायावाद का अवसान तथा प्रगतिवाद की स्थापना होती दिखयी पड़ती है।इसमें कवि जीर्ण –शीर्ण पुरातनता के स्थान पर नूतनता का आवाहन करता दिखायी पड़ता है।

गा, कोकिल, बरसा पावक गण,
नष्ट भ्रष्ठ हो जीर्ण पुरातन,[1]

यद्यपि 'युगवाणी 'में साम्यवादी विचार धारा के सैद्धान्तिक प्रचारक के स्वर तथा राग एवं अनुभूति की अपेक्षा बौधिक चिन्तन का स्वर ही अधिक प्रस्फुटित हुआ है–

साम्यवाद के साथ स्वर्णयुग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।[2]

लेकिन ग्राम्या तक पहुँचते– पहुँचते कवि की वाणी व्यवहारिक , सहज एवं स्वाभविक बन गयीं है।यहाँ ग्रामीण – जीवन के सहज सौन्दर्य के साथ ग्रामीण विषमताओं , रूढियाँ एवं चिर –शोषित जनों की हृदय – द्रावक स्थितियों का मार्मिक चित्रण है–

अंधकार की गुहा सरीखी उन आँखो सें डरता है मन
भरा दूर तक उनमें दारूण दैन्य दुःख का नीरव रोदन।
अह, अथाह नैराश्य, विवसता का उनमें भीषण सूनापन,
मानव के पाशव पीड़न का देती वे निर्मम विज्ञापन।[3]

ऐसे ओज युक्त वाणी में यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने वाला कवि निराला की ही भाँति बाद में चलकर पुनः नयी भाव भूमि की ओर उन्मुख होता है । जहाँपर अरविन्द , गाँधी ,एवं सर्वोदय से स्पष्ट प्रभावित दिखायी पड़ता है।

महादेवी वर्मा तो शुरू से ही अध्यात्मिक एवं रहस्यवादी रचनाओं के ही प्रणायन में विशेष रूप से पृव्रत्त रही लेकिन जीवन एवं जगत के प्रति इनकी मानवता वादी दृष्टि सर्वथा नवीन एवं आधुनिक है। छायावादोत्तर युग की रचना 'दीपशिखा ' (1942) में किसी नये विकास की सूचना तो नहीं मिलती लेकिन यह सत्य है कि उनकी अर्न्तमुखी साधना दिनो–दिन परिष्कृत होती हुई '

---

[1] सुमित्रानन्दन पंत – युगपथ , पृष्ठ 12
[2] –सुमित्रानन्दन पंत – युगपथ , पृष्ठ 27
[3] – सुमित्रानन्द पंत – ग्राम्या, पृष्ठ 24

दीपशिखा ' में आकर और अधिक ठोस एवं स्वस्थ रूप प्राप्त कर सकी है। कहा जा सकता है कि '' सीमित अनुभूति , परिष्कृत चिन्तन , संकुचित परिधि , अतल गहराई और उत्कृष्ठ शिल्प का द्योतक , अध्यात्म तथा रहस्याभास से परिपूर्ण , व्यापक करूणा और संवेदना से सिंचित , साधना के अखण्ड विश्वास के लिये महादेवी का काव्य आधुनिक हिन्दी कविता को उनकी अत्यधिक महत्वपूर्ण देन है।''[1] वस्तुतः महादेवी जी को छायावादोत्तर कृतियों में भी बार –बार छायावादी प्रवृत्ति भी झलकती है।

छायावादी काव्य परम्परा के कवि बालकृष्ण शर्मा ' नवीन ' की छायावादोत्तर रचनाओं – 'रश्मिरेख ' (1951) , 'अपलक ' (1951) , ' क्वासि' (1952), ' विनोवास्तवन (2010वि0) 'उर्मिला' (1958) में एक क्रान्तिकारी भाव परिलक्षित होता है लेकिन उसकी अन्तिम परिणति पुनः छायावादी काव्यभूमि पर ही होती है । नवीन जी का व्यक्तित्व उन्हें हमेशा पीडित जन–समुदाय के कष्टो के प्रति अनुरक्त कर नव–निर्माण हेतु प्रलय का आहवान किया है तथा नये विश्वासों की स्थापना पर बल दिया है।

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओं जिससे उथल–पुथल मच जाये ।
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये।[2]

लेकिन कवि की व्यक्तिवादी चेतना छायावादी भूमि को पूरी तरह से छोड नही पाती और वह संघर्ष से विलग हो पूर्णरूपेण आध्यात्मिक भावनाओं से जुड जाती है जहॉ उस पर निराशवादिता का एक आवरण सा चढता चला जाता है –

आशा थकी, प्रतीक्षा हारी, थकी कल्पना, थकी उडान,
हम तो बहुत थक गये प्राण।[3]

राष्ट्रीय धारा के कवि माखनलाल चतुर्वेदी के शिल्प–विधान तथा अभिव्यक्ति– प्रणाली पर छायावादी कवियों का पूरा–पूरा प्रभाव है । छायावादी कवियों की ही भॉति इनकी कुछ रचनाओं में आध्यात्मिक भावना एवं रहस्य–चिन्तन दिखाई देता है । ' हिम–करीटनी' (1941) तथा हिम तरंगनी' (2005वि0) तो छायावादी काव्य परम्परा की अनुपम कडी है जिसमें कही साधक की विरह–व्यथा है।

देख ले जग, सिसक कर आराधना सूली चढी ।
जो न बन पायी तुम्हारे गीत की कोमल कडी ।[4]

इन सबके अतिरिक्त रामकुमार वर्मा– 'चन्द्रकिरण' जौहर एकलब्य (1958), शिप्रा (1945) मेघगीत (1950), अवंतिका (1953), गुरूभक्तसिंह भक्त – कुसुम कुंज, वंशी ध्वनि, नूरजहॉं

1 – शिवकुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य , पृष्ठ 90
2 – कवि श्री : बालकृष्ण शर्मा नवीन – समपादक, रामदरश मिश्र, प्रष्ठ 50
3 – बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' – अपलक, पृष्ठ 28
4 – माखन लाल चतुर्वेदी – हिमतरंगिनी, पृष्ठ 2

विक्रमादित्य, विद्यावती कोकिल' सुमित्राकुमारी सिन्हा, सुभद्रा कुमारी चौहान, गोपाल सिंह नेपाली, 'उदयशंकर भट्ट' काभी अपना विशेष स्थान है ।

स्पष्टहै कि छायावादोत्तर काल में छायावादी कवियों ने नये पथ परिवर्तन के साथ काव्य–रचना की । पंत और निराला केअलावा अन्य कवियों की भावभूमि काफी हद तक छायावादी ही बनी रही। हॉ, यह अवश्य है कि कुछ रचनाओं में नयी राह का भी संकेत मिलता है इस प्रकार छायावादी काव्यधारा का मूलरूप परिवर्तित अवश्य हुआ लेकिन वह धारा किसी न किसी रूप में अक्षुष्ण बनी रही ।

(2) - छायावादोत्तर व्यक्तिपरक काव्यधारा –

व्यक्तिवादी चेतना आधुनिक युग के नव निर्माण में काफी कियाशील रही है । कहने को तो यहॉ तक कहा जा सकता है कि सामाजिक एवं राष्टीय बोध एवं भवना से युक्त व्यक्तिवादी चेतना ने ही आधुनिक काव्य को विकसित किया, जिसका उदात्त स्वर हमें छायावादी काव्यधारा में सुनाई देता है । इस व्यक्ति–चेतना की समष्टिगत भावना ने मानव–कल्याण की ओर अपनी दृष्टि फेरी है तथा नीवन सामाजिक, राजनीतिक चेतना के प्रभावस्वरूप। तो कहीं काल्पनिक मिलन के क्षणिक उल्लास। पुरानी मर्यादाओं, विश्वासों तथा रूढियों के प्रति विद्रोह प्रकट किया है । वस्तुतः एक अरसे से भारतीय कवि पर व्यक्तिगत संवेदनाओं को व्यक्त करने के क्षेत्र में प्रतिबंध लगा था तथा अनेक आदर्श उनके सामने थे । लेकिन आधुनिक युग पूर्वार्द्ध में ही इन आदर्शो के बन्धन जर्जर होने लगे तथा उनकी सीमाये सिमटने लगी इस प्रकार वर्तमान युग के कवि में व्यक्तिगत स्वतत्रता का मुक्त उद्घोष किया । कहना न होगा कि इस व्यक्तिपरक काव्यधारा के कवियों ने इस क्षेत्र में काफी क्रातिकारी कदम उठाया है।

द्विवेदी युगीन मर्यादाओं तथा विश्वासों के खिलाफ छायावादी कवियों ने मुक्त होकर नये काव्य की सर्जना की अतीत की गौरवमयी संस्कृति तथा मानवतावादी द्रष्टिकोण को प्रतिष्ठित किया, प्रकति एवं प्रेमसम्बन्धी नवीन विचारों को जन्म दिया, लेकिन उनमें भी दुराव और छिपाव, रहस्य और अध्यात्म, सूक्ष्म और कल्पना की ही प्रधानता रही । नये युग का नया कवि युग की बदलती परिरिथतियों के बीच छायावाद की इस प्रवृत्ति को स्वीकार नहीं कर पा रहा था। साथ ही छायावादी काव्यधारा के ही सामानान्तर ऐसी धारा बह रही थी जिसका सूत्रपात कवि 'बच्चन' ने किया था। इस धारा का वास्तविक स्वरूप छायावादोत्तर काल में देखने को मिला । इस धारा (व्यक्तिपरक काव्यधारा) की भी मूल प्रवृत्ति प्रणय, विरह सौन्दर्य एवं प्रकृति ही है लेकिन इस मूल प्रवृत्ति के प्रकाशन में काल्पनिकता, सूक्ष्मता एवं दुराव–छिपाव का भाव नहीं बल्कि एक खुलापन है

, यथार्थ का आग्रह है, स्थूल का चित्रण है, कुल मिलाकर यह रहस्य, अध्यात्म एवं गोपनीयता पर यथार्थ – अंकन की विजय घोषित करता है ।

दोनो काव्यधाराओं में वैयक्तिकता प्रमुख रही है तथा दोनों का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति रहा है। लेकिन छायावादी काव्यधारा में व्यक्ति को अध्यात्म, संस्कृति और रहस्य के आचरण से इतना अधिक आवेष्टित कर दिया गया कि वह नितांत अंतर्मुखी बन गया जबकि व्यक्तिपक कविता उसे बहिर्मुखी बनाने का प्रयास करती है और यहीं पर वह अपनी अलग पहचान स्थापित कर देती है। व्यक्ति – स्वातंत्र्य की भावना पर बल देती यह काव्यधारा व्यक्तित्व के विकास में आने वाले अवरोधक तत्वों को बड़ी सफाई और धैर्य के साथ हटाने की कोशिश करती है। इस धारा के कवि व्यक्ति – स्वतन्त्रता के साथ ही समाज और व्यक्ति के बीच संतुलन भी स्थापित करना चाहते हैं। वह ऐसे जीवन की आकांक्षा करता है। जिसमें न तो संकोची बनना पड़े और न ही कल्पना जीवी। यही कारण है कि इस धारा के अधिकांश कवियों ने बाध्य सामाजिक जीवन में पग – पग पर व्यक्ति को बाधित करने वाली, संकोची तथा अन्तर्मुखी बनाने वाली प्रवृत्तियों एवं निषेधों को खुल्लम – खुल्ला ललकार कर समूल उखाड़ फेंकने की आकांक्षा की है। इस युग के कवियों में न तो प्रसाद के ''आँसू'' जैसी संकोचनशीलता दिखायी देती है और न ही महोदेवी वर्मा जैसी विरह और वेदना की कसक ही, निराला और पंत की अध्यात्मिकता से भी इस धारा के कवि काफी दूर रहे हैं, 'बच्चन' नरेंन्द्र शर्मा, 'अंचल' आदि की कविताएं इसकी प्रमाण हैं।

इन व्यक्ति परक कवियों की दृष्टि सामाजिक जीवन पर भी टिकी है। व्यापक सामाजिक परिवेश के ज्वलंत यथार्थ सत्य को इस युग के कवियों ने वाणी प्रदान की है। एक ओर वह जीवन के संघर्षों का चित्रण करता है तो दूसरी ओर प्रकृति – प्रेम से भी अपना तादात्म्य बैठाता है। इस धारा के कवियों को क्रांतिकारी कहा जा सकता है क्योंकि पुरानी मर्यादाओं एवं सीमाओं को तोड़ जितनी निर्भीकता और सशक्तता के साथ इस युग के कवियों ने अपने विचारों को प्रतिष्ठित किया है उतनी ही निर्भीकता या सशक्तता पूरीवर्ती अथवा परवर्ती बहुत कम ही कवियों में देखने को मिलती है। सामान्य जन – जीवन के प्रति इस धारा के कवियों की आसक्ति है, उनके दुःख – दर्दों के प्रति इनकी सहानुभूति है, उनके संघर्षों में योगदान देने की आकांक्षा है। यही वह मूल तत्व है जिसके चलते इस धारा के कवियों ने अपने 'अंह' या 'व्यक्तित्व' को बहिर्मुखी बनाया तथा समाज परिवर्तन की ओर अग्रसर हुए। यह बात दूसरी है कि ये कवि नये समाज निर्माण के कार्य में सफल नहीं हो पाये, लेकिन इतना तो है ही आगे आने वाली पीढ़ी के लिए दिशा – संकेत तो कर ही गए। यही वह धारा है जिसके कवियों ने सामाजिक निषेधों को तोड़, साहित्यिक गतिरोधों को हटा, भाव एवं शिल्प दोनो स्तरों पर साहित्य को खुला एवं व्यापक स्वरूप प्रदान किया तथा सामाजिक विकास में व्यक्ति की महनीयता स्थापित की। इसी धारा ने काव्य को उस नवीन यथार्थ – बोध से

वाकिफ कराया जिसका ठोस एवं व्यापक रूप हमें छायावादोत्तर अन्य काव्यधाराओं में देखने को मिलता है।

इस धारा के प्रमुख प्रणेता कवियों में तीन नाम मुख्य हैं – हरिवंश राय 'बच्चन', नरेन्द्र शर्मा, तथा रामेंश्वर शुक्ल 'अंचल'। लेकिन भगवती चरण वर्मा तथा आरसी प्रसाद सिंह ने भी इस धारा को काफी समृद्ध किया है। कुछ लोग 'दिनकर' की रचनाओं को भी इस धारा में रखने की कोशिश करते हैं।[1] लेकिन मै उनकी मूल प्रवृत्ति को देखते हुए उन्हे राष्ट्रीय धारा के कवियों में ही रखना ज्यादा समीचीन मानता हूँ। व्यक्तिगत सुख–दुःख तथा अभाव के अंकन में सभी कवियों की दृष्टि समान है तथा उन सुखों – दुःखों एवं अभावों से उत्पन्न पीड़ा, हर्ष–विषाद, आशा – निराशा, जय–पराजय एवं पलायन आदि की अभिव्यक्ति भी प्रायः सभी कवियों ने संकोचहीनता और साहस का प्रदर्शन किया है। प्रेम और सौन्दर्य की मुक्त आराधना तथा मुक्तभोग की राह में आने वाली सामाजिक, नैतिक, धार्मिक रूढ़ियों एवं वर्जनाओं से त्रस्त इस युग के कवि उसकी प्रतिकिया में साहस एवं आकोश से भरी अपनी बुलन्द आवाज उठाते हैं तथा उनके ध्वंस होने की आकांक्षा करते हैं।

इस प्रकार सभी कवियों ने विद्रोह एवं विकास की नयी दिशाओं की ओर संकेत किया है, नये सामाजिक बोध को प्रकट किया है। धर्म एवं ईश्वर के प्रति इन कवियों की आस्था नही है। ईश्वरीय सत्ता के स्थान पर मनुष्य की शक्तियों को सर्वोपरि माना गया है। इनमें नये स्वस्थ समाज की सृष्टि की आकांक्षा है, प्रकृति के प्रति अनुराग है, नियतिवाद का स्वर है तथा गौरवशाली सांस्कृतिक परम्परा के प्रति लगाव की भावना है।

छायावादोत्तर व्यक्तिपरक काव्यधारा के कवि हरिवंश राय 'बच्चन' का विकास छायावाद और प्रगतिवाद के मध्य में हुआ है। इनकी चेतना मूलतः व्यक्तिवादी है। इनकी कविताओं में आत्मगत अनुभूतियां काफी सहज रूप में अभिव्यक्त हुई है। जीवन एवं जगत की विडम्बनाओं तथा सार्वभौम सत्यों को बड़े साहस के साथ उद्घाटित किया है। इनकी व्यक्ति परक रचनायें समाज की रूढ़ियों वर्जनाओं एवं मर्यादाओं के प्रति खुला विद्रोह प्रकट करती है तथा व्यक्ति के सुख–दुःख का चित्रण करते हुए जीवन के लिए आवश्यक अधिकारों की मांग करती है। 'मधुशाला' (1936), 'मधुकलश' (1937), 'निशा–निमंत्रण' (1938), 'एकांत संगीत' (1939), 'आकुल–अन्तर' (1943), 'सतरंगिनी' (1946), 'हलाहल' (1946), 'बंगाल का काल' (1946), 'सूत की माला' (1948), 'मिलनयामिनी' (1950), 'प्रणय पत्रिका' (1955), 'बुद्ध और नाचतर' (1958) आदि रचनाओं में कवि की वैयक्तिक चेतना एक ओर सांसारिक संघर्षों एवं विडम्बनाओं से पीड़ित होकर भौतिक तत्वों एवं

---

[1] – रमाकान्त शर्मा – छायावादोत्तर हिन्दी कविता, पृष्ठ 122

मुक्तभोगवादी वृत्तियों की ओर उन्मुख होती है, अंह की अभिव्यक्ति करती है, आत्महत्या करने तक का संकेत करती है –

अपने पर मैं ही रोता हूँ, मैं अपनी चिता संजोता हूँ
जल जाऊँगा अपने कर से, रख अपने ऊपर अंगारे।[1]

तो दूसरी ओर विश्व के व्यापक जीवन–सौन्दर्य को स्वस्थ्य एवं खुली आँखों से देखने का प्रयत्न भी करती है। 'बंगाल का काल' तथा 'सूत की माला' जैसी कृतियाँ कला वैभव स्तर पर कमजोर होने के बावजूद बहिर्मुखी दृष्टि एवं सामाजिक बोध के कारण अपना महत्व रखती हैं। यद्यपि यह प्रवृत्ति अधिक टिकाऊ नहीं रह पाई है क्योंकि 'मिलन यामिनी' तथा 'प्रणय पत्रिका' में कवि पुनः अपनी प्रिय भावभूमि – व्यक्तिपरकता – की ओर ही लौटता दिखायी देता है।

'प्रभातफेरी' (1939), 'प्रवासी के गीत' (1939), 'पलाशवन' (1940), 'मिट्टी और फूल' (1942), 'हंसमाला' (1946), 'रकचन्दन' (1947), 'अग्निशस्य' (1951), 'कदलीवन' (1953), 'द्रौपदी' एवं 'कामिनी' (1960), के कवि नरेन्द्र शर्मा की काव्य – प्रतिभा बहुमुखी रही है। इनकी भावभूमि एक ओर व्यक्तिपरक काव्यधारा का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरी ओर प्रगतिवादी धारा के पालहे को भी छूती है। इनकी रचनाओं में व्यक्तिवादी चेतना तथा सामाजिक बोध का विशिष्ट प्रयोग देखने को मिलता है। इनका सामाजिक बोध मार्क्सवादी चिन्तन से और रहस्यवादिता छायावादी दर्शन से प्रभावित है। विविधता – युक्त इनकी रचनाओं को तीन वर्गों में रखा जा सकता है – पहला नितांत व्यक्तिगत अनुभूतियों पर आधारित प्रणय एवं श्रंगार की रचनायें, दूसरा छायावादी दर्शन से अनुप्राणित रहस्य एवं अध्यात्मपरक रचनायें, तीसरा सामान्य जनजीवन तथा यथार्थ सामाजिक बोध से प्रभावित प्रगतिवादी रचनायें।

'प्रभातफेरी' में भावुकता, काल्पनिकता तथा प्रकृति के प्रति मानवीय भाव की अभिव्यक्ति है तो 'प्रवासी के गीत' में क्षयी रोमांस की तीव्रता। यहाँ नियति और निराशा से पीड़ित कवि मृत्यु तक की आकांक्षा करने लगता है तथा कह उठता है –

आज शांति से मरने का भी क्यों मेरा अधिकार छिन गया ?
मेरी अनुमति लिए बिना विधि, किस विधि मेरा श्वांस गिन गया ?[2]

'पलाशवन' में निराशा, उद्वेग, रूदन और छटपटाहट के साथ ही जीवन यथार्थ से लगाव भी है। 'मिट्टी और फूल' में संघर्ष का दृढ़ एवं मजबूत स्वर है तो 'हंसमाला' में दार्शनिक एवं चिन्तक का रूप। वस्तुतः उन्हाने कभी भी एक दर्शन को अपनी कविता का आधार नहीं बनाया बल्कि उन्होने समन्वयात्मक दृष्टि को प्रधानता दी है। यही कारण है कि वे छायावादी दर्शन तथा भौतिकवादी

---

1 – हरिवंश राय 'बच्चन' – एकांत संगीत, पृष्ठ 33
2 – नरेन्द्र शर्मा – प्रवासी के गीत, पृष्ठ 75

दर्शन के संघर्ष से हमेशा परेशान रहे। कुछ भी हो इनकी कविताएं नयी आस्था एवं विश्वास की सूचक हैं। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की कविता छायावादोत्तर व्यक्तिपरक काव्यधारा के प्रायः सभी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। कवि ने छायावादी काव्यधारा की सीमाओं को तोड़ वैयक्तिकता को नया एवं जीवंत रूप प्रदान किया है। व्यक्तिगत जीवन में घटित होने वाले यथार्थ को कवि ने बड़ी बारीकी और सफाई से चित्रित किया है। यौवन का उद्दाम और प्रबल वेग, रूपाशक्ति, आवेश उन्माद आदि ही इनके काव्य की मूल भावभूमि है। इसका चरमोत्कर्ष जितना 'अंचल' के काव्य में दिखाई पड़ता है उतना अन्य में नहीं। आचार्य नन्द दुलारे बाजपेई ने तो इन्हें 'नवीन हिन्दी कविता के एक क्रांतिदूत' के रूप में देखा है।[1] 'मधूलिका' (1938), 'अपराजिता' (1939), 'किरणबेला' तथा 'करील', 'लाल चूनर' (1944), 'वर्षान्त के बादल' (1954) इनकी प्रमुख छायावादोत्तर कृतियाँ हैं जिनमें यौवन की उद्दामता, अतृप्ति की आग और तृष्णा की आधारिता व्यंजित है तो कहीं कहीं अनुभूतिगत सीमा की व्यापकता एवं उसका स्वाभाविक प्रकाशन भी है –

पूरब दिस से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी,
अलख, अकूल, अटल से निकलेगी बरसाती तृष्णा मेरी,
फिर उमंग से उमंग उठे ये बागी साजन बड़े सलोने,
यह मेघों का रैन बसेरा आज न देगा जी भर रोने [2]

'किरनबेला' तथा 'करील' में कवि प्रगतिवादी तत्वों की ओर उन्मुख होने का असफल प्रयास करता है। उसमें उत्तेजित भावुकता अधिक है, सामाजिक नव – निर्माण की गम्भीरता का भाव कम। वस्तुतः 'अंचल' का काव्य प्रगतिशीलता की सीमा को छूता हुआ भी यौवन, सौन्दर्य और प्रेम के स्थूल एवं मांसल रूप को ही सहज एवं सजीव रूप में अभिव्यक्त करता है।

व्यक्तिपरक काव्यधारा को विकसित करने में एवं समृद्ध बनाने में भगवतीचरण वर्मा – 'मधुकण', 'प्रेम संगीत' तथा 'मानव' एवं आरसी प्रसाद सिंह – 'कलापी' (1938), 'संचयिता' (1942), 'जीवन और यौवन' (1944), 'नयी दिशा' (1944), 'पांचजन्य(1945) तथा 'प्रेम संगीत' (1954) – का भी अपना विशेष महत्व है।

वस्तुतः प्रगतिवाद की हलचल तथा युग–परिस्थितियों के बीच इस काव्यधारा का जीवन बहुत कम ही दिनों तक स्थायी रह सका। फिर भी जितने भी दिनों तक अपने पूरे शबाब पर थी, साथ ही इसकी वाणी अन्य संक्राति कालीन धाराओं से तीव्र एवं ओजस्वी थी। इसका सबसे बडा कारण यह था कि सीमित विषय वस्तु के चित्रण में भी जो अखण्डता थी, जो तन्मयता और गहराई थी वह व्यापक विषय वस्तु रखने वाली धाराओं में भी न थी। इनकी अभिव्यक्ति में कहीं दुराव

---

1 – नन्द दुलारे बाजपेयी – हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ 255
2 – रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' – अपराजिता, पृष्ठ 16

छिपाव का नामों निशान तक नहीं मिलता। यदि कुछ मिलता है तो वह है अभिव्यक्ति की सहजता, सरसता एवं स्वाभाविकता। अनुभूतियों के स्पष्ट अभिव्यक्ति के प्रति इन्होने जो साहस दिखाया है, वह तो काबिले तारीफ है ही। इनके शैली शिल्प की साफगोई तथा सीधी एवं अभिधा प्रधान अभिव्यक्ति के तो सभी कायल रहे हैं।

(3) छायावादोत्तर राष्ट्रीय काव्यधारा

वर्तमान समय में राष्ट्रीयता की सीमा काफी व्यापक हो गई है, क्योंकि नये वैज्ञानिक अविष्कारों एवं चिंतन दर्शनों ने हमें नयी चेतना प्रदान की तथा उन्मुक्त एवं व्यापक राष्ट्रीयता की भावना से बाँध दिया है। राष्ट्रीय काव्य की रचना किसी भी देश में हमेशा लिखी जाने वाली चीज नहीं है बल्कि यह किसी विशेष परिस्थिति एवं परिवर्तन के बीच उस समय लिखी जाती है जब देश संकट अथवा संक्रमण काल से बुजर रहा होता है।

अंग्रेजों के आगमन के बाद हमारी राष्ट्रीय – सांस्कृतिक परिस्थितियां संक्रमण के काल से गुजर रहीं थीं। सन् 1857 ई0 के स्वाधीनता संग्राम से ही देश में राष्ट्रीयता की भावनाओं का संचार होना शुरू हो गया था। इस ''राष्ट्रीयता ने हमारे समस्त सामाजिक जीवन को अनेकों रूपों में आन्दोलित कर रखा था और हमारे कवि और लेखक भी इस दुर्दमनीय प्रभाव से बच नहीं सकते थे। विशेषकर जिन्हें इस समय का प्रतिनिधि लेखक और कवि मानते हैं, उन पर इसका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव तो पड़ना ही था। यह सोचना भी असंभव है कि जिस समय हमारे देश में राष्ट्रीय मुक्ति का जीवन–मरण संग्राम चल रहा हो, उस समय हमारे कल्पनाशील कवि और लेखक उस से कुछ भी प्रेरणा न ग्रहण करें, बल्कि उसके प्रति विमुख और अन्यमनस्क होकर रहें।''[1]

सन् 1936 ई0 के पश्चात् हिन्दी काव्य क्षेत्र में राष्ट्रीय कवियों के रूप में जिन्हे सर्वाधिक ख्याति मिली, वे सभी द्विवेदी युगीन काव्यधारा के कवि हैं। इसीलिए कुछ आलोचक इन राष्ट्रीय कवियों को द्विवेदी युगीन काव्यधारा में रखते हैं। इस राष्ट्रीय काव्यधारा के प्रमुख कवियों में 'दिनकर', 'मैथलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सोहन लाल द्विवेदी, केदार नाथ मिश्र –'प्रभात', जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', हरिकृष्ण प्रेमी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्याम नारायण पाण्डेय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उदयशंकर भट्ट, नेपाली जी, भगवतीचरण वर्मा आदि की कविताएं भी राष्ट्रीय कही जा सकती है, लेकिन राष्ट्रीयता इनकी मूल प्रवृत्ति नहीं हैं। राम विलास शर्मा, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शील आदि की कविताएं राष्ट्रीयता से ओत–प्रोत होते हुए भी प्रगतिवादी काव्यधारा का ही सफल प्रतिनिधित्व करती है।

---

[1] – नन्द दुलारे बाजपेई – आधुनिक साहित्य, पृष्ठ 20

उपर्युक्त सभी कवियों में सामाजिक राष्ट्रीयता का उदात्त बोध है, रूढ़ आदर्शों एवं मर्यादाओं की अवहेलना तथा स्वस्थ्य आदर्शों के प्रति अनुरक्ति है, सामाजिक यथार्थ के प्रति अनुराग तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता एवं धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विरोध का भाव है, देश की स्वतन्त्रता तथा समृद्धि की बलवती आकांक्षा है तथा नैतिक एवं सामाजिक हासोन्मुखी प्रवृत्तियों के प्रति खुला विद्रोह का भाव है। इस दृष्टि से सभी कवियों में एकता का भाव दिखायी देता है। लेकिन सभी में कुछ – न – कुछ प्रवृत्तिगत अन्तर अवश्य लक्षित होता है। इन राष्ट्रीय कवियों को तीन वर्गों में रखकर विवेचित एवं विश्लेषित किया जा सकता है – प्रथम, गांधीवादी दर्शन से प्रभावित सत्य और अहिंसा पर अडिग आस्था रखने वाले – मैथलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहन लाल द्विवेदी, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', हरिकृष्ण प्रेमी, केदार नाथ मिश्र 'प्रभात' आदि, द्वितीय देश व्यवस्था को सही रूप देने हेतु कांति की आकांक्षा रखने वाले – रामधारी सिंह 'दिनकर', एवं तृतीय – समाजवादी – मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित प्रगतिवादी धारा के सशक्त कवि – रामविलाश शर्मा, नागार्जुन, रांगेय राघव, केदार नाथ अग्रवाल आदि।

राष्ट्रीय काव्यधारा के कवियों की कुछ विशिष्ठता रही है जो कि इन्हे अन्य धारा के कवियो से अलग श्रेणी में खड़े होने योग्य बनाती हैं । स्वतन्त्रता से पूर्व इन कवियो का मुख्य उद्देश्य था – परतन्त्रता एवं स्वतन्त्रता की वास्तविक व्याख्या प्रस्तुत कर देश की जनता में स्वराज्य प्राप्त हेतु नयी चेतना उत्पन्न करना , अतीत की गौरवशाली स्वस्थ्य परम्पराओं एवं चरित्रों को नये युग की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रस्तुत कर देश की जनता में साहस और उत्साह की भावना पैदा करना, स्वतन्त्र तथा स्वस्थ्य व्यवस्था हेतु आत्मत्याग की भावना जगााकर ,गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन को देश के कोने –कोने में फैलाकर समाज में नैतिक बल पैदा करना , विदेशी सत्ता के शोषण तथा उसकी स्वामियों को उजागर कर उनके विरूद्ध विद्रोह का भाव उत्पन्न करना आदि । लेकिन स्वराज्य– प्राप्ति के पश्चात् इनकी दृष्टि बदली तथा प्राप्त स्वराज्य से इनका मोह भंग हुआ ।अतः इनके काव्य – लेखन का उद्देश्य भी बदला ।स्वतन्त्रता – प्राप्ति के बाद इनके मुख्य उद्देश्य में परिवर्तन आया और देश एवं समाज की विपन्नता से लड़ाई हेतु धर्म , जाति एवं वर्गो की एकता की आवश्यकता पर जोर देना , सुधारवादी भावना की प्रधानता , देशी व्यवस्था के प्रति आकोश का भाव , देशी नेताओं के नैतिक एवं सामाजिक पतन की आलोचना आदि को प्रमुखता मिली ।

भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट निष्ठा तथा विश्व कल्याण की आकांक्षा के कवि मैथिली शरण गुप्त की विचार धारा में एक प्रकार का खुला पन एवं उन्मुक्तता है। राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना तथा मानवता वाद एवं मर्यादावाद की पृष्ठ भूमि पर निर्मित कवि का काव्य बहुमुखी आयाम वाला है। 'द्वापर ','सिद्धराज '(1993वि0), 'नहुष (1997वि0), 'कुणाल गीत (1998वि0), 'अर्जुन–

विर्सजन,' काबा और कर्बला ','विश्व वेदना (1999वि0),'अर्जित(2003वि0),'प्रदक्षिणा(2007वि0),'जय भारत (2009वि0),'राजा प्रथा(2013वि0),'विष्णु प्रिया(2014वि0) आदि छायावादोत्तर युग में लिखी गयी रचनायें राष्ट्रीय चेतना– की भावना को जगाने तथा गांधी वादी आदर्शों की स्थापना की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखती है।

गांधीवादी दर्शन और सिद्धांत को समग्र रूप में रचनात्मक रूप प्रदान करने वालों में सियारामशरण गुप्त का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।ये मूलतः राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना के सशक्त कवि है।'मृष्मयी '(1993वि0),'बापू(1994वि0),'दैनिकी'(1999वि0),'नोआखाली'(2003वि0),'जय हिन्द'(2005वि0),'अमृत–पुत्र' विशेष उल्लेखनीय रचनायें हैं जिनमें कवि एक ओर गांधी वादी दर्शन को समर्थन देता है , देश की सांस्कृतिक परम्पराओं , राजनीतिक –सामाजिक परिस्थितियों , दीनों , अछूतों तथा अबलाओं की समस्याओं का बखूबी उद्धाटन करता है तो दूसरी ओर नोआखाली जैसी साम्प्रदायिक धटनाओं पर मानवीय दृष्टि डालता है तथा स्वर्णिम भविष्य की कल्पना करता है।

छायावादोत्तर कवियों में राष्ट्रीय भावना तथा नये युगनिर्माण की आकांक्षा को पूरी शक्ति एवं सामर्थ्य से ओजस्वी रूपमें प्रकट करने वाले रामधारी सिंह 'दिनकर 'के काव्य में यद्यपि व्यक्तिवादी चेतना की भी झलक मिलती है।लेकिन राष्ट्रीयता एवं सामाजिकता ही इनकी कविता की मुख्य प्रवत्ति रही है।उसमें राष्ट्रीयता का संचरण राजनीतिक – सामाजिक परिस्थितियों के बाध्य थपेड़ो के फलस्वरूप हुआ है। कवि ने स्वयं लिखा है –'' मेरी राष्ट्रीय कविताओं और मेरे जीवन के बीच एक प्रकार की भिन्नता रही है, ...। विप्लव और राष्ट्रीयता का वरण कभी भी मेरा उद्देश्य न था ।............. आत्मा मेरी अब भी ' रसवन्ती ' में बसती है। राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जन्मी , उसने बाहर से आकर मुझे आक्रांत किया ''[1]'हुंकार '(1938), 'रसवन्ती'(1940),'द्वन्द गीत ' (1940), ' कुरूक्षेत्र,(1946), ' सामधेनी'(1941से1946तक की कवितायें), 'धूप और धुआँ (1951) , ' इतिहास के आँसू (1951) ,'रश्मिरथी (1952), दिल्ली (1954),'नीम के पत्ते (1954),'नील कुसुम '(1954)आदि । छायावादोत्तर युग की प्रमुख कृतियां है। 'हुंकार ' में कवि क्रान्ति का भैरव हुंकार करता है–

फेंकता हूँ , लो तोड़ –मरोड़, अरी निष्ठुरे !बीन के तार ,
उठा चाँदी का उज्जवल शंख , फूंकता हूँ भैरव हुंकार [2]

तो 'द्वन्द गीत ' में नियति एवं निराशावाद की ओर उन्मुख हो जाता है।'कुरूक्षेत्र 'में पौराणिकता के बहाने आधुनिक समाज में युद्ध की समस्या तथा उसके औचित्य–अनौचित्य पर

---

[1] – राम धारी सिंह ' दिनकर ' -- चक्रवाल , भूमिका , पृष्ठ –31--33
2–रामधारी सिह 'दिनकर '–हुंकार 'पृष्ठ 10

सवाल खड़ा करता है तो ' धूप और धुआँ' में स्वतन्त्रता के बाद के असन्तोष , दुःख , दरिद्रता एवं पीड़ा के विरूद्ध आवाज उठाता है। कहा जा सकता है कि व्यंग्य , विनोद , ओज , हुंकार एवं मीठे पन से भरी शैली के माध्यम से कवि ने राष्ट्र– निर्माण के प्रश्न तथा सामाजिक विषमताओं को पूरी गंभीरता एवं ओजस्विता के साथ उपस्थित किया है।

राष्ट्रीय कविता की दृष्टि से माखन लाल चर्तुवेदी की 'माता ' (2008वि 0), समर्पण (2013वि0), 'युगचरण ,(2013वि0), जैसी रचनाओं का विशेष महत्व है। इसमें एक ओर कवि की राष्ट्रीय भावना मुखरित हुई है तो दूसरी ओर देश और शहीदों के प्रति मार्मिक भाव प्रकट हुआ है। कवि कहीं देश की समस्याओं को उजागर करता है तो कहीं देशवासियों को उद्‌बोधित कर संघर्षशील बनने की प्रेरणा देता है। विवरण की व्यापकता में न जाकर यहां इतना ही कहना चाहेंगे कि उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त सोहन लाल द्विवेदी –'भैरवी '(1941), वासवदत्ता (1998वि0), 'कूणाल ', चित्रा '(1999वि0), 'प्रभाती , 'युगाधार'(2001वि0), 'पूजा गीत ' ,केदार नाथ मिश्र, 'प्रभात – संवर्त 'कालदहन '(2002वि0), 'कैकेयी' (1951), **कर्ण** (1951), 'तप्तग्रह'(1954), ऋतम्बरा '(1957) , बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन '–'हम विषपायी जनम के ', श्याम नारायन पान्डेय– 'हल्दी घाटी' (1939), 'जौहर ', 'गोरावध'(1950) , 'जगन्नाथ मिश्र' ,'मिलिन्द '– जीवन संगीत (1940) 'नव युग के गान (1999वि), बलि पथ के गीत (1950), ' भूमि की अनुभूति (1952), हरि कृष्ण प्रेमी तथा सुभद्रा कुमारी चौहान का भी इस धारा के अर्न्तगत अपना विशेष महत्व है।

* * * *

अध्याय – २

काव्य के मानदण्ड एवं स्वरूप को प्रभावित करने वाले तत्व

हिन्दी साहित्य के अर्न्तगत छायावादोत्तर युग (1936से1960तक) अनेक द्रष्टियों से अपना विशेष महत्व रखता है।इस कालावधि में जहां एक ओर अनेक आन्दोलनो ने जन्म दिया वहीं दूसरी ओर अनेक विचार धाराओं काभी अविर्भाव हुआ। इस युग के आन्दोलनों की सबसे बड़ी विशेषता उसकी क्षेत्र – व्यापकता है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर एक परिवर्तन की लहर उठी तथा मार्क्सवादी, समाजवादी, अस्तित्ववादी, मनोविश्लेषणवादी, गांधीवादी आदि अनेकानेक विचारधाराओं एवं आन्दोलनों का भी प्रवर्तन हुआ और इन सबने साहित्य एवं समाज दोनो पर अपनी छाप छोड़ी है। इस कालावधि में स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी गई, भारत स्वतन्त्र हुआ तथा स्वराज्य प्राप्ति के बाद की विषम परिस्थितियां भी सामने आयीं और इन सबके पहले द्वितीय महायुद्ध के गम्भीर परिणाम भी देखने को मिले।

युग की परिवर्तित परिस्थितियों एवं घटनाओं का प्रभाव साहित्य एवं साहित्यकार के साथ – ही – साथ समाज पर भी पड़ता है। यद्यपि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है, लेकिन वह समाज से प्रभावित भी होता है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने अगल–बगल घटने वाली घटनाओं से प्रभावित होता है उसी प्रकार साहित्यकार भी दिन–प्रतिदिन समाज में होने वाले परिवर्तनों एवं घटित होने वाली घटनाओं से अछूता नहीं रह पाता। जब साहित्यकार की दृष्टि परिवर्तित होती है, उसके बोध में जागरूकता उत्पन्न होती है तो उसी के अनुरूप उसकी रचना भी मोड़ लेती है। छायावादोत्तर हिन्दी काव्य भी अपने पूर्ववर्ती परिस्थितियों एवं तात्कालिक घटनाओं एवं परिवर्तनों से प्रभावित हुआ है। जिन परिस्थितियों घटनाओं एवं विचारधाराओं ने छायावादोत्तर युग के काव्य के स्वरूप एवं मानदण्ड को सर्वाधिक रूप से प्रभावित किया है, उनका विस्तृत विश्लेषण आगे प्रस्तुत हैं।

1– राजनीतिक परिस्थितियाँ एवं उनसे उत्पन्न चेतना

(क) स्वतन्त्रता – पूर्व चेतना

छायावादोत्तर युग राजनीतिक दृष्टि से उथल–पुथल का युग रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय की चेतना, सन् 1942 की महान कांति, आजाद हिन्द फौज की स्थापना और नौ सेना

विद्रोह, पाकिस्तान की मांग एवं भयंकर नरसंहार, भारत विभाजन और स्वतन्त्रता प्राप्ति का समय, शरणार्थी समस्या, विश्व के अनेक बड़े राष्ट्रों के बीच तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावनाओं का जन्म, पंचशील तथा सहअस्तित्व की भावना का उदय, गांधी – हत्या, आजाद सत्ता की समस्या, आजाद देश के नेताओं की स्वार्थ लिप्सा आदि प्रमुख घटनायें एवं परिस्थितियां हैं, जो छायावादोत्तर युग के काव्यगत मानदण्डों एवं स्वरूपों के निर्धारण में विशेष कियाशील रही हैं। वस्तुतः ये वे समस्यायें हैं जो एक ओर तो सामान्य जन–जीवन को आन्दोलित कर रही थीं तो दूसरी ओर जागरूक साहित्यकारों के मानस पटल को भी कुरेद रहीं थीं और उन्हें युग की परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप दिशा या उद्देश्य ग्रहण करने का संकेत कर रही थीं।

वस्तुतः सन् 1936 के पूर्व ही देश की परिस्थितियाँ इतनी जटिल एवं विषम हो गयी थीं कि वे साहित्यकार को भी आन्दोलित करने लगीं थीं। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य का शिकंजा इस कदर कस चुका था कि उसमें भारतीय जनता का जीना दूभर हो गया था। बंग – विभाजन (1905) तथा दक्षिण – अफ्रीका में भारतीयों पर किये गये अमानुषिक अत्याचार की घटना ने जनता में असन्तोष की भावना को उग्र रूप प्रदान किया । फलतः एक जनान्दोलन उठ खड़ा हुआ । अंग्रजों की कुटनीति के चलते 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। परिणामस्वरूप जाने अनजाने हिन्दुओं और मुसलमानों में आपसी तनाव उत्पन्न होने लगा। निरन्तर चलने वाले आन्दोलनों ने अंग्रेजों को काफी हद तक झकझोर दिया था। सन् 1916 में अंग्रेजों के खिलाफत के आन्दोलन के सिलसिले में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग में समझौता हुआ। इसी वर्ष तिलक के 'होमरूल लीग' तथा एनीबेसेन्ट के 'अखिल भारतीय होम रूल लीग' की स्थापना के साथ ही नवयुवकों में स्वराज्य प्राप्त करने की चेतना दूने जोश से उद्दीप्त हो उठी। प्रथम विश्व युद्ध के अवसर पर गांधी और तिलक ने अंग्रेजों की सहायता की लेकिन बाद में देशवासियों को दमन और अत्याचार के रूप में इस सहायता के कड़वे परिणाम चखने पड़े। इसी के पश्चात् रौलट एक्ट का विरोध तथा जलियाँवाला बाग का नृशंस हत्याकाण्ड भी घटित हुआ।

तात्पर्य यह कि बंग – भंग, प्रथम महासागर में भारतीयों का योगदान, अंग्रेजों के बढ़ते अमानुषिक अत्याचार, 1947 की रूसी राज्य–कांति, होमरूल लीग की हलचलें, गांधी का राजनीतिक में प्रवेश तथा उनका सत्याग्रह एवं असहयोग – आन्दोलन, जलियाँवाला बाग का भयंकर नरमेध आदि राष्ट्रीय – अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने तत्कालीन साहित्य तथा परवर्ती साहित्य को स्पष्ट रूपेण प्रभावित किया तथा कवियों एवं लेखकों को अपने साहित्य सृजन के उद्देश्यो एव प्रतिमानों को बदलने की प्रेरणा प्रदान की।

(i) द्वितीय विश्व युद्ध के समय की चेतना

सन् 1939 में प्रारम्भ द्वितीय विश्व युद्ध से भारत का स्पष्टतः कोई लगाव नहीं था। फिर भी ब्रिटिस साम्राज्य के पराधीन होने के कारण भारत को भी इस युद्ध में अनिच्छा से भाग लेना पड़ा और इस हिस्सेदारी का पूरे देश में व्यापक विरोध हुआ। इस विरोध का सबसे बड़ा कारण यह था कि अंग्रेजों की ओर से युद्ध में शामिल होना एक तरफ साम्राज्यवाद को बढ़ावा देना या पोषण करना होता तो दूसरी तरफ वह गांधी जी के अहिंसावादी नीतियों के विरूद्ध भी होता। महायुद्ध में भारत की सक्रिय साझेदारी की बात पर नेताओं एवं राजनीतिक दलों में एकता नहीं थी। इस प्रकार कांग्रेस भी एक खासी उलझन के बीच से गुजर रही थी। कांग्रेस एक ओर फासिज्म का विनाश चाहती थी – जिसके लिए ब्रिटिश और रूसी एक होकर लड़ाई लड़ रहे थे – तो दूसरी ओर वह ब्रिटिश शासन को सहयोग भी नहीं देना चाहती थी। क्योंकि राष्ट्रीय नैतिकता की दृष्टि से यह उचित न होता। वस्तुतः महायुद्ध के दौरान जितनी भी समस्यायें उत्पन्न हुई, उन सबके मूल में राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता का संघर्ष ही मुख्य था। क्योंकि "अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तो भारतीय जनता ब्रिटेन के साथ थी। कारण, वह रूस आदि राष्ट्रों के साथ मिलकर फासिज्म के विरूद्ध लड रहा था, परन्तु राष्ट्रीय स्तर पर वह ब्रिटिश सरकार के सर्वथा विरूद्ध थी। कारण उसने उसके राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा कर उसे बलात् युद्ध की भट्टी में झोंक दिया था।"[1] फिर भी यह महायुद्ध फासिज्म और नाजीवाद के विरूद्ध था। अतः फासिज्म और नाजीवाद के विरूद्ध भारत में तीव्र प्रतिक्रिया हुई तथा आन्दोलनों एवं प्रदर्शनों के द्वारा जनता ने अपनी इस प्रतिक्रिया को व्यक्त भी किया।

बहरहाल व्यापक तबाही के बाद 2 सितम्बर सन् 1945 को टोकियो – संधि के साथ इस विश्वयुद्ध की समाप्ति हुई तथा रूस उत्पीड़क के विरोधी तथा शोषितों के रक्षक के रूप में उभरकर सामने आया। रूस की इस महान विजय से विश्व का समाजवाद पर विश्वास और अधिक दृढ़ हो गया। फलतः पराधीनता की जंजीर में जकड़ते जा रहे शोषित एवं पराधीन देशों ने रूस से प्रेरणा ग्रहण कर साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद से मुक्ति पाने हेतु और अधिक सक्रिय हो उठे। चीन जनवादी सरकार की स्थापना तथा ब्रिटेन में मजदूर दल की विजय से भारतीय जनता का मनोबल और भी दृढ़ हुआ।

इस युग का कवि भी इन सब परिस्थितियों से प्रभावित हुआ तथा उसमें भी नयी चेतना हिलोरें मारने लगी। इस प्रकार फासिज्म एवं नाजीवाद का विरोध तथा समाजवाद या जनवाद की स्थापना को कवियों ने अपने काव्य का उद्देश्य बनाया तथा साम्राज्यवादी शक्तियों को समूल

---

[1] – शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 18

उखाड़ फेंकने तथा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हेतु कारगर कदम उठाने के लिए लोगो में नयी चेतना जगायी तथा उद्बोधनात्मक एवं प्रेरणात्मक काव्य रचनायें प्रस्तुत कीं।

(ii) – सन् 1942 का महान क्रांति

लगातार समझौतों की बात करते – करते भारतीय नेतागण काफी ऊब चुके थे। साम्राज्यवादी आतंक के खिलाफ जनता भी विद्रोह हेतु समय की तलाश कर रही थी। और ऐसी ही परिस्थितियों के बीच अगस्त 1942 को कांग्रेस कमेटी में 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' का प्रस्ताव पास किया गया। गांधी जी ने अपने संदेश में कहा – "मेरे जीवन की यह अन्तिम लड़ाई है। इस निश्चय को किसी भी हालत में मैं बदल नहीं सकता। इस आन्दोलन से कोई अपने को अलग नहीं रख सकता। ' ' ' ' ' कल सब हिस्दुस्तानी अपने को आजाद समझें और उसी तरह से व्यवहार करें। या तो हिन्दुस्तान को हम आजाद करके रहेंगे या शहीद होकर मरेंगे।"[1] इस प्रकार गांधी जी ने पूरे दृढ़ संकल्प के साथ विदेशी शासकों से पूर्णरूपेण भारत छोड़ देने का आहवान किया। समझौता – वार्ता के प्रति उनका विश्वास उठ गया था। उन्होने स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया कि "आज से खतरे को देखते हुए भारत को स्वतन्त्र कर देने की आवश्यकता है। भविष्य के लिए किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञाओं और गारंटियों से वर्तमान परिस्थिति में सुधार नहीं हो सकता और न उसका मुकाबला किया जा सकता है। इसलिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पूरे आग्रह के साथ भारत से ब्रिटिश सत्ता को हटा लेने की मांग को दुहराती है।"[2]

इस घोषणा ने आग में घी का काम किया और देखते–देखते आन्दोलनों की लहरें उठने लगीं लेकिन इस घोषणा एवं आन्दोलन के साथ ही गिरफ्तारियों एवं दमन चक्रों की पुनरावृत्ति और अधिक भयंकर रूप में शुरू हुई। पुलिस की गोलियों से अनेकानेक राष्ट्रभक्तों को शहीद होना पड़ा। बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल, मध्य प्रदेश, गुजरात आदि की कांति को हिंसात्मक एवं बड़े बर्बरतापूर्ण ढंग से दबाने का कार्य किया गया तथा अमानुषिक कृत्य किये गये। "कुल मिलाकर यह अनुमान किया जाता है कि अगस्त 1942 की इस महान कांति में लगभग दो लाख आदमियों को दण्ड दिया गया। अनेक राष्ट्रभक्तों को तीस–तीस साल तक की सजा दी गई और कुछ को फांसी की सजा मिली।"[3] वस्तुतः अगस्त 1942 की महानकांति भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसकी महत्ता बताते हुए डा0 ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं – "अगस्त की यह क्रांति आधुनिक भारत के इतिहास में एक नवीन युग आरम्भ करती है। यह अत्याचार और शोषण के

---

[1] – हरवशलाल शर्मा (संपा0) – हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, चतुर्दश भाग, पृष्ठ 10 से उदधृत

[2] – पट्टाभि सीतारमैया – कांग्रेस का इतिहास , भाग 2, पृष्ठ 400

[3] – हरवश लाल शर्मा (संपा0) – हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, चतुर्दश भाग, पृष्ठ 11

विरूद्ध एक जनक्रांति थी और इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बसील के पतन अथवा रूस की अक्टूबर क्रांति से की जा सकती थी।"[1]

(iii) – आजाद हिन्द फौज की स्थापना और नौ सेना विद्रोह –

विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत का स्वरूप और अधिक शोषित, दरिद्र तथा जर्जर हालत में सामने आया। क्योंकि युद्ध में हुए समस्त व्यय को अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक शोषण करके निकाला। ठीक इसी समय 'आजाद हिन्द फौज' के नेताओं के ऊपर अभियोग लगाया गया। फलतः जनता का आक्रोश बढ़ा और वह उग्र हो उठी। जगह–जगह व्यापक प्रदर्शन किये गये। 'जयहिन्द' के नारे से सारा देश गूंज उठा। इसका फल यह हुआ कि नेताओं को तो रिहा कर दिया गया, लेकिन अनेक लोग ब्रिटिश सरकार की गोलियों के शिकार बन गये। जिससे आक्रोश एवं असन्तोष की भावना सैनिक विद्रोह के रूप में 18 फरवरी 1946 को उभरकर तब सामने आयी जब नौ–सैनिकों ने जलयानों पर लहराते ब्रिटिश सत्ता के प्रतीक यूनियन जैक को उतार फेंका तथा उसके स्थान पर कांग्रेस, मुस्लिम लीग और कम्यूनिष्ट पार्टी के झण्डे फहराये। बम्बई में चारों तरफ 'एक हो' के स्वर सुनाई पड़ने लगे तथा प्रदर्शन जुलूस और हड़तालों के माध्यम से सैनिकों ने अंग्रेजों को लोहे के चने चबवा दिए। बम्बई की जनता तथा मजदूर वर्ग ने भी उनको पूरा – पूरा सहयोग दिया। यद्यपि यह विद्रोह सफल नहीं हुआ, लेकिन जवानों ने बड़ी बहादुरी से ब्रिटिश सत्ता से टक्कर ली। शहीदों के खून से धरती एक बार पुनः लाल हो उठी। कुछ भी हो इस विद्रोह ने ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता को एक करारा धक्का दिया।

इस प्रकार सन् 1942 की महान क्रांति, आजाद हिन्द फौज तथा नौ–सेना विद्रोह की घटनाओं ने असफल होने के बावजूद स्वराज्य – संघर्ष में लगी भारतीय जनता में नयी चेतना एवं उल्लास भरने का महत्वपूर्ण कार्य किया। कवि–वर्ग भी इन घटनाओं एवं परिवर्तित परिस्थितियों से अप्रभावित नहीं रहा। फलतः उसकी दृष्टि में भी परिवर्तित उपस्थित हुआ तथा उसने अपने काव्य – लेखन के उद्देश्यों में परिवर्तन किया।

(iv) पाकिस्तान की मांग एवं भयंकर नरसंहार

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के विरोध में थी। लेकिन मुस्लिम लीग सरकार का समर्थन कर रही थी। फलतः उसे सत्ता का संरक्षण एवं प्रोत्साहन प्राप्त था। इसी

---

[1] – ईश्वरी प्रसाद – मॉडर्न हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 458–59

संघर्ष – काल के बीच मार्च, 1940 में मुस्लिम लीग ने एक प्रस्ताव पास कर पाकिस्तान की मांग की। लोगों ने इसे मि0 जिन्ना का एक शिगूफा मात्र समझकर टाल दिया। लेकिन भविष्य में इसी मांग ने व्यापक तबाही मचायी। जुलाई 1946 के संविधान – सभा के चुनाव में कांग्रेस की आशातीत सफलता से मि. जिन्ना चिढ़ गये और 'सीधी कार्यवाही' (क्पतमबज ।बजपवद) की घोषणा कर दी। परिणामस्वरूप कलकत्ते में खुलेआम हिन्दुओं का वध किया गया और ये सभी वारदातें तत्कालीन लीगी प्रधानमंत्री सुहारवर्दी की आँखों के सामने की गईं। इस भीषण नरमेध में लगभग 300 से अधिक हिन्दुओं को शिकार बनाया गया। फलतः प्रतिकिया स्वरूप पूरे देश में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठे। मुसलमानों ने अपना दूसरा लक्ष्य नोआखाली को बनाया, जहाँ कलकत्ते से भी भयानक नरमेध हुआ तथा अमानुषिक कृत्य किये गये जिसका साक्षी इतिहास है।

फलस्वरूप देशभर में साम्प्रदायिक की आग फैल गई। नोआखाली तथा कलकत्ता की सीधी प्रतिकिया बिहार में हुई, जहाँ हिन्दुओं ने मुसलमानों से अपना बदला लिया। इस प्रकार धीरे – धीरे गृह–युद्ध जैसा वातावरण निर्मित होता जा रहा था। गांधी जी के सत्प्रयत्नों से ये दंगे तो अवश्य रूक गये लेकिन हिन्दुओं और मुसलमानों के ह्रदय–जो एक दूसरे के प्रति फट गये थे – एक न हो सके। इस प्रकार पाकिस्तान की मांग तथा उसके कारण होने वाले भयंकर नरमेध ने साम्प्रदायिकता की भावना को जन्म दिया, जो कि स्वराज्य – संघर्ष के रास्ते में बाधक भी बना। सामान्य जनता के ही समान कवि–समुदाय में भी स्वराज्य की बलवती आकांक्षा भरी थी, इसका संवेदनशील ह्रदय साम्प्रदायिकता के जहर को कदापि सहन नहीं कर सकता था। फलतः कवियों ने एक ओर साम्प्रदायिकता जैसी असामाजिक भावना की कटु आलोचना की तो दूसरी ओर स्वराज्य – प्राप्ति हेतु साम्प्रदायिक एकता की आवश्यकता पर बल दिया।

(v) – भारत का विभाजन और स्वतन्त्रता प्राप्ति का समय

फरवरी 1947 को एटली ने घोषणा कर दी कि ब्रिटेन जून, 1948 तक भारत छोड़ देगा। भारतवासियों ने इस घोषणा का हार्दिक स्वागत किया। लेकिन कोई भी भारतीय दल इतनी जल्दी सत्ता संभालने को तैयार नहीं था। इसी समय लार्ड बावेल के स्थान पर आये लार्ड माउण्टबेटेन की योजना में पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ली गयी तथा ब्रिटिश साम्राज्य इन दोनों राज्यों को भारत और पाकिस्तान – स्वतन्त्र रूप से सत्ता हस्तान्तरण करने को सहमत हो गया। फलतः 15 अगस्त, 1947 को विभाजन के साथ ही भारत को आजादी प्राप्त हुयी। इस आजादी का पूरे देश में स्वागत किया गया वहीं वामपंथी नेताओं ने इसे 'झूठी स्वतन्त्रता' की संज्ञा दी। इसी प्रकार कवि – वर्ग में भी दो मत थे। विभाजन के पूर्व तो साम्प्रदायिक दंगे, लूटपाट, अत्याचार हुये ही थे लेकिन विभाजन के साथ ही उसकी पुनरावृत्ति और भीषण रूप हुयी।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के पूर्व द्वितीय विश्वयुद्ध, सन् 1942 की महानकांति, आजाद हिन्द फौज की स्थापना और नौसेना विद्रोह, पाकिस्तान की मांग एवं भयंकर नरसंहार, भारत विभाजन एवं स्वतन्त्रता – प्राप्ति आदि प्रमुख घटनायें रही हैं जिन्होने समाज के साथ ही साथ साहित्यकार को भी प्रभावित किया था। यही नहीं स्वतन्त्रता –पूर्व के काव्य –लेखन के मानदण्डों के निर्धारण में भी ये घटनायें एवं परिस्थितियाँ सर्वाधिक कियाशील रही हैं।

(ख) स्वतन्त्रता पश्चात चेतना

(i) शरणार्थी – समस्या

विभाजन के पूर्व के साम्प्दायिक दंगो के बाद लाखों की संख्या मे शरणार्थी पाकिस्तान के प्रदेशों से भागकर भारत पहुँचे। ये शरणार्थी पाकिस्तान के प्रदेशों से भागकर भारत पहुँचे। ये शरणार्थी अभी बस भी नहीं पाये थे इनकी समस्यायें अभी सुलझ भी न पायी थीं कि इसी बीच विभाजन की घटना घटी। इस विभाजन ने देश के समक्ष जो सबसे बड़ी समस्या उत्पन्न की, वह थी शरणार्थियों की समस्या। वस्तुतः विभाजन एवं स्वाराज्य प्राप्ति के बाद भी "जनता माउन्ट बेटेन योजना को पूर्णरूपेण समझ नहीं सकी थी , अतः योजना को प्रकाशित होते ही बँटे हुये प्रदेशों से लोगों का आवागमन प्रारम्भ हो गया था ।"[1] फलतः शरणार्थियों की संख्या दिन दूनी रात चौगनी बढ़ती गयी । इस प्रकार शरणार्थियों की समस्या भारत में नयी सरकार के समक्ष बहुत बड़े संकट के रूप में सामने आयी है। शरणर्थियों की ये समस्यायें इतनी मार्मिक एवं ज्वलंत थी कि इससे सामान्य वर्ग से लेकर विशिष्ट वर्ग तक सभी प्रभावित हुए । भला संवेदनशील कवि क्यों अप्रभावित रहता ? शरणार्थियों की समस्याओं ने उन्हे आन्दोलित किया तथा अपनी ओर खींचा । फलतः उनमें नयी चेतना की लहर दौड़ पड़ी उनका हृदय व्यथित हो उठा और कवियो ने इस समस्या को अपने काव्य में स्थान दिया । कहना न होगा कि इस समस्या ने काव्यगत मानदण्डो के निर्धारण में भी अपनी अहम् भमिका अदा की है।युग की कवितायें ही नहीं अपितु अन्य विधायें भी इसकी साक्षी हैं।

(ii) आजाद सत्ता के प्रति राजनेताओं का प्रलोभन –

सत्ता संभालने के बाद आजाद भारत के समक्ष मुख्य रूप से तीन समस्यायें थी – शरणार्थियों की समस्या, संविधान निर्माण की समस्या और देशी –रियासतों को एक में मिलाकर अखण्ड भारत की कल्पना को साकार बनानें की समस्या । सर्वप्रथम भारतीय सरकार शरणार्थियों की समस्या को सुलझाने में विशेष प्रवृत्त हुई और उसे कुछ सफलता भी मिली , लेकिन परिणाम

---

[1] - शिवकुमार मिश्र –नया हिन्दी काव्य पृष्ठ 24

यह निकला कि धीरे –धीरे आर्थिक व्यवस्था डॉवांडोल होती गयी ।इसी संविधान निर्माण पर भी विशेष बल दिया गया।साथ ही देशी रियासतों को समाप्त कर अखण्ड भारत की कल्पना को साकार बनाने के भी प्रयत्न किये गये । सरदार बल्लभ भई पटेल के सत्प्रयासों से धीरे धीरे समस्त रियासतों का भारत में विलय हो गया और भारत एक अखण्ड राष्ट्र के रूप में स्थापित हुआ। लेकिन कश्मीर की समस्या अभी देश के समक्ष यथावत् बनी हुई थी । जिसके फलस्वरूप भारत और पाकिस्तान के बीच आपसी तनाव और संघर्ष बढ़ा।

स्पष्ट है कि आजाद होने के बाद भारत की तमाम समस्यायें सुलझी , लेकिन कुछ समस्याये अभी भी पूर्ववत बनी हुई थीं और वे क्रांतिकारी प्रयासों एवं समाधानों की माँग कर रही थी ।लेकिन राजनेता इन समस्याओं को जानते हुए भी उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते थे ।इसका सबसे बड़ा कारण था – राजनेताओं की व्यक्तिगत स्वार्थलिप्सा । वस्तुतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले राजनेता एक उददेश्य से संगठित थे । तथा उनके सामने एक महान लक्ष्य था – स्वराज्य प्राप्ति का । स्वराज्य प्राप्ति के बाद परिस्थितियाँ बदली तथा देश की बागडोर उन्ही राजनेताओ के हाथ में आयी , जो स्वराज्य प्राप्ति की लड़ाई में संघर्षरत थे। देश की जनता को इन राजनेताओं से काफी उम्मीदें थीं। लेकिन स्वराज्य प्राप्ति के बाद उनके महान लक्ष्य में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। एक ओर देश की परिस्थितियां दिनों–दिन विषम होती जा रही थी, समस्यायें मुँह बाये खड़ी थीं, तो दूसरी ओर राजनेता पद एवं अधिकार प्राप्ति की स्वार्थ–लिप्सा में संलग्न थे। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ–लिप्सा के चलते देश की परिस्थितियों एवं समस्याओं को नजर अंदाज कर दिया गया फलतः परिस्थितियां और जटिल होती गयीं। कहना न होगा कि जनता में जिस आजादी की प्राप्ति के लिए ललक समायी हुयी थी, वे सभी आकांक्षायें एक – एककर ध्वस्त होने लगीं। फलतः प्राप्त आजादी से सामान्य जनता का मोहभंग हुआ तथा राजनेताओं के प्रति वितृष्णा का भाव उत्पन्न हुआ।

देश के कवियों एवं साहित्यकारों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु जन–जागरण की चेतना को जन–जन तक पहुंचाने का कार्य किया, साम्राज्यवादी – उपनिवेशवादी शक्तियों के खिलाफ आवाज बुलन्द की, स्वराज्य प्राप्ति की लड़ाई में लगे नेताओं एवं राष्ट्रभक्तों के गणगान कर, उनके त्याग को प्रदर्शित कर सामान्य जनता के बीच उन्हें राजनेता के रूप में स्थापित किया तथा नये एवं स्वतंत्र समाज की स्थापना हेतु अपनी आवाज बुलंद की। स्वराज्य–प्राप्ति होने पर कवियों ने उसका बड़े उल्लास एवं हर्ष के साथ अभिनन्दन किया। लेकिन यह उल्लास एवं हर्ष बहुत दिनों तक टिक नहीं पाया और शीघ्र ही प्राप्त आजादी से उनका मोह भंग हुआ। क्योंकि साहित्यकार भी देश एवं देश के नेताओं की इस विडम्बनापूर्ण स्थिति से परिचित होने लगे थे। फलतः कवियों ने आजाद भारत में नये समाज के निर्माण के लिए जनता को एकजुट होने का संदेश दिया, राजनेताओं ने स्वार्थ – लिप्सा की पोल खोली तथा प्राप्त आजादी को झूठी

बता वास्तविक आजादी की प्राप्ति हेतु नयी चेतना जगायी। उन्होने समाजवादी व्यवस्था पर आधारित नये समाज निर्माण की आकांक्षा व्यक्त की।

इस प्रकार आजाद भारत की पूर्ववत् बनी समस्यायें तथ अपने व्यक्तिगत स्वार्थों में लगे राजनेताओं के कार्यो ने कवियों को आंदोलित एवं व्यथित कर दिया था। जिसके फलस्वरूप उन्हें अपने काव्य लेखन के मानदण्डों एवं उद्देश्यों को परिवर्तित करने की आवश्यकता महसूस हुई। इन सब परिस्थितियों के बीच उनकी दृष्टि समाजवादी विचारधारा पर आधारित समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की ओर घूमी। कहना न होगा कि इस समाजवादी विचारधारा को कवियों ने काव्यगत मानदण्ड के रूप में भी स्वीकार किया।

(iii) तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावना तथा पंचशील सिद्धान्त का उदय

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व के प्रमुख राष्ट्रों ने एकजुट होकर विश्व–जनता की शांति हेतु 'संयुक्त राष्ट्र संघ' नामक विश्व–संस्था की स्थापना की। यूरोप ही नहीं एशिया की भी जनता साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी आतंक, पीड़ा तथा गुलामी के विरूद्ध अपनी आवाज उठा रही थी। अप्रैल 1947 में दिल्ली में 'एशियन रिलेशन्स कॉन्फ्रेन्स' का उद्घाटन किया गया तथा उसमें साम्राज्यवादियों के खिलाफ आवाज बुलन्द की गयी। कवियों एवं साहित्यकारों ने भी साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द की तथा देश की मुक्तिकामी जनता में एक अदम्य जोश उत्पन्न किया। इस प्रकार साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का विरोध तथा स्वराज्य की स्थापना को कवियों ने अपने काव्य लेखन का उद्देश्य बनाया। वस्तुतः सन् 1950 तक विश्व–राजनीति में अनेक बदलाव आये। अमेरिका और रूस के संबंधों में विशेष कटुता उत्पन्न हुई तथा उनके बीच शीत युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। जिसके परिणामस्वरूप विश्व के अनेक दूसरे राष्ट्रों में भी तनाव उत्पन्न हुआ क्योंकि सभी देश किसी न किसी रूप में इन दोनों में से किसी एक देश से जुड़े थे। भारतीय नेता स्वराज्य प्राप्ति के बाद भारत की अपनी एक अलग छवि बनाना चाहते थे तथा अन्य देशों से संबंध रखते हुए अपने देश को रूस एवं अमेरिका जैसे बड़े राष्ट्रों के समान प्रतिष्ठित करने की आकांक्षा रखते थे और इसी भावना के चलते भारत इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के समय तटस्थता की नीति अपनाई। इस नीति का फल यह हुआ कि रूस और उसके मित्र राष्ट्रों ने उसकी सराहना करते हुए उनके साथ अपने अच्छे संबंध स्थापित किये तो दूसरी तरफ अमेरिका, ब्रिटेन तथा उसके पक्ष के राष्ट्रों ने इस नीति की कटु आलोचना करते हुए भारत को नये षडयन्त्रों में फंसाने के असफल प्रयास किए।

ऐसे ही माहौल में साम्राज्यवादी देशों – अमेरिका, ब्रिटेन आदि – ने सीटो (एस. इ. ए. टी. ओ.) तथा अटलांटिक – संधि जैसी अकामक संधियों की नींव रखी। तटस्थ एवं

शांति प्रिय राष्ट्रों ने इसकी कड़ी आलोचना की। जून 1950 की इण्डोनेशिया यात्रा के दौरान पं. नेहरू ने इस तृतीय विश्वयुद्ध की स्थिति का जनक कहा तथा साम्राज्यवाद – उपनिवेशवाद के खिलाफ अभियान तेज करने का आग्रह किया। सन् 1950 में ही शुरू होने वाले कोरिया युद्ध से शांति प्रिय देशों का असंतोष और अधिक गहराया। सन् 1954 में अमेरिका और पाकिस्तान के बीच सैनिक संधि हुई जिससे भारत पाक तथा भारत अमेरिका के बीच तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस प्रकार सीटो–संधि, अटलांटिक –संधि तथा पाकिस्तान–अमेरिका–सैनिक–संधि आदि घटनाओं ने मिलकर तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावनाओं को जन्म दिया। परिस्थितियां जटिल से जटिलतर होती जा रहीं थीं, तृतीय महायुद्ध के बादल आकाश पर मंडरा ही रहे थे कि रूस तथा अमेरिका ने उद्जन बम बनाने की घोषणा की। विश्व के शांतिप्रिय राष्ट्रों ने इस विनाशकारी अस्त्र पर रोक लगाने हेतु शांति आन्दोलन प्रारम्भ किये तथा सामूहिक रूप से तृतीय विश्व युद्ध की स्थिति को समाप्त करने की कोशिश की। क्योंकि द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर अणुबम की विभीषिका देखने को मिली थी, तृतीय महायुद्ध का संकट अपने साथ उद्जन बम की विभीषिका लेकर उपस्थित हुआ।

इसी समय वियतनाम में फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों के विरोध तथा उसके दमन के फलस्वरूप एशिया में एक बार पुनः भयानक रक्तपात हुआ। इसी संघर्ष के बीच कोलम्बों में एक सम्मेलन हुआ जिसमें भारत, पाक, बर्मा, श्रीलंका, इण्डोनेशिया जैसे पांच एशियाई राष्ट्रों ने एक स्वर से तटस्थता के सिद्धान्त का समर्थन किया तथा साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के खिलाफ अपनी बुलन्द आवाज को पुनः उद्घोषित किया। इसी के बाद वियतनाम में युद्ध स्थगित हो गया तथा तृतीय विश्व युद्ध के घुमड़ते बादल छंटते चले गये। लेकिन परिस्थितियां अभी भी यथावत् थी। आक्रामक शक्तियों का आतंक अभी भी बना हुआ था तथा वे कभी भी महायुद्ध की स्थिति को उत्पन्न कर सकती थीं। अतः उनकी खिलाफत तथा विश्व – शांति की स्थापना के प्रयास अब भी जारी रहे। 'पंचशील' (भारत–चीन मैत्री के पांच आधारभूत नियम) इन शांति प्रयासों के क्षेत्र में एक कारगर कदम के रूप में उपस्थित हुआ, जिनका पूरे विश्व के शांति प्रेमी देशों ने स्वागत किया। तीस अफ्रीकी एवं एशियाई देशों के सम्मेलन (बुंडुंग, इण्डोनेशिया, 1955) ने भी पंचशील के सिद्धान्त को एकमत से स्वीकार किया। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि भारत अपनी अलग छवि स्थापित करने का इच्छुक था। पंचशील की स्थापना के साथ ही वह विश्व के एक तीसरे गुट के निर्माता के रूप में सामने आया। इसी बीच रूस ने सह–अस्तित्व के सिद्धान्त की घोषणा की। इस प्रकार 'पंचशील' ने जिस शांति स्थापना की नींव रखी थी, उसे सह अस्तित्व के इस सिद्धान्त ने और अधिक पोख्ता कर ऊंचा उठाया। इस प्रकार इन दोनो सिद्धान्तों ने शांति प्रयत्नों को एक नयी

शक्ति प्रदान की तथा उसने तीसरे विश्व युद्ध के घुमड़ते बादलों को छंट जाने के लिए मजबूर कर दिया।

छायावादी युग का कवि एक ओर साम्राज्यवादी–उपनिवेशवादी ताकतों से परिचित था तो दूसरी ओर शांति कामी राष्ट्रों से भी। लेकिन उसकी संवेदना एवं सहानुभूति शांति कामी राष्ट्रों के ही साथ थी, क्योंकि वह स्वभावतः शांति प्रिय होता है। इस प्रकार इस युग के कवियों ने युग की आवश्यकताओं को परखा एवं समझा और अपने काव्य सृजन के उद्देश्यों पर विचार किया फलतः उसे काव्यगत मानदण्डों में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हुई। इस प्रकार उसने एक ओर आक्रामक शक्तियों की कटु भर्त्सना की तो दूसरी ओर शांति प्रिय राष्ट्रों के सत्प्रयासों की प्रशंसा।

2– आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न चेतना

उपर्यक्त राजनीतिक परिस्थितियों और राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के आकलन के पश्चात "केवल दो तथ्य ही उभरकर सामने आते हैं – एक भारत की पूंजी – उसकी सम्पन्नता– उसके विशाल प्राकृतिक साधन एवं अपार जन शक्ति, जिसका उचित उपयोग उसकी वर्तमान जनसंख्या के अतिरिक्त भी करोड़ों लोगों की उदरपूर्ति करने में समर्थ है, दूसरा भारत की दरिद्रता, उसके बहुसंख्यक निवासियों का दुःख और अभावों से भरा जीवन, जहां केवल भूख, बेकारी, बीमारी और अकाल मृत्यु है।"[1] वस्तुतः भारत अपार पूंजी और संसाधन रखते हुए भी विश्व के दरिद्रतम् देशों में से एक था। यह एक ऐसा कटु सत्य था, जिसे नकारा नहीं जा सकता था और इस स्थिति का जन्मदाता कोई दूसरा नहीं अपितु ब्रिटिश साम्राज्यवादी शोषण ही था। यहां उन परिस्थितियों का आकलन आवश्यक है, जिनका प्रभाव जन सामान्य के मानस के साथ – ही – साथ कलाकारों एवं रचनाकारों की सोंच पर भी गहराई से पड़ा था।

(क) स्वतन्त्रता पूर्व चेतना

सन् 1936 से 1960 तक का युग आर्थिक दृष्टि से विपन्नता, विषमता और उससे उत्पन्न संघर्ष का काल रहा है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपनी व्यापारिक नीति के तहत स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पूर्व तक भारत के अपार प्राकृतिक संसाधनों तथा अन्य आर्थिक स्त्रोतों का खुलकर प्रयोग किया। हमारी पूंजी धीरे – धीरे विदेशी खजानों में भरती गई और परिणाम यह हुआ कि हमारा देश आर्थिक रूप से बेहद विपन्न होता चला गया। और ब्रिटिश देश सम्पन्नता के शिखर पर पहुंचता गया।

---

[1] – शिव शंकर मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 14

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भांरतीय उद्योग धन्धों की स्थिति काफी बेहतर थी। लेकिन अंग्रेजों ने भारत में आने के साथ ही यहां के उद्योग धन्धों पर कब्जा जमाया तथा अपने यहां के तैयार माल की खपत हेतु यहां के उद्योग धन्धों को नष्ट कर दिया। इस प्रकार पहले तो ब्रिटिश शासन ने भारत में औद्याोगिक विकास का विरोध किया। लेकिन बाद में चलकर फ्रांस के पतन, ब्रिटिश कल–कारखानों के विध्वंश आदि के चलते उन्हें अपनी नीति बदलनी पड़ी। उन्हें इसका भी भान हुआ कि उपनिवेशवाद को सफल बनाने हेतु औघोगिक विकास का होना आवश्यक है। फलतः औद्योगिक विकास को बढ़ावा मिला। प्रथम विश्व युद्ध ने पूंजीपतियों तथा उद्योगपतियों को लाभ कमाने का एक अच्छा अवसर दिया। जिसके चलते उद्योगपतियों तथा पूंजीपतियों ने उद्योगों में पूंजी लगाकर उन पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया। इस प्रकार बड़े–बड़े उद्योगों और मिलों पर भारतीय पूंजीपतियों का सिक्का जमता गया। पहले ये उद्योग धन्धें विदेशी पूंजीपतियों के हाथ में थे। लेकिन उद्योगों पर भारतीय उद्योग पतियों एवं पूंजीपतियों के अधिकार के साथ ही गांव में साहूकार एवं महाजन वर्ग का उदय हुआ। जिन्होने सामान्य जनता को विपन्न से विपन्नतर बनाने में अहम् भूमिका निभायी। भारतीय पूंजीपतियों के एकाधिपत्य के साथ ही दैनिक वस्तुओं के मूल्य इतने बढ़ गये कि जनता को अपना जीवन निर्वाह करना मुश्किल हो गया। फलतः उन्हें बाध्य होकर कर्ज का सहारा लेना पड़ा। महाजन वर्ग सरकारी शोषण से मुक्त था, अतः वह धीरे–धीरे भूमि का स्वामी बनता गया साथ ही जमींदारों से अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली भी। यह नया शोषक वर्ग गांवों से दूर नगरों में रहकर कारिंदों के माध्यम से काम करता था। वह खेती का महज एक व्यापार मात्र समझता था। खेती के होने या न होने का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इस व्यापारिक नीति तथा किसानों के शोषण के फलस्वरूप फसलों का उत्पादन काफी प्रभावित हुआ। इस प्रकार धीरे – धीरे उत्पादन की क्षमता घटने लगी और अकाल की परिस्थितियाँ निर्मित होने लगीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यापारिक नीति ने ही अकाल की परिस्थितियों को जन्म दिया था। बंगाल का अकाल इन्हीं नीतियों की उपज थी। वस्तुतः सन् 1943 का बंगाल का अकाल एक हृदय–विदारक घटना थी, जिसने "40 लाख प्राणियों की बलि ली। ऐसा न था कि बंगाल में चावल की कमी हो, चावल भरपूर था, उसका भाव अवश्य 100/– प्रति मन तक पहुंच गया था, जो सामान्य जनता की पहुच के बाहर था।" अकाल की ये परिस्थितियां ट्रावनकोर तथा मालावार की पहाड़ियों में भी अपना भीषण रूप दिखा रहीं थी। इस अकाल की भीषणता का अनुमान सिर्फ इस बात से लगाया जा सकता है कि विश्व युद्धों के दौरान जितने व्यक्ति काल कवलित नहीं हुए थे, कहीं उससे अधिक व्यक्ति इस भयंकर अकाल के गाल में समा गये। अकाल के पश्चात ही भयंकर महामारियों का प्रकोप हुआ और सहस्त्रों की संख्या में देशवासियों को असमय ही संसार से

विदा लेनी पड़ी। वस्तुतः ये वर्ष भारतीय जनजीवन के लिए अभिशाप बनकर आये थे। भारतीयों को इसी समय पहली बार अपनी निरीहता का गम्भीर रूप से बोध हुआ। लेकिन इन सब घटनाओं से ही उनकी आंखें खुलीं, उन्हें एक प्रेरणा प्राप्त हुई तथा भारतीय जनमानस में एक व्यापक और दृढ़ चेतना हिलोरें मारने लगीं।

सामाजिक प्राणी होने के नाते साहित्यकार भी इनसे प्रभावित हुए। एक ओर उन्होने इन अकालों एवं महामारियों के प्रति अपनी गहरी संवेदना प्रकट की तो दूसरी ओर इसके कारकों की कटु आलोचना की। उन्हें यह मालुम था कि जब देश पराधीनता की बेड़ी में जकड़ा हुआ है तब तक इसी तरह देश का आर्थिक शोषण होता रहेगा और देश गरीब से गरीबतर होता जायेगा। अतः छायावादोत्तर युग के कवियों ने इन आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों से उबरने के लिए तथा आर्थिक शोषण को देर करने के लिए जनता में नयी चेतना जगायी और काव्य–सृजन में इस लक्ष्य को हमेशा सामने रखा। अकाल के संबंध में निकले 'हंस' पत्रिका का 'बंगाल का अकाल' अंक तथा अकाल से संबंधित कविताओं का संग्रह 'बंग–दर्शन' विशेष उल्लेखनीय रहा। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के पूर्व ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों एवं उनके शोषण से मुक्ति पाना ही सबसे बड़ी समस्या थी। युगीन कवियों ने इन आर्थिक शोषण के रूपों को प्रकट कर जन सामान्य में ब्रिटिश शासक के प्रति आक्रोश का भाव उत्पन्न करने का कार्य किया जो कि युग की आवश्यकताओं को देखते हुए आवश्यक भी था। वस्तुतः ये आर्थिक परिस्थितियां तत्कालीन कवियों के काव्य लेखन के मानदण्डों को निर्मित करने में विशेष क्रियाशील रही हैं।

(ख) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की चेतना

उपर्युक्त आर्थिक विभीषिकाओं के होते हुए भी भारतीय जनमानस अपने अभावों एवं कष्टों से छुटकारा पाने हेतु साम्राज्यवादियों के खिलाफ कमर कस के संघर्ष करता रहा। फलतः स्वतन्त्रता मिली और देश की बागडोर कांग्रेस के हाथों लगी। जिन परिस्थितियों में कांग्रेस ने सत्ता सम्भाली, उस समय भारत की आर्थिक दशा लुंज पुंज हो गयी थी। क्योंकि ब्रिटिश शासन ने अपने शोषण से उसे पूर्ण रूपेण खोखला कर डाला था। आजाद भारत में देश की आर्थिक नीति क्या हो ? इस संदर्भ में कांग्रेसी नेताओं में व्यापक मतभेद था और वे इसके चलते अपनी एकता भंग नहीं करना चाहते थे। अतः स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक वर्षों में आर्थिक प्रश्नों को नहीं उठाया गया और उन्हें पूरी तरह से टाल दिया गया। लेकिन खाद्य संकट और मंहगाई दिनो दिन बढ़ती ही जा रही थी। दूसरी ओर कश्मीर युद्ध व्यय ने देश की आर्थिक रीढ़ ही तोड़ दी थी। जनता के कष्ट को देखते हुये नये कर लगाना संभव नहीं था। फलतः देश की बढ़ती गरीबी और खाद्य–संकट को देखते हुए सरकार

क़ो बाध्य होकर इस प्रश्न को उठाना ही पड़ा और अनेक योजनाओं को रोक आर्थिक नीति पर विचार करना पड़ा। नयी आर्थिक नीति के अनुसार विदेशों से, विशेषकर अमेरिका में आर्थिक सहायता प्राप्त करने का निर्णय किया गया।

अपनी नयी आर्थिक नीति के चलते भारत ने अमेरिका के समक्ष अपनी मांग रखी और अमेरिका खाद्यान्न देने को तैयार हो गया। लेकिन अमेरिकी सहायता उसके व्यक्तिगत स्वार्थों से भी थी। क्योंकि अमेरिकी राष्ट्रपति ने स्पष्ट भी कर दिया था कि भारत व अन्य देशों को दी जाने वाली सहायता अमेरिका की विदेश नीति का ही एक अंग है।[1] तात्पर्य यह कि भारत को खाद्यान्न तो जरूर प्राप्त हुआ लेकिन आत्माभिमान खोने के बाद। इस नयी आर्थिक नीति से भारतीय जनता को बहुत अधिक निराशा हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के सभी वादों और घोषित आर्थिक नीतियों को नजरअंदाज कर दिया गया। क्योंकि स्वराज्य – प्राप्ति के पश्चात न तो सरकार ने विदेशी पूंजी को जब्त करने के सिलसिले में कोई कदम उठाया और न उद्योगों के राष्ट्रीयकरण किये गये। 17 फरवरी 1948 को प्रधान मंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू के ऐलान से भी यही बात स्पष्ट होती है जिसमें उन्होने कहा कि "आर्थिक व्यवस्था में कोई आकस्मिक परिर्वतन नहीं होगा। जहां तक संभव होगा, मौजूदा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायेगा।"[2] इसके साथ ही विदेशी पूंजी भी भारत के आर्थिक शोषण में पूर्ववत् लगी रही। यही नहीं बल्कि साढ़े नौ करोड़ रूपये प्रति वर्ष ब्रिटेन के उन व्यक्तियों के पास भेजे जाते रहे जो स्वतन्त्रता के पूर्व भारत के उच्च पदों पर कार्यरत थे। परिणाम स्वरूप देश की आर्थिक – नीति की यह असफलता कांग्रेसी सरकार के समक्ष एक बड़ी समस्या बन गयी थी। जनता में आर्थिक समस्या बन गयी थी। जनता में आर्थिक समस्या को लेकर दिनों – दिन असंतोष की खाई गहराती ही जा रही थी।

3– सामाजिक परिस्थितियाँ एवं उनसे उत्पन्न चेतना

आर्थिक तथा राजनीतिक रंगमंच पर होने वाले परिवर्तनों ने भारत की सामाजिक स्थिति को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया है। ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय समाज में वर्गों का अविर्भाव हुआ। जातिगत, वर्णगत, धर्मगत और अर्थगत वर्ग प्रमुख रहे हैं। लेकिन बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही विदेशी सत्ता से संघर्षरत भारतीय समाज अपने अन्य भेदभाव भूलकर केवल तीन वर्गों में बटा था। ये वर्ग थे – निम्न वर्ग, मध्य वर्ग और उच्च वर्ग। ये हर जाति, हर धर्म और वर्ण में उस काल में अपनी अस्मिता बनाए हुए थे। अतः जब सामाजिक चेतना की बात चलती है तो हमें अन्य विभेदों

---

[1] – बी. टी. रणदिवे – दि क्राइसिस ऑफ इण्डियन इकॉनामी, पृष्ठ 19

[2] – रजनी पाम दत्त – भारत : वर्तमान और भावी, (हिन्दी संस्करण) पृष्ठ 292 से उदधृत

से अलग हटकर केवल इन्ही तीन वर्गों को आधार बनाना चाहिए और उन्ही के आधार पर तत्कालीन सामाजिक चेतना की संगतियों एवं विसंगतियों पर प्रकाश डालने की कोशिश की जानी चाहिए।

इन तीन वर्गो ने आजादी की लड़ाई में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। निम्नवर्ग ने तो अपनी समष्टिगत चेतना का प्रमाण अनेक अवसरों पर प्रस्तुत किया है। उनके लिए देशहित स्व–हित की अपेक्षा बड़ा और महत्वपूर्ण था। ठीक इसके विपरीत उच्च वर्ग के लिए देश और समाज व्यक्तिगत स्वार्थी सिद्धि के साधन मात्र थे। स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल होने के मूल में भी उनके वैयक्तिक स्वार्थ ही प्रमुख थे।[1] मध्यवर्ग की स्थिति हमेशा ढुलमुल रही है। वह कभी तो स्वतन्त्रता संग्राम में खुलकर शामिल हुआ, उसका नेतृत्व किया, कष्ट सहकर, पीड़ित होकर उसे आगे बढ़ाया तथा चरमोत्कर्ष पर पहुंचाने का कार्य किया तो कभी अपनी अन्दुरूनी एवं व्यक्तिगत दुर्बलताओं को भी प्रकट किया तथा किसानों एवं मजदूरों के हितों की भी उपेक्षा की।

(i) दलित एवं शोषित वर्ग की चेतना

दलित एवं शोषित वर्ग – किसान, श्रमिक, मजदूर आदि आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक पीड़ित रहा है। महाजन वर्ग के उदय के साथ ही किसानों के ऊपर दोहरी चोट पड़नी शुरू हो गयी। साहूकारों एवं कारिन्दो ने मिलकर किसानों की स्थिति को पूरी तरह से तबाह कर डाला। इस प्रकार ब्रिटिश शासन के दौरान जो वर्ग सबसें अधिक पीड़ित हुआ वह था – किसान। किसान के लिए कृषि ही जीविका पार्जन का मुख्य साधन था। ब्रिटिश हुकूमत के दौरान सरकार की आर्थिक नीति ने जो मोड़ लिया उसमें कृषक वर्ग का अपनी ही भूमि पर से स्वामित्व समाप्त होता गया और जमींदार महाजन तथा पूंजीपति वर्ग उस पर हावी होते चले गये। औद्योगिक व्यवस्था की स्थापना के साथ ही व्यापारिक नीति को बढ़ावा मिला और इन सबका परिणाम यह निकला कि धीरे – धीरे खाद्यान्नों का उत्पादन कम होता गया। फलस्वरूप अकाल के बादल मंडराने लगे और आर्थिक धुरी ही छिन्न – भिन्न होती चली गयी।

कृषक अपने जीवन – यापन एवं कृषि – कार्य हेतु ऋण लेने के लिए बाध्य हुए। लेकिन ऋण चुकाने का उनके पास कोई जरिया नहीं था। स्थिति तो यह हो गई कि एक पुश्त का कर्ज कई पुश्तों तक बकाया रह जाता था। पुश्त–दर–पुश्त कृषकगण का ब्याज चुकाते रहते और निरन्तर नये – नये ऋण लेने के लिए विवश होते। 'ऋण चुकाने की असमर्थता के परिणामस्वरूप किसान , खेतिहर मजदूर बना, शहरों को चला और अन्ततः मशीनी दुनिया की विभीषिका में ग्रसित

[1] – शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 28

होकर घुल गया।'' – ऋण के ब्याज में अपनी समूची उपज देकर भूखों मरने के लिए विवश किसान साहित्यकार की दृष्टि से बहुत दिन दूर नहीं रह पाया। किसानों की इस दुर्गति का प्रभाव एवं चित्रण तत्कालीन साहित्य, विशेषकर प्रगतिवादी काव्य में देखा जा सकता है। ऐसा नहीं था कि किसान वर्ग अपनी इस स्थिति से परिचित नहीं था। वह सब कुछ जानते हुए भी मजबूर था। लेकिन उनके मन में भी एक विक्षोभ की भावना हिलोरें मार रही थी। सन् 1917 की रूसी क्रांति के बाद किसान – वर्ग में भी एक नई चेतना जागी तथा उन्होने अपने हितों की रक्षा हेतु संगठित होकर आंदोलनों को भी जन्म दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय सरकार ने कृषक शोषण को दूर करने हेतु अनेक प्रभावशाली कदम उठाये। यद्यपि जमींदारी प्रथा के उन्मूलन, ग्राम–पंचायतों तथा अन्य सरकारी संस्थाओं एवं कृषि योजनाओं की स्थापना के साथ ही उनकी स्थिति में कुछ तब्दीली अवश्य हुई लेकिन किसी क्रांतिकारी परिवर्तन का संकेत नहीं प्राप्त हुआ। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन अवश्य हुआ लेकिन अब भी जमींदार किसी न किसी रूप में हर गांवों में थे। उनके शोषण में कमी भले ही आ गई थी वह पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ था। इस प्रकार किसानों की समस्या अब भी एक क्रांतिकारी समाधान की मांग कर रही थी। प्रगतिवादी कवियों ने इनकी समस्याओं को अपने काव्य के माध्यम से वाणी प्रदान की तथा उन्हें अपने काव्य के एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में भी अपनाया।

साम्राज्यवादियों के शोषण का दूसरा लक्ष्य श्रमिक वर्ग था। किसान जमींदारों और साहूकारों के शोषण का शिकार बना जबकि श्रमिक – वर्ग पूंजीपतियों के शोषण का विशेष शिकार हुआ। दोनो की स्थिति लगभग एक जैसी ही थी। किसानों के समान श्रमिक पूंजीपतियों से ऋण लेता और ऋण अदा न कर पाने के कारण धीरे – धीरे गुलाम बनता जाता। लेकिन राजनीतिक सामाजिक परिवर्तनों से यह वर्ग भी प्रभावित हुआ और उनमें नई चेतना जागी। परिणाम स्वरूप अनेक श्रमजीवी संगठनों की स्थापना की गई। 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना के साथ ही श्रमजीवी वर्ग साम्राज्यवादियों एवं पूंजीपतियों के खिलाफ एक जनशक्ति के रूप में उभरकर सामने आया तथा अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। लेकिन औद्योगिक संस्थानों के निरन्तर विकास एवं बढ़ोत्तरी के चलते श्रमिक एवं मजदूर – वर्ग की संख्या दिनों – दिन बढ़ती ही गई और उनकी दशा भी पूर्ववत् बनी रही। साथ ही आर्थिक तंगी, सामाजिक हीनता और शिक्षा के अभाव के फलस्वरूप वह समाज में उपेक्षित ही बना रहा। आजादी के पश्चात इस वर्ग की दशा सुधारने के लिए अनेक प्रयास किये जिससे उनकी स्थिति में कुछ सुधार भी हुआ। लेकिन किसानों की ही भांति इनकी दशा में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। छायावादोत्तर युग के कवि की संवेदना किसानों के साथ – ही – साथ श्रमिक – वर्ग के भी साथ रही है तथा उनकी प्रमुख कविताओं का पात्र भी बना है।

(ii) मध्य वर्गीय चेतना

यह वर्ग हमारे समाज का सबसे बड़ा वर्ग है। इसके भी कई स्तर हैं यथा – उच्च मध्य वर्ग तथा निम्न मध्य वर्ग। औद्योगिक विकास, शिक्षा के प्रसार, निजी या सरकारी प्रतिष्ठानों की वृद्धि आदि के चलते इस वर्ग का उदय हुआ। यह मध्य वर्ग किसानों और श्रमिकों की अपेक्षा थोड़ा बेहतर जीवन जीने का स्वप्न देखता है। लेकिन द्वितीय महायुद्ध ने इस वर्ग को भी तोड़ कर रख दिया। महायुद्ध के पश्चात मंहगाई और बेकारी का साम्राज्य छा गया। मध्यवर्गीय जनमानस को बेहतर जीवन जीने की लालसा की पूर्ति हेतु इस दौरान अपनी पत्नियों के आभूषणों तथा पैतृक सम्पत्ति तक को बेचना या गिरवी रखना पड़ा। इस प्रकार इस समस्या ने उसके मानसिक ढांचे को भी बदलने में अहम् भूमिका निभाई। एक ओर वह अच्छे जीवन को जीने की आकांक्षा करता तो दूसरी ओर उसे कदम कदम पर असफलता ही मिलती जाती। फलस्वरूप वह पराजयवादी, पलायनवादी, निराशावादी एवं पूर्णतया भाग्यवादी होता चला गया। उसकी मनोवृत्ति धीरे – धीरे अंतर्मुखी होती गयी एवं वह मानसिक रूप से रूग्ण होता चला गया।

एक बात और ! मध्यवर्ग के समक्ष एक सबसे बड़ी समस्या थी – अपने जीवन एवं समाजगत संस्कारों के पालन की। और इन संस्कारों के पालन में उसे भारी खर्चे का बोझ वहन करना पड़ता था। इस प्रकार संस्कार पालन में होने वाले भारी खर्चे के बोझ को ढो पाने में असमर्थ होने के बावजूद इन्हें ढोते रहना जैसे उसकी नियति बन चुकी थी। परिणाम स्वरूप उसकी स्थिति धीरे – धीरे गिरती गई। साथ ही वह उच्च वर्ग के रहन–सहन, आचार–विचार आदि से आकर्षित होकर उच्च वर्ग के निकट जाने की लालसा भी रखता था। और इस लालसा की पूर्ति हेतु वह भारी व्यय करता था। फलतः लालसा पूर्ति में होने वाले विशाल व्यय के चलते वह अत्यधिक विपन्न होता चला गया। वह न तो उच्च वर्ग तक ही पहुंच पाया और न ही मध्यवर्ग में अपनी सुदृढ़ स्थिति बना पाया अपितु धीरे – धीरे निम्न वर्ग की श्रेणी की ओर चलता गया। इस प्रकार दिखावा, बेहतर जीवन जीने की लालसा, उसमें होने वाली भारी आर्थिक क्षति, लालसाओं की असफलता आदि ने उसे नितान्त व्यक्तिवादी, पलायनवादी एवं क्षणवादी बना दिया। छायावादोत्तर युग के कवियों ने इस मध्य वर्ग की स्थिति को समझते हुए उसे अपने काव्य विषय के रूप में अपनाया। वस्तुतः मध्यवर्ग की कमजोरियों का उद्घाटन, उसकी दुरावस्था का चित्रण, उसमें नयी चेतना जगाना आदि ही छायावादोत्तर युग के कवियों का प्रमुख लक्ष्य रहा है। प्रयोगवादी कविताएं एवं नयी कविता की कविताएं मध्यवर्ग के चित्रण से भरी पड़ी हैं।

(iii) उच्च वर्ग की चेतना

उच्च वर्ग के अन्तर्गत पूंजीपति एवं जमींदार मुख्य हैं। आजादी के पूर्व जमींदार ही सबसे बड़ा शोषक था। लेकिन जब ब्रिटिश शासन ने औद्योगिक व्यवस्था कायम की तो एक नये शोषक पूंजीपति का उदय हुआ। वस्तुतः ब्रिटिश शासन की पूंजीवादी आर्थिक नीति के ही चलते पूंजीपति वर्ग का उदय हुआ। तात्पर्य यह कि भारतीय समाज में जमींदार वर्ग तो पहले से ही था, लेकिन पूंजीपतियों को जन्म अंग्रेज ने ही दिया। और इसी के साथ ये दोनो – पूंजीपति एवं जमींदार – शोषण के दो परिए बने। लेकिन बाद में चलकर धीरे – धीरे जमींदार भी कमजोर होते गये और पूंजीपतियों का वर्चस्व हुआ। यद्यपि किसानों का सबसे बड़ा शोषक जमींदार – वर्ग था, फिर भी भूमि पर किसानों का स्वामित्व था। लेकिन ब्रिटिश शासन मे परम्परागत जमींदारी व्यवस्था का रूप परिवर्तित हुआ और धीरे – धीरे किसानों की भूमि पर जमींदारों का वर्चस्व होता गया। इस प्रकार जमींदार–वर्ग ने एक बहुत बड़े शोषक का रूप धारण कर लिया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक तो इस जमींदार–वर्ग ने किसानों की स्थिति को पूरी तरह से बरबाद कर दिया था। आजादी के बाद कृषक –वर्ग के शोषण में कमी तब आयी जब जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया।

जमीदारों के बाद दूसरा शोषक पूंजीपति रहा है, जो आज तक अपनी सत्ता बरकरार रखे हुए है। यह मुख्य रूप से श्रमिक –वर्ग का शोषक रहा है। साहूकार एवं महाजन–वर्ग भी इन्हीं पूँजीपतियों के एक अंग स्वरूप थे। साहूकारों तथा महाजनों के द्वारा शोषण छोटे स्तर पर – सूद या ब्याज के माध्यम से – होता था जबकि पूंजीपतियों का शोषण व्यापक स्तर पर होता था। इस वर्ग के शोषण का ढंग जमींदारों से भिन्न रहा है। क्योंकि जमींदार श्रम से अर्जित सम्पति के शोषण के साथ –ही –साथ शारीरिक यातनाएं भी दिया करता था, जबकि पूंजीपति –वर्ग श्रम से अर्जित पूंजी का ही शोषण करता था। कहना न होगा कि धीरे – धीरे भारतीय समाज में यही पूंजीपति –वर्ग देश की समस्त पूंजी के स्वामी बन बैठे। पूंजीपतियों का यह शोषण आजादी पूर्व ही नहीं होता था अपितु आजादी के बाद भी इनकी सत्ता कायम रही है। यह बात दूसरी है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय औद्योगिक व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित हुआ तथा शोषक और शोषित वर्ग की कटुता की समाप्ति हेतु अनेक राजकीय एवं सहकारी योजनायें कार्यान्वित हुईं जिसके माध्यम से शोषण में काफी कमी आयी। लेकिन उसकी सत्ता आज तक किसी – न – किसी रूप में बनी हुई है। वस्तुतः आजाद भारत में इस उच्च वर्ग का मात्र स्वरूप परिवर्तित हुआ है। अधिकारियों एव नेताओं तथा विशाल औद्योगिक प्रतिष्ठानों के मालिकों के रूप में आज भी यह उच्च वर्ग कायम है तथा वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति हेतु समाज के निम्न तथा मध्य तबके के लोगों के शोषण

में जुटा हुआ है। इस प्रकार शोषक एवं शोषित वर्ग की विषम स्थिति जो आजादी के पूर्व थी वही आजादी के पश्चात भी बनी रही, केवल उसके स्वरूप में ही परिवर्तन हुआ।

(iv) वर्ग – विषमता एवं वर्ग–संघर्ष

उच्च वर्ग, मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग की वर्ग विषमता ने राजनीतिक – सामाजिक चेतना के जागरण के फलस्वरूप अनेक समस्याओं को उत्पन्न किया। वस्तुतः ब्रिटिश शासन की पूंजीवादी नीति के चलते समाज में जिस वर्ग – विषमता की स्थिति उत्पन्न हुई थी उसने वर्ग संघर्ष की भावना को उभाड़ने में अपनी अहम् भूमिका निभायी। एक तरफ धनिक पूंजीपति – वर्ग गरीब जनता के खून को चूस – चूस कर और धनी बनता जा रहा था तथा एश्वर्य की जिन्दगी बसर कर रहा था तो दूसरी तरफ निम्न और मध्यवर्ग अपनी पूर्व स्थिति से दिन–प्रतिदिन गिरता जा रहा था। वस्तुतः जिस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था देश में कायम थी, उसमें वर्ग संघर्ष की भावना का उदय होना स्वाभाविक था। इस वर्ग – विषमता की स्थिति से छायावादोत्तर युग का कवि परिचित था तथा उसने इस वर्ग संघर्ष की भावना को और अधिक उभाड़ने की कोशिश की, क्योंकि उसके समाधान का यही एक वास्तविक विकल्प था। कवियों ने समाज की सड़ी गली एवं बजबजाती व्यवस्था के विनाश एवं उसके स्थान पर वर्गहीन समाज की स्थापना हेतु क्रांति का आहवान किया, निम्न वर्ग में नई चेतना जगाई तथा उन्हें कुछ कर दिखाने के लिए प्रेरित किया।

(v) जातीय भावना

भारतीय समाज की मूल संरचना परम्परागत वर्ण व्यवस्था के आधार पर परिचालित होती रही है। वर्ण – व्यवस्था के अनुसार सारा हिन्दू समाज ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जाति में बँटा हुआ था लेकिन राजनीतिक, सामाजिक परिवर्तनों तथा विभिन्न संस्कृतियों के सम्मिलन के फलस्वरूप इनका रूप छिन्न–भिन्न होता गया और ये अनेक उपजातियों में बँटती चली गई। आधुनिक काल में वर्ण–व्यवस्था या जाति –व्यवस्था की धुरी चरमायी तथा इसके अन्तर्गत अनेक देशी – विदेशी जातियां एक दूसरे के समीप आयीं। समाज – सुधारकों के द्वारा चलाये गये आंदोलनों ने इस जाति व्यवस्था को गहरा आघात पहुंचाया। फलतः जातिगत संकीर्णता काफी कम हुई। साथ ही बहुमुखी शिक्षा के प्रचार–प्रसार तथा अनेक राजनीतिक – सामाजिक आंदोलनों के चलते विभिन्न जातियों के बीच पारस्परिकएकता एवं समानता की भावना बड़ी।

पूर्व–विवेचना से स्पष्ट हो चुका है कि सन् 1936 से 1960 तक की कालावधि वर्ग–विषमता की प्रखरता, राजनीतिक आंदोलनों की तीव्रता तथा आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं की विभीषिका को प्रस्तुत करने वाली रही है और इन सब समस्याओं से कोई एक जाति नहीं अपितु सभी जातियों के लोग एक दूसरे के कंधे – से – कंधा मिलाकर जूझने का प्रयास कर रहे थे। अतः सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु सामाजिक क्षेत्र में जो एकता कायम हुयी, उसने जाति – व्यवस्था को गहरा आघात पहुंचाया। डा0 शिवकुमार मिश्र का यह कथन निःसंदेह सत्य है कि समाज के सचेष्ट व्यक्तियों ने इन्हीं तथ्यों को परखकर जाति –व्यवस्था की रूढ़िवादिता के विरूद्ध आवाज उठायी। नये सम्पत्ति सम्बन्धों, आधुनिक नागरिक जीवन, नयी कानून व्यवस्था, नयी सामाजिक संस्थाओं, आधुनिक शिक्षा आदि अनेक कारणों से जाति –व्यवस्था का रूढ़िवादी भवन आप – से – आप ढहता गया और अगर कुछ शेष बचा तो केवल वाह्रय दिखावा मात्र। रूढ़िवाद का आवरण उसमें जगह–जगह अवश्य चढ़ा रहा, पर उसके वास्तविक रूप में आधारभूत परिवर्तन हो गये।[1]

इस प्रकार स्वतन्त्रता के पूर्व आजाद होने की भावना ने जाति – प्रथा को तोड़ने का कार्य किया। स्वतन्त्रता के पश्चात भारतीय संविधान में भी जाति के आधार पर भेद न करने की बात रखी गई तथा अनेक कानून भी बनाये गये। नयी दिशा एवं नयी चेतना से प्रभावित युवा वर्ग ने जाति व्यवस्था के रूढ़िवादी स्वरूप को तोड़ने में सर्वाधिक योग दिया है। छायावादोत्तर युग के कवियों ने अपने काव्य के कथावस्तु, नायक एवं नायिका आदि के चयन में परिवर्तन कर जाति एवं वर्णगत संकीर्णता को समाप्त करने का प्रयास किया। वस्तुतः पहले उच्च वर्ग से ही नायक एवं नायिका चुने जाते थे लेकिन छायावादोत्तर युग के कवियों ने निम्न–से–निम्न वर्गों एवं जातियों से पात्रों एवं कथा–वस्तुओं का चयन किया तथा जातिगत भेदभाव को मिटाने का प्रयास किया।

अस्पृश्यता जाति – व्यवस्था की रूढ़िवाद मनोवृत्ति की ही उपज है। जाति – व्यवस्था के ही समान इसकी भी जड़ें भारतीय जन–मानस में गहरे तक पैठी हुई थी। तात्पर्य यह कि जाति – व्यवस्था और अस्पृश्यता दोनो जुड़वे भाई के रूप में थे। आधुनिक युग में जाति व्यवस्था की धुरी टूटने के साथ ही अस्पृश्यता की भावना में भी कमी आयी। समाज – सुधारकों द्वारा अछूतोद्धार कार्यक्रम बहुत पहले ही शुरू हो गये थे लेकिन 1917 के कलकत्ता – कांग्रेस ने अछूत समस्या के सन्दर्भ में जो प्रस्ताव पास किए, उससे अछूतोद्धार की भावना को काफी बल मिला। गांधी जी के अछूतोद्धार कार्यकम ने इस भावना को सर्वाधिक बल प्रदान किया। इस कार्यक्रम में गांधी को सवर्णो से काफी संघर्ष भी करना पड़ा। गांधी के अतिरिक्त अछूत वर्ग के नेता डॉ0 अम्बेडकर एव श्री निवासन् ने भी अछूतों के लिए काफी संघर्ष किया। इसी संघर्ष के तहत 'हरिजन सेवक सघ' की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य ही था अछूतों को अधिकार दिलाना तथा उनकी स्थिति को ऊपर

[1] – शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 32

उठाना। आजाद भारत के संविधान में अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया तथा अछूतों को सामाजिक अधिकार दिलाना तथा उनकी स्थिति को ऊपर उठाना। आजाद भारत के संविधान में अस्पृश्यता को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया तथा अछूतों के हितों की रक्षा हेतु अनेक कानून निर्मित किये गये। अछूतोद्धार के क्षेत्र में गांधी के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य आचार्य विनोबा भावे ने किया। सन् 1960 तक आते – आते सैद्धान्तिक दृष्टि से अछूत – समस्या की समाप्ति हो गयी लेकिन व्यवहार रूप में कहीं – न – कहीं उसका अस्तित्व बना ही रहा।

छायावादोत्तर युग के काव्य में अछूत समस्या से सम्बन्धित कविताएं लिखीं गयीं तथा उनके माध्यम से अस्पृश्यता जैसी असामाजिक भावना के प्रति तीव्र विरोध प्रकट कर उसे समाप्त करने के प्रयास किए गए। वस्तुतः कवि –वर्ग यह जानता था कि सभी मानव एक हैं और समस्त मानवता का कल्याण तभी सम्भव है जबकि राष्ट्र का कल्याण हो और राष्ट्र के लिये देशवासियों में एकता का होना आवश्यकता था अतः राष्ट्र एवं मानवता के कल्याण एवं एकता हेतु यह आवश्यक था कि इस समस्या का समाधान हो। यही कारण है कि आजादी से पूर्व तथा उसके पश्चात भी रचनाकार इस समस्या के समाधान के प्रति हमेशा सचेष्ट रहे हैं। अछूत समस्या तथा समस्त मानवता की एकता के सन्दर्भ में लिखी छायावादोत्तर युग की कविताएं इस बात की साक्षी हैं कि इस काल का कवि इस समस्या के समाधान के प्रति विशेष उन्मुख था।

(vi) धर्मगत भावना

जातिगत व्यवस्था के ही समान धर्मगत भावना ने भी भारतीय समाज में विसंगतियों को उत्पन्न करने का कार्य किया है। धर्मगत विद्वेष का मुख्य कारण साम्राज्यवादी शासकों की 'बाँटो और शासन करो' की नीति रही है। राजनीतिक विवेचन के अन्तर्गत यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि ब्रिटिश शासकों की कुटनीति के चलते ही भारत में 'मुस्लिम लीग' नामक संस्था की स्थापना हुई तथा वह भारत की प्रमुख राष्ट्रीय पार्टी कांग्रेस के विरोध में खड़ी हुई। यह अवश्य है कि दोनो पार्टियों का लक्ष्य एक ही था – स्वराज्य प्राप्ति, लेकिन मस्लिम लीग की स्थापना तथा पाकिस्तान की मांग ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कटुता की भावना पैदा कर दी। इस प्रकार की साम्प्रदायिक कटुता के परिणाम स्वरूप देशव्यापी दंगे हुए तथा गृहयुद्ध जैसा वातावरण निर्मित होता गया। फलतः स्वतन्त्रता – संघर्ष के आंदोलनों को काफी आघात पहुंचा।

ऐसे वातावरण में जबकि मुस्लिम लीग मुसलमानों की तरफदारी कर रहा था ; 'हिन्दू महासभा' और 'राष्ट्रीय सेवक संघ' ने हिन्दुओं की तरफदारी शुरू कर दी। परिणाम स्वरूप साम्प्रदायिकता की आग और उग्र हो उठी। सच्चाई तो यह है कि कांग्रेस ने भी जाने – अनजाने

में साम्प्रदायिकता की इस आग को बढ़ाने में योग दिया। वस्तुतः कांग्रेस मुसलमानों की प्रसन्नता हेतु हिन्दू – हितो की अपेक्षा करती गयी फलतः वह हिन्दू जनता तथा निष्पक्ष विचारकों के आलोचना की पात्र बनी। इस प्रकार हिन्दुओं में असन्तोष की आग बढ़ती गयी और उसका परिणाम हिन्दू के द्वारा गांधी की हत्या के रूप में सामने आया। इस साम्प्रदायिक विद्वेष का ब्रिटिश शासन ने भरपूर लाभ उठाया। क्योंकि वह विद्वेष की आग यदि न फैली होती तो शायद आजादी वर्षों पहले ही मिल गयी होती तथा विभाजन के रूप में देश को भारी घाटा भी न उठाना पड़ता।

छायावादोत्तर युग के कवियों ने इस विषम परिस्थितियों में अपनी सजगता दिखाते हुए एक ओर साम्प्रदायिकता के विरोध में तो दूसरी ओर दोनो सम्प्रदायों की एकता के लिए ओजस्वी कविताओं की सर्जना की। स्वतन्त्रता के पूर्व स्वराज्य – प्राप्ति हेतु तथा स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के विकास हेतु धर्मगत एकता एवं भाई – चारे की आवश्यकता थी। छायावादोत्तर युग के कवियों ने इस तथ्य को समझा था। फलतः उन्होने साम्प्रदायिक एकता पर विशेष बल दिया और साम्प्रदायिकता जैसी असामाजिक भावना की कटु आलोचना की। हिन्दुओं और मुसलमानों के अतिरिक्त शैव–वैष्णव, बौद्ध–जैन आदि धर्मों के बीच भी भारतीय समाज में विद्वेष की भावना थी ; लेकिन छायावादोत्तर युग में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एक दूसरे के प्रति जो विद्वेष की भावना थी वही सर्वाधिक प्रमुख थी तथा उसी ने भारतीय समाज को सर्वाधिक प्रभावित भी किया है।

(vii) नारी वर्ग में चेतना के स्वर

परिवर्तन नवीन राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का सर्वाधिक प्रभाव पारिवारिक जीवन पर देखने को मिलता है। शिक्षा के प्रचार प्रसार तथा संस्कृति संघर्ष एवं सम्मिलन के फलस्वरूप भारतीय संयुक्त परिवार विघटित होते गये। नारी की स्थिति तो पहले से ही दयनीय बनी हुई थी। छायावादोत्तर युग के पूर्व समाज – सुधारकों ने नारी – समस्या को राष्ट्रीय समस्या के रूप में उठाया तथा उसकी स्थिति को बेहतर बनाने की कोशिश की। 'अखिल भारतीय होम रूल लीग' की संस्थापिका तथा इस आन्दोलन की प्रमुख नारी– एनी बेसेन्ट – थीं। वस्तुतः इस समय तक सदियों से घरों की चहारदीवारी में कैद नारी भी अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हो रही थी। वस्तुतः नयी शिक्षा के प्रचार – प्रसार ने नारियों को भी प्रभावित किया। फलतः उनमें भी नई चेतना उत्पन्न हुई। इस नारी – चेतना एवं नारी – जागरण का परिणाम यह निकला कि वह राजनीतिक, सामाजिक आंदोलनों में खुलकर भाग लेने लगी तथा पुरूष के कंधे से कंधा मिलाकर स्वराज्य प्राप्ति के संघर्ष में सहायक बनी। सन् 1937 के चुनावों में विजयनी होकर कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों में महत्वपूर्ण पदों को

संभालने का गुरूतर कार्य किया। इस नारी जागरण की लहर ने उच्च वर्ग और मध्यवर्ग ही नहीं अपितु निम्न वर्ग को भी प्रभावित किया। निम्नवर्ग की नारियों ने किसान एवं श्रमिक आंदोलनों में कंधा से कंधा मिलाकर सहयोग दिया।

सन् 1936 के बाद नारी समस्या को सामाजिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से परखा गया। गांधी जी ने इस समस्या को सांस्कृतिक महत्व देते हुए एक ओर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से पागल होती नारियों को फटकार बताई तो दूसरी ओर पुरूष वर्ग को भी अपने मानसिक ढांचे में परिवर्तन करने का उपदेश दिया। साथ ही उन्होने नारी वर्ग को उनके अधिकार प्रदान करने की कोशिश की। वस्तुतः इस युग का नारी–आंदोलन विधवा – विवाह, बाल–विवाह, वेश्यावृत्ति, अशिक्षा, परदा–प्रथा, प्रेम–विवाह आदि सामाजिक समस्याओं को लेकर बढ़ा तथा काफी हद तक सफल भी रहा। इन आंदोलनों एवं संघर्षों का ही परिणाम था कि नारी काफी हद तक अपने अधिकारों को प्राप्त करने में सफल हो पायी।

आजाद भारत में नारी की स्थिति काफी बेहतर हुई। स्वतन्त्र भारत में अनेक कानूनों, 'ऑल इण्डिया वीमेन्स कॉन्फ्रेन्स' और 'नेशनल कौन्सिल ऑफ वीमेन' जैसी संस्थाओं ने नारी की स्थिति को सुधारने में महत्वपूर्ण योग दिया। कहना न होगा कि छायावादोत्तर युग में नारियों ने अनेक अवसरों पर अपनी प्रतिभा और शक्ति का परिचय भी दिया। घर की बन्द चाहारदिवारी से बाहर निकल, राजनीतिक – सामाजिक – साहित्यिक आंदोलनों में भाग लिया तथा उसका प्रतिनिधित्व किया। वस्तुतः यहां आकर "वह 'योनि' मात्र से उठकर शुद्ध 'मानवी' के रूप में प्रतिष्ठित हुई। उसे नया सम्मान, नई दृष्टि, नये आयाम मिले।"[1] साहित्य में भी उसको प्रणयिनी एवं भोग्या के रूप में नहीं अपितु शक्तिदायिनी, प्रेरणादायिनी एवं पुरूष की सहायिका के रूप में चित्रित किया गया है तथा उसकी शक्तियों एवं योगदानों को बड़े ही सशक्त रूप से उद्‌घाटित किया गया है।

(4) सांस्कृतिक चेतना

संस्कृति कोई चिरस्थायी तत्व नहीं होती, अपितु उसके स्वरूप का निर्माण तमाम सामाजिक परिवर्तनों तथा संस्कृतियों के सम्मिलन के फलस्वरूप होता है। इस निर्माण प्रकिया के बीच कभी किसी खास तत्व विशेष का ह्रास होता है तो किसी का उत्थान और यह प्रकिया युग – युगांतर तक निरन्तर कियाशील रहती है। आधुनिक युग सांस्कृतिक संघर्ष एवं सम्मिलन का काल रहा है।

---

[1] – शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 34

ब्रिटिश शासन के पूर्व भारत में सामंतीय संस्कृति का बोलबाला था, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना के पश्चात् राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों की ही भांति सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अनेक क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए। ब्रिटिश शासन की औद्योगिक एवं पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना के साथ ही भारत की सामंतीय संस्कृति की जड़ें जर्जर होने लगीं तथा विदेशी शासन की राजनीतिक, आर्थिक एवं शैक्षिक – व्यवस्था का प्रभाव भारतीय जनमानस पर पड़ने लगा और धीरे – धीरे यह प्रभाव एवं परिवर्तन स्पष्ट भी होने लगे। इस पाश्चात्य संस्कृति का सीधा प्रभाव भारतीय मनः स्थिति पर इस कदर पड़ा कि भारतीयों को अपनी संस्कृति जड़, निस्पंद, अवैज्ञानिक – सी लगने लगी। इस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति के आकर्षण ने उन्हें अपनी ओर इतनी तेजी से खींचा कि वे शनैः – शनैः पाश्चात्य संस्कृति के रंग में रंगते चले गये। फलतः भारतीय संस्कृति को काफी गहरा आघात लगा।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पाश्चात्य संस्कृति एकाएक भारतीय समाज पर अपना सिक्का जमा बैठी ; क्योंकि भारतीय संस्कारों से जकड़ा मन पहले तो इस वैदेशिक संस्कृति को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हुआ फलतः पूरे देश में इसका व्यापक विरोध हुआ ; लेकिन बदलती परिस्थितियां कुछ इस तरह की थीं कि अन्ततः उसे स्वीकार ही करना पड़ा ; क्योंकि यदि एक तरफ पाश्चात्य संस्कृति की वैज्ञानिकता को नकारा नहीं जा सकता था तो दूसरी तरफ भारतीयों के विरोध के पीछे कोई ठोस आधार नहीं था। अतः भारतीयों को अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया और सामंजस्य – प्रिय भारतीय संस्कृति ने अपने को धीरे – धीरे परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल ढालना शुरू कर दिया। फलतः "एक मध्यम मार्ग निकल आया जिसमें पूर्व और पश्चिम, नवीनता और प्राचीनता का प्रेम तथा परम्परा और बौद्धिक–व्याख्या का समन्वित रूप ब्रहम समाज, प्रार्थना समाज, वेद समाज, देव समाज, आर्य समाज, थियोसाफिकल सोसाइटी आदि सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में प्रस्फुटित और प्रस्तुत हुआ, और सामंजस्य इस प्रकार के मानसिक समझौते के रूप में प्रकट हुआ कि आध्यात्मिक क्षेत्र में तो हम सम्पन्न हैं किन्तु ऐहिक क्षेत्र में हमें ब्रिटेन से बहुत कुछ सीखना है। उनके इतिहास, समाज–सुधार, राजतन्त्र, विज्ञान, औद्योगिक और आर्थिक नीति से हमें शिक्षा ग्रहण करनी है इस तरह भौतिक क्षेत्र में धीरे – धीरे ब्रिटेन गुरू बन गया और हम योरापीय संस्कृति में रंग गये।"[1]

छायावादोत्तर युग से पूर्व राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक धार्मिक चेतना के जागरण के साथ ही भारतीय जनता में अपने गौरव का भाव जगा तथा वह अपने अतीत की महान गौरवशाली चेतना की ओर आकर्षित हुआ। फलतः पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति में काफी कमी आयी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, तिलक, गोखले, एनीबेसेन्ट, अरविन्द आदि ने पहले के समाज

---

[1] – हरवंश लाल शर्मा (संपादक) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, चतुर्दश भाग, पृष्ठ 33

सुधारकों के कार्यो को आगे बढ़ाते हुएं सांस्कृतिक उत्थान को प्रमुखता प्रदान की। इस प्रकार पाश्चात्य ज्ञान – विज्ञान और भारतीय धर्म दर्शन आदि के समन्वय के साथ ही सांस्कृतिक पुनर्निमाण की प्रकिया एक नये स्वरूप को प्राप्त कीं। रवीन्द्र की असीम चेतना, गांधी का गीता धर्म, तिलक का गीता रहस्य, आदि ने भारतीय संस्कृति को विलुप्त होने से तो बचाया ही साथ ही उसे उच्च प्रतिष्ठा भी प्रदान की।

वस्तुतः भारतीय मनीषियों ने भारतीय संस्कृति की जड़ तथा अतिवादी मनोवृत्तियों – अस्पृश्यता, वर्ण – व्यवस्था, वाह्ययाडम्बर आदि के प्रति अपनी पूर्ण अनास्था व्यक्त की तथा उसके प्रगतिशील तत्वों के प्रति अपना हार्दिक लगाव प्रकट करते हुए उसे ऊपर उठाने का सत्प्रयास भी किया। ठीक इसी तरह उन्होने पाश्चात्य संस्कृति की अच्छाइयों को तो ग्रहण किया लेकिन अन्धानुकरण के प्रति समाज को सदैव सचेष्ट किया। तात्पर्य यह कि उन्होने समन्वय की राह पर चलने की प्रेरणा दी ; क्योंकि हमारी संस्कृति पुरानी है इसलिए अच्छी है, अंग्रेजी संस्कृति नयी है इसलिए बुरी है, इसका कोई ठोस आधार नहीं है। न तो सब पुराना अच्छा होता है और न तो सब नया खराब। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी लिखा है – "मैं ऐसा तो नहीं मानता कि जो कुछ पुराना है, जो कुछ हमारा विशेष है। उससे हम चिपटे ही रहें। पुराने का 'मोह' सब समय वांछनीय ही नहीं होता। मेरे बच्चे को गोद में दबाये रहने वाली 'बन्दरिया' मुनष्य का आदर्श नहीं बन सकती है। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसंधित्सा के नशे में चूर होकर अपना सरबस खो दें।"[1]

सन् 1936 के पश्चात् भारतीय जनता के मानसिक ढांचे में परिवर्तन हुआ। परिणामस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के खिलाफत की आवाज और अधिक तेजी से उभड़कर सामने आयी और राष्ट्रीय गौरव की भावना ने अपना रंग दिखाया। साहित्यकार वर्ग में भी नयी चेतना जागी फलतः पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति में आकण्ठ डूबे भारतीयों को लक्ष्य बनाकर अनेक व्यंग्य काव्यों की रचना हुई। साथ ही अतीत की गौरवशाली परम्परा को प्रकट कर भारतीय जनमानस में अपनी संस्कृति के प्रति लगाव उत्पन्न करने की भरपूर कोशिश की गई।

छायावादोत्तर युग में अनेक सांस्कृतिक, साहित्यिक संगठनों की स्थापना की गई, जिन्हाने सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक कांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किये। समाजवादी विचारों से प्रेरित 'प्रगतिशील लेखक संघ' ने सांस्कृतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह तो पहले ही कहा जा चुका हैकि यह युग दो संस्कृतियों, दो विचारधाराओं के संघर्ष का काल रहा है और इन दोनो ने समाज के समस्त क्षेत्रों में अपना व्यापक प्रभाव दर्शाया है। "एक ओर अपने राम राज्य के आदर्श, सर्वोदय समाज की स्थापना व हृदय–परिवर्तन के सिद्धान्त को लिए हुए गांधीवादी देश के आर्थिक,

---

[1] – हजारी प्रसाद द्विवेदी – कल्पलता, पृष्ठ 9

राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मंचं पर आसीन था, दूसरी ओर ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से प्रेरित, वर्ग–संघर्ष, मार्क्सवादी आदर्शों समाजवादी – साम्यवादी समाज की स्थापना तथा जीवन के विविध क्षेत्रों में व्यापक क्रांति की मांग लिये समाजवाद का उदय हुआ।"[1] कहना न होगा कि इन दोनों विचारधाराओं – गांधीवादी एवं समाजवाद – ने समाज को अपने – अपने ढंग से दिशा निर्देश भी दिया। भारतीय जनता के समक्ष एक ओर समाजवादी विचारधारा का आदर्श और इन दोनों आदर्शों तथा उनके वैचारिक संघर्षों का प्रभाव छायावादोत्तर युग की संस्कृति पर भी पड़ा है।

आजादी के पश्चात् पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली में फेरबदल के साथ ही सांस्कृतिक सुधार हेतु अनेक प्रभावशाली कदम उठाये गये। साहित्य – अकादमी संगीत – नाटक अकादमी, ललित कला अकादमी आदि अनेक सरकारी गैर सरकारी संस्थाओं ने सांस्कृतिक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किये। इस प्रकार की सांस्कृतिक जाग्रति ने जनता तथा उनकी मनोवृत्तियों को भी प्रभावित किया है। वस्तुतः स्वतन्त्रता – प्राप्ति के बाद सांस्कृतिक क्षेत्र में जो सबसे महत्वपूर्ण बात देखने को मिलती है वह है – विभिन्न देशों का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक प्रतिनिधि – मण्डलों का पारस्परिक आमंत्रण। वस्तुतः सांस्कृतिक प्रतिनिधि – मण्डलों के आदान – प्रदान के फलस्वरूप एक ओर सांस्कृतिक क्षेत्र कटुता और दूरी में काफी कमी आयी तो दूसरी ओर हम एक दूसरे की सांस्कृतिक विरासत से भी परिचित हुए। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एवं भाई चारे की भावना को काफी बल मिला। इस सांस्कृतिक जाग्रति का प्रभाव छायावादारेत्तर हिन्दी काव्य पर भी देखने को मिलता है। गांधीवादी आदर्शों के अनुरूप पूर्णतया भारतीय संस्कृति की स्थापना करना चाहते थे वहीं प्रगतिवादी कवियों ने समाजवाद के अनुरूप संस्कृति की स्थापना पर जोर दिया। पंत आदि कुछ कवियों ने इन दोनों विचारधाराओं से समन्वित संस्कृति की स्थापना पर बल दिया तथा उसी के तहत काव्य–सृजन भी किया।

तात्पर्य यह कि सन् 1936 के पूर्व हमारी सांस्कृतिक मनोदृष्टि कुछ हद तक आतिवादी थी लेकिन सन् 1936 के पश्चात वैज्ञानिक तथा बौद्धिक चेतना के व्यापक प्रभाव एवं प्रेरणा से धीरे – धीरे समन्वयात्मकता की ओर उन्मुख हुई। युगीन परिवेश में यह आवश्यक भी था। स्वतन्त्रता के पश्चात् सांस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डलों के आदान – प्रदान तथा एक–दूसरे की संस्कृति एवं सभ्यता से व्यापक रूप में परिचित होने के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई जिसकी झलक छायावादोत्तर युग के काव्य में देखी जा सकती है। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का उदय इसी सांस्कृतिक आदान–प्रदान के परिणामस्वरूप सम्भव हो सका और रचना एवं रचनाकार की दृष्टि पर इसका गहरा प्रभाव भी पड़ा।

---

[1] – शिवकुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 36

5 – विभिन्न चिन्तन धाराओं का क्रमिक विकास

जिस प्रकार साहित्य राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश एवं परिस्थिति से प्रभावित होता है उसी प्रकार वह जीवन और ज्ञान – विज्ञान को आन्दोलित करने वाली विचारधाराओं एवं चिन्तन सारणियों से भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होता है। छायावादोत्तर युग इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है ; क्योंकि इसके पूर्व तथा इसके दौरान भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों धरातलों पर अनेक ऐसी विचारधाराओं एवं चिन्तन सारणियों का जन्म एवं विकास हुआ है जिसने साहित्य ही नहीं अपितु समूचे जनमानस को ही आन्दोलित करके रख दिया और निश्चित तौर पर छायावादोत्तर युग के काव्य – सृजन के मानदण्डों के निर्धारण में इनका महत्वपूर्ण योग रहा है। भारतीय दृष्टि गाँधीवादी चिन्तन एवं अरविन्द चिन्तन पाश्चात्य दृष्टि से मार्क्सवादी, मनोविश्लेषण वादी एवं अस्तित्ववादी चिन्तनधारा ने छायावादोत्तर युग को ही नही समूचे शताब्दी के जीवन और साहित्य को प्रभावित किया है अतः यहाँ इनका संक्षिप्त विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

(1) गांधीवादी चिन्तन

साहित्य और समाज का संम्बन्ध अन्योन्याश्रित होता है। विचारधाराओं एवं घटनाओं का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। पाश्चात्य धरती पर जन्म लेने वाले मार्क्सवादी, समाजवादी विचारधारा के ही समान गांधीवादी भी एक आधुनिक विचारधारा है। अन्य विचारधाराओं के ही समान इसमें भी समसामयिक तथा परवर्ती जीवन एवं साहित्य को गहरे रूपों में प्रभावित किया है। 20 वीं शताब्दी में प्रथम विश्वयुद्ध के साथ ही भारतीय जनता में एक नवीन चेतना जाग्रत हो रही थी तथा ठीक "इसी अवसर पर गांधी जी के रूप में एक महान व्यक्तित्व भारतीय रंगमंच पर अवतरित हुआ और देश में राजनीतिक चेतना की एक अभूतपूर्व लहर दौड गई।"[1] गांधीवादी विचारधारा में तर्क की अपेक्षा आत्मानुभूति, आध्यात्मिकता और आत्मशक्ति की प्रधानता है और यही इसकी सबसे बडी विशेषता भी है। सत्य तो यह है कि गांधीवाद का सामाजिक आदर्श सर्वोदय है, जीवन दर्श सत्याग्रह तथा शासनादर्श राम राज्य। तात्पर्य यह कि गाधीवाद समस्त व्यक्तियों तथा वर्गों की एक समान उन्नति पर विशेष बल देता है। सत्य और अहिंसा गाधीवाद का मूल मंत्र है। गांधी जी के अनुसार सत्य ईश्वर का दूसरा नाम है। गांधी जी के सत्य और अहिंसा का आधार भी सामाजिक न्याय, सत्याग्रह एवं असहयोग था। "गाधी जी की अहिंसा सामाजिक न्याय के आधार पर

नन्ददुलारे बाजपेई – आधुनिक साहित्य, भूमिका, पृष्ठ 20

खड़ी थी, सत्याग्रह और असहयोग को उन्होने अपने अस्त्र के रूप में स्वीकार किया था, और पौराणिक परम्परागत ईश्वर के स्थान पर जनता – जनार्दन की स्थापना की थी।"[1]

कहा जा सकता है कि गांधीवादी जीवन – दर्शन ने सम्पूर्ण भारतीय समाज को एक बारगी इतना अधिक प्रभावित किया कि लोग इस नवीन चेतना के तीव्र प्रवाह में बहने लगे। गांधी तथा गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित नेताओं की साहस, दृढ़ता और आत्म – बलिदान की भावना ने छायावादोत्तर युग के कवियों को भी प्रभावित किया। इस प्रकार गांधीवादी विचारधारा से अनुप्राणित छायावादोत्तर युग के कवियों ने कभी नेताओं एवं सत्याग्रहियों की प्रशंसा के द्वारा तो कभी उनके संघर्ष के मार्मिक चित्रण के माध्यम से उनके प्रति अपनी लगाव एवं सद्भावना प्रकट की है। मैथलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', समित्रानन्दन पंत एवं रामधारी सिंह 'दिनकर' आदि कवियों की रचनाओं में गांधीवादी विचारधारा तथा उनके आदर्शों को वाणी मिली है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग की कविताओं के वस्तुपक्ष को नया रूप प्रदान करने में इस गांधीवादी चेतना ने महत्वपूर्ण योग दिया है।

(2) अरविन्द दर्शन का प्रभाव

अरविन्द – दर्शन भैतिकवाद और अध्यात्मवाद के मध्य का मार्ग है। महर्षि अरविन्द आत्मा और भूतत्व दोनो को अपने दर्शन में महत्व देते हैं। प्रायः अनेक दार्शनिक आत्मत्व को कल्पना के भ्रम के रूप में अस्वीकार कर देते हैं या भूतत्व को इन्द्रियों के भ्रम के रूप अस्वीकार कर देते हैं। अरविन्द के अनुसार यदि हम केवल भूतत्व को स्वीकार करते हैं तो उस स्थिति में आत्मा के बिना जीवन विकास का सारी सम्भावनाओं और श्री को खो देता है तथा यदि हम केवल आत्मा को स्वीकार करते हैं तो उस स्थिति में भूतत्व के बिना जगत् नाम – रूप की विविधता से हीन हो जाता है। अतः आत्मा और भूतत्व दोनो में से किसी एक का निषेध दर्शन जगत् को अभीष्ट नहीं। यही नहीं जड़ तत्व के सूक्ष्माति सूक्ष्मकण में आत्मतत्व के अवतरण को वेदांती भूल जाता है जबकि अरविन्द इसे आवश्यक मानते हैं।

इस प्रकार अरविन्द भैतिकता तथा आध्यात्मिकता दोनो की आवश्यकता जीवन में अनिवार्य मानते हैं। जीवात्मा और जगत के साथ एक ही चेतना से अनुस्यूत होने के कारण एक ही हैं। पत्थर और लौह जैसे जड़ पदार्थों में भी प्राण हैं, किन्तु वे अवचेतन के इतने गहरे स्तर पर हैं कि हम अनुभव नहीं कर पाते। जीवात्मा कहीं बाहर से नहीं आता, वरन् जगत में पूर्णरूपेण व्याप्त है। भौतिकता और आध्यत्मिकता उसके दो पार्श्व मात्र हैं। जीवतत्व विकसित होता हुआ अभी अन्न से

---

[1] – हरवंश लाल शर्मा – (संपा.) – हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, चतुर्दश भाग, पृष्ठ 63

मन तक पहुंचा है। उसका अग्रिम विकास अधिमानस तक होगा; जिस स्थिति वह ईर्ष्या, द्वेष आदि द्वन्द्वों से ऊपर होकर पूर्ण शक्ति का अनुभव करेगा। इस दिशा की ओर सतत विकास हो रहा है और चेतन की इस यात्रा का प्रमाण जड़ से अर्द्धचेतन – वृक्ष, लता, पशु आदि – और फिर चेतन मनुष्य है। यह विकास चैतन्य शक्ति की आरोहण और अवरोहण दोनों प्रक्रियाओं द्वारा चिरंतन हो रहा है। स्पष्ट है कि जड़–चेतन दो बृम्ह के चैतन्य – तत्व से अनुस्यूत हैं। दोनों में मात्र आवरण और विक्षेप के कारण भेद हो गया है। जड़ में चेतन तत्व, इसी विक्षेप, जो तमस् के रूप में परिव्याप्त है, उसके अवचेतन में प्रसुप्त है। ब्रम्ह की चेतन – किरण जब उसको अपना स्पर्शदल देती है तो वह तमस् नष्ट हो जाता है। और जड़ में अंतर्निहित चैतन्य जाग्रत हो जाता है।

वस्तुतः महर्षि अरविन्द अपने काल में व्याप्त दर्शनों की अतियों एवं सीमाओं से परिचित थे। उनकी दृष्टि में कोई भी दर्शन पूर्ण नहीं था। हर एक में किसी – न – किसी तत्व का निषेध था। अरविन्द की दृष्टि मानवता की चरम कारूणिकता से पूर्ण थी, वे जड़ और चेतन दोनों में कोई विभेद नहीं रहने देना चाहते थे, वे भैतिकता और आध्यात्मिकता में भी समन्वय स्थापित करने के पक्ष में थे। यही उन्होने अपने दर्शन द्वारा किया। मानवता का जो चरम स्वरूप अरविन्द दर्शन में उपलब्ध है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कहा जा सकता है कि अरविन्द – दर्शन ने हिन्दी कवियों को दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं काव्य – वस्तु और भाव – क्षेत्र में भी प्रभावित किया। पंत की परवर्ती रचनाओं तथा विद्यावती कोकिल एवं आरसी प्रसाद सिंह की कविताओं पर इसकी स्पष्ट छाप है।

(3) मार्क्सवाद का प्रभाव

मार्क्सवाद एक सामाजिक दर्शन हैं। यह आधुनिक युग की सबसे अधिक चर्चित, प्रतिष्ठित एवं कांतिकारी चिंतन – धारा है। वस्तुतः यह वह भौतिकवाद जीवन – दर्शन है, जो परोक्ष – चिंतन की अपेक्षा भौतिक सामाजिक जीवन को ही अपना उद्देश्य मानता है। साथ ही यह "एक प्रकार का नया और वैज्ञानिक मानववाद है जिसे राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे समाजवाद और साम्यवाद, दर्शन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक वस्तुवाद और समाज शास्त्र तथा इतिहास के क्षेत्र में ऐतिहासिक वस्तुवाद कहा जाता है।[1] इस दर्शन के अन्तर्गत सैद्धान्तिक जीवन की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन को विशेष महत्व दिया जाता है। किसी विचारधारा को व्यावहारिक रूप दिये जाने की बात सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स ने प्रस्तुत की। मार्क्स की स्थापना का दार्शनिको पर विशेष प्रभाव पड़ा, फलतः दर्शन या विचारधारा की व्यावहारिक उपयोगिता की चर्चा ही चल पडी।

---

[1] – रणजीत – हिन्दी की प्रगतिशील कविता, पृष्ठ ३१

मार्क्सवादी चिंतन का मूलाधार वर्ग – संघर्ष है। मार्क्स के विचार से एंतिहासिक विकास की प्रकिया सामाजिक – वर्गों से परिचालित होती है तथा इन वर्गों का निर्माण उत्पादन, उत्पादन के साधन तथा उनके वितरण की परिस्थितियों के आधार पर होता है और इन सबके साथ ही अनेक जीवन – दृष्टियों, विचारधाराओं तथा संस्कृतियों की भी उत्पत्ति होती रहती है। पारस्परिक द्वन्द्व की गतिशील प्रकिया में ही ऐतिहासिक परिवर्तन होता है जो कि गुणात्मक स्तर पर होता है। तात्पर्य यह कि मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समूचे विश्व को परिवर्तनशील और गतिमान मानते हुए इसी परिप्रेक्ष्य में उसका अध्ययन और विवेचन भी करता है। लेकिन इस गतिशीलता या परिवर्तनशीलता की प्रकिया में वह सभी पुराने को छोड़कर तथा नये के ग्रहण की बात नहीं करता ; क्योंकि "मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद हर नये व्यापार अथवा हर उस चीज को जो नूतन होने का दावा करती है, सचमुच नया नहीं मान लेता। नया वह है जो प्रगतिशील है और जीवन – क्षेत्र है, जो निरन्तर बढ़ता और विकास करता है।"[1] इस प्रकार वह प्रगतिशीलता की कसौटी पर कसने के बाद ही किसी चीज के ग्रहण – अग्रहण की बात करता है।

मार्क्सवाद समाज में दो वर्गों – शोषक एवं शोषित – की सत्ता स्वीकार करता है और इन दोनो को समान दृष्टि से ऐतिहासिक विकास की प्रकिया में विश्लेषित करता या देखता है। इस प्रकार उसका दृष्टिकोण एकांगी या संकीर्ण नहीं होता, अपितु उसमें एक बहिर्मुखता एवं व्यापकता दिखायी देती है। डॉ0 राम विलास शर्मा ने भी लिखा है – "मार्क्सवाद वर्गों की भूमिका को भी ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में देखता है। एक समय आदिम समाज – व्यवस्था के मुकाबले में सामंती समाज ने मनुष्य के विकास में कांतिकारी परिवर्तन किये। ..... मार्क्सवाद इन वर्गों की रची हुयी संस्कृति को आँख मूंदकर ठुकराता नहीं है, न हवा में नयी मानव – संस्कृति की रचना करता है। वर्ग – युक्त समाज में वर्ग – आधार पर जितना भी मनुष्य ने ज्ञान अर्जित किया है, मार्क्सवाद उसका मूल्यांकन करके उसे विकसित करता है।"[2] वस्तुतः मार्क्सवाद किसी एक राजनीतिक कांति या श्रमिक कांति का कार्यकम मात्र नहीं है अपितु यह एक सर्वव्यापी जीवन – दृष्टि तथा वर्तमान समाज के प्रभावों तथा जटिलताओं को निश्चित एवं सही रूप में समझने की वैज्ञानिक प्रणाली है। कांतिकारी परिस्थितियों तथा समाज से संबंधित विविध रूपों का अध्ययन करना भी इसका एक प्रधान लक्ष्य है।

इस प्रकार इस चिंतन – धारा ने सामाजिक – आर्थिक विसंगतियों को दूर करने के साथ ही उसके संतुलित विकास हेतु एक नयी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया। मार्क्स की इस विचारधारा को ऐंजेल्स, लेनिन, स्तालिन, माओत्से–तुंग आदि ने विकसित और स्थापित

---

1 – वि. अफनास्येव – (मार्क्सपादी साहित्य – चिन्तन – शिवकुमार मिश्र, पृष्ठ 45 से उद्धृत)
2 – रामविलास शर्मा – प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें, पृष्ठ 79

करने में अपना महत्वपर्ण योग दिया। साहित्य के क्षेत्र में जी. बी. प्लेखातोव, मैक्सिमगोर्की, क्रिस्टोफर काडवेल, राल्फ फाक्स तथा हावर्ड फास्ट आदि साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के जरिऐ इस विचारधारा को प्रतिष्ठा प्रदान की। वस्तुतः इस नयी समाजवादी व्यवस्था की सोच पैदा करने का श्रेय कार्ल मार्क्स को है। सत्य तो यह है कि कार्लमार्क्स की विचारधारा पूंजी को सर्वशक्तिमान समझती है। उसके अनुसार पूंजी समाज के समस्त क्षेत्रों पर अपना अधिकार रखती है। इसलिए समाज की सारी कार्य–पद्धतियां, व्यवस्था, कला एवं साहित्य सभी इससे परिचालित होते हैं। मार्क्स के अनुसार राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक अंथवा सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां भव्य महल हैं, लेकिन उस भव्य महल को खड़ी करने वाली सुदृढ़ नींव आर्थिक व्यवस्था ही है। इतिहास की आर्थिक व्याख्या में कार्लमार्क्स ने यह भी कहा है कि संसार की समस्त कांतियों का मूल आधार आर्थिक होता है और सब मात्र उसके सहायक के रूप में आते हैं। इस प्रकार मार्क्स आधुनिक समाजवाद के जनक भी हैं।

वस्तुतः समाजवाद एक प्रगतिशील आंदोलन है। यह आर्थिक व्यवस्था को समाज का नियामक और संचालक मानता है। सेलार्स के अनुसार यह एक प्रजातान्त्रिक आंदोलन है, जिसका उद्‌देश्य समाज की आर्थिक व्यवस्था का उचित सुधार करना है। हुगन ने इसे एक राजनीतिक आंदोलन की संज्ञा देते हुए कहा है कि इसका उद्‌देश्य मिल – मालिकों के शोषण का उन्मूलन करना तथा एक ऐसी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था स्थापित करना है जिसमे उत्पादन तंत्र तथा वितरण – शक्ति समाज के अधिकार में हो। लिटर ने समाजवाद को राष्ट्रीय स्वरूप में परिवतर्न की एक प्रेरणा कहा है।[1]

तात्पर्य यह कि समाजवाद एक जनतांत्रिक प्रणाली है। आर्थिक व्यवस्था पर विशेष बल देते हुए यह विचारधारा भूमि, पूंजी तथा अन्य उत्पादन – व्यवस्थाओं पर किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के अधिकारों को मान्यता नहीं देती अपितु उस पर समस्त जनता का अधिकार मानती है। अतः समाज में व्याप्त विषमताओं के उन्मूलन हेतु यह समाज व्यवस्था में मौलिक एवं कांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर देता है। साथ ही वर्तमान आर्थिक ढांचे को समाप्त कर नवीन व्यवस्था की स्थापना की मांग करता है। यह पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, विनाशकारी वैमनस्य तथा पैतृक अधिकारों को समाप्त कर उसके स्थान पर ऐसे नवीन आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहता है, जिसमें उत्पादन का पुनर्वितरण इस प्रकार हो कि उस पर समस्त व्यक्तियों का समान रूप से अधिकार हो।

मार्क्सवादी चिन्तनधारा के मूलाधार पर ही विकसित होने वाली साम्यवादी चेतना का भी मूल उद्‌देश्य रहा है – विभिन्न वर्गों की स्थिति को समाप्त कर वर्ग – हीन समाज की स्थापना

[1] – हरवंशलाल शर्मा (संपा0) – हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, चतुर्दश भाग, पृष्ठ 53 – 54

करना लेकिन इसकी कार्यप्रणाली समाजवादी चेतना से भिन्न रही है। वस्तुतः ''समाजवादी सोशलिस्ट विचारक शान्ति पूर्ण शैक्षणिक और जनतांत्रिक प्रकियाओं द्वारा उक्त लक्ष्य तक पहुंचना चाहते हैं, जबकि साम्यवादी साधनों से प्रचलित संस्थाओं और राजव्यवस्थाओं को उखाड़ना और नष्ट करना चाहता है। यद्यपि कार्लमार्क्स के विचारों से इन दोनो आदर्शों का निर्माण हुआ है, परन्तु दोनो में पर्याप्त भेद भी आ गये हैं। इग्लैंण्ड की समाजवादी पार्टी जिसे मजदूर – दल भी कहते हैं, भौतिकवादी और धर्मविरोधी आदर्शों को अंशतः छोड़ चुकी हैं और वह अनिवार्य रूप से कांतिकारी या हिंसात्मक पद्धति को आवश्यक नहीं मानती परन्तु मार्क्स, लेनिन और स्टालिन द्वारा विकसित साम्यवादी विचारणा अपनी कट्टरता में हिंसात्मक कांति को अनिवार्य बनाती है और दार्शनिक भूमिका पर अपने भैतिकवादी विचारणा को अन्तिम सत्य मानती है।''[1] तात्पर्य यह कि समाजवादी विचारधारा शान्ति पूर्ण अहिंसात्मक कांति के द्वारा परिवर्तन पर विशेष बल देती है, जबकि साम्यवादी विचारधारा हिंसात्मक कांति की पद्धति को अधिक प्रश्रय देती है।

छायावादोत्तर युग की कविता पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। विशेषकर कांतिकारी चेतना से युक्त कवियों की कविताओं में सड़ी – गली व्यवस्थाओं, पुरातन, जीर्ण एवं रूढ़ नैतिकताओं के ध्वंश तथा नवीन समाज के निर्माण की जो अदम्य आकांक्षा देखने को मिलती है, वह साम्यवाद एवं समाजवाद दोनों का सम्मिलित प्रभाव ही है। कह सकते हैं कि मार्क्सवादी चिन्तन प्रणाली तथा उससे उत्पन्न चेतनाओं ने जहां एक ओर सामान्य जन जीवन को प्रभावित किया तथा उसमें नयी चेतना जगायी, वहीं इसने साहित्यको भी गहरे रूपों में प्रभावित किया।

(4) मनो – विश्लेषणवादी चिन्तनधारा

फायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त विश्व – सभ्यता को आधुनिक युग की महत्वपूर्ण देन है, ''' फायड के प्रौढ़ मस्तिष्क की इस उपलब्धि ने हमारी परम्परा प्राप्त और पूर्व निर्धारित धारणा को झकझोर दिया।''[2] फायड की दृष्टि में समस्त कलाओं के सृजन के मूल में मनुष्य की दमित और अतृप्त काम–भावनायें प्रमुख भूमिका अदा करती हैं। ये भावनाये सामाजिक वर्जनाओं के चलते कलाकार के अचेतन अथवा अवचेतन मस्तिष्क में पड़ी रहती हैं और अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती रहती हैं। अवास प्राप्त होने पर ये कलाओं अथवा रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती हैं। वस्तुतः कामवृत्तियां मनुष्य में सर्दव विद्यमान रहती हैं लेकिन सामाजिक वर्जनाये काम वृत्तियों की मुक्त अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार काम – प्रवृत्तियां कुण्ठित हो जाती हैं

---

[1] – उमेश चन्द्र मिश्र – प्रगतिवादी काव्य, पृष्ठ 52

[2] – रूपचन्द गोदिन्द चौधरी – कामसूत्र और फायड के सन्दर्भ – में हिन्दी काव्य का अनुशीलन, पृष्ठ 68

और ये कुण्ठित काम वृत्तियां अनेक मानसिक रोगों तथा विकृतियों को भी जन्म देती हैं; लेकिन एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये विकृतियां उनमें उत्पन्न होती हैं जिनके पास अपनी काम – वृत्तियों के अभिव्यक्ति का सामर्थ्य नहीं अथवा जिनको अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं मिलता। कलाकार के पास कला जैसा माध्यम होता है, अतः उसमें विद्यमान काम–वृत्तियां उदात्त रूप प्राप्त कर लेती हैं। तात्पर्य यह कि कलाकार दमित काम – वृत्तियों की अभिव्यक्ति अपनी कला के माध्यम से उदात्त रूप में करता है। फ्रायड ने अपने मत को प्रमाणित करने हेतु अनेक विशिष्ट कलाकृतियों का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है।

'स्वप्न – सिद्धान्त' मनोविश्लेषणशास्त्री फ्रायड की एक और महत्वपूर्ण स्थापना है उसका कहना है कि स्वप्न दमित इच्छाओं की पूर्तिमात्र है। अर्थात जिन इच्छाओं का हम चेतन जीवन में दमन करते हैं उनकी पूर्ति स्वप्न के माध्यम से होती है। उसके अनुसार दमित अथवा कुण्ठित इच्छाये मनुष्य के अवचेतन मस्तिष्क में विद्यमान रहती हैं। सुप्तावस्था में दमित कामनायें सामाजिक वर्जनाओं अथवा बाधाओं से बाहर होती है। अतः वे एक – एक करके व्यक्त होती हैं। ये दमित कामनायें अथवा कुण्ठायें कभी नग्न यथार्थ के रूप में, कभी अर्धनग्न रूप में, तो कभी वेश बदलकर प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त होती हैं।

मानव – मन की दमित अथवा कुण्ठित कामनाओं की खोज हेतु मनोविश्लेषकों ने 'फ्री एसोसियेशन' की पद्धति को जन्म दिया है। इस पद्धति में व्यक्ति को पूर्ण विश्राम की अवस्था में रखकर उससें उन सभी भावों एवं विचारों को यथावत एवं क्रमशः तथा निर्बाध रूप से व्यक्त करने को कहा जाता है। यह स्वाभाविक है कि ये विचार या भाव विश्रंखल रूप में होगे, लेकिन मनोविश्लेषण शास्त्री इन विश्रंखल मनाविकारों के आधार पर मानसिक विश्लेषण करते हैं तथा मनोग्रथियों को खोलने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार स्वप्न सिद्धान्त तथा 'फ्री एसोसियेशन' की पद्धति मनोविश्लेषणवाद की प्रमुख देन है।

फ्राइड के पश्चात् युंग, एडलर, मैक्डूगल आदि आदि मनोविश्लेषकों ने इसे आगे बढ़ाने एवं विकसित करने का कार्य किया। यहां हमारा उद्देश्य मनाविश्लेषकों की मान्यताओं की समीक्षा करना नहीं अपितु उनकी मूल स्थापनाओं को प्रकट कर छायावादोत्तर काव्यधारा पर पडे उसके प्रभावों की ओर संकेत करना मात्र है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग की कविताओं में जिस अतृप्ति, कुण्ठा तथा अनावृत्त श्रंगारिकता की प्रस्तुति हुई है वह फ्रायडीय मनोविश्लेषणवाद के प्रभाव की ही झलक है। छायावादोत्तर युग की कविताओं में एक ओर दमित अथवा कुण्ठित काम–वृत्तियों का उदात्त रूप देखने को मिलता है, तो दूसरी ओर उसका नग्न अथवा अर्धनग्न रूप भी दृष्टिगत होता है। इसके साथ ही इस युग की कविताओं में यौन–प्रतीकों, यौन बिम्बों, स्वप्न–चित्रों एव स्वप्न

प्रतीकों आदि का खुला प्रयोग भी इसी के प्रभाव स्वरूप हुआ है। इस प्रकार छायावादोत्तर युग के काव्य को गहरे रूप में प्रभावित किया है।

(5) अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद मुख्य रूप से एक दार्शनिक चिंतन–प्रणाली हैऔर साहित्य इस चिंतन–प्रणाली से काफी प्रभावित भी हुआ है। अस्तित्ववाद का प्रवर्तक कोर्केगार्ड प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल का कट्टर विरोधी था। हीगल के दर्शन में व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके स्वतन्त्र प्रयत्नों के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार कीकैगार्ड का अस्तित्ववाद हीगल के समष्टिवाद के विरूद्ध एक प्रतिकिया के रूप में सामने आता है। दर्शन के क्षेत्र में अस्तित्ववाद के दो प्रवक्ता – कीकैगार्ड एवं हेडगर रहे हैं। इन दोनो ने आस्तिक एवं नास्तिक अस्तित्ववादियों की दो शाखाओं का सूत्रपात किया। आगे इसकी परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में यास्पर्श, काफ्का, ज्यांपाल सात्रे आदि ने अपनी विशेष भूमिका निभायी है। सात्र और अतवेयर कामू आदि ने साहित्य के क्षेत्र में इसे स्थापित एवं विकसित करने का उल्लेखनीय कार्य किया है। अनेक विद्वानों के अनुसार अस्तित्ववादी जीवन दर्शन एक आत्मोन्मुखी, आत्मभोगी, अराजकतावादी एवं असामाजिक जीवन दर्शन है। घोर व्यक्तिवादिता ही इस दर्शन का मूल है। तात्पर्य यह कि इसका मुख्य लक्ष्य एवं प्रधानतत्व मुनष्य का 'अस्तित्व' है। कीकैगार्ड जैसे अस्तित्ववादियों ने बौद्धिकता की तुलना में अध्यात्मिकता को विशेष महत्व दिया है।

प्रसिद्ध अस्तित्ववादी ज्यॉवाल सात्र की विचारधारा मुनष्य अपनी इच्छाओं तथा निर्णयों के निर्धारण में पूर्णतया स्वतन्त्र है। वह अपनी इच्छाओं अथवा निर्णयों के लिए किसी अन्य संस्था अथवा व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता बल्कि स्वयं वह अपने प्रति उत्तरदायी होता है। तात्पर्य यह कि मुनष्य पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र है इसलिए वह अपने को जैसा बनायेगा, वैसा ही बनेगा और वह अपने को जैसा बनायेगा, वही उसका चरम रूप भी होगा। इसके अतिरिक्त वह और कुछ हो ही नहीं सकता। वस्तुतः "अस्तित्ववादी व्यक्तिगत जीवन या अस्तित्व का दर्शन है। वह उस व्यक्ति की स्थिति को समझने का प्रयत्न है जो वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए, अपने कर्मों के लिए स्वयं पूरी जिम्मेदारी महसूस करते हुए जीवन यापन करता या करना चाहता है।"[1]

क्षणवादी मनोवृत्ति भी अस्तित्ववाद की ही देन है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए डॉ0 शिवकुमार मिश्र ने लिखा है कि "क्षणवादी विचारधारा जो स्वयं में एक असामाजिक उद्भावना है,

[1] – देवराज – साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 45

इसी अस्तित्ववाद की देन है।"[1] क्योंकि 'क्षणवादी' विचारधारा 'क्षण' की महत्ता पर विशेष बल देती है। उसके अनुसार एक क्षण, जो कि व्यक्ति को तृप्त करने वाला हो, शेष जीवन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं ग्रहणीय होता है। वस्तुतः अस्तित्ववादी जीवन–दर्शन अस्तित्व की सारी जिम्मेदारियां मानव व्यक्तित्व पर डालकर नितांत असामाजिक रूप ग्रहण कर लेता है साथ ही वह अतमूर्खता एवं घोर वैयक्तिकता की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा देने का कार्य करता है।

एक बात और ! अस्तित्ववाद नग्न यथार्थ के कुरूप, वीभत्स एवं भयानक स्वरूपों के प्रस्तुतीकरण पर भी बल देता है। सात्र ने अपने कथा साहित्य में मानव के नग्न यथार्थ चित्र को ही विशेष रूप से प्रस्तुत किया है। उसी रचनाओं के नायक अथवा दूसरे पात्र बर्बर, कायर, नपुंसक तथा अधम कोटि – मानवता के सामान्य स्तर से गिरे हुए – के हैं। इस प्रकार सार्त्र एक तरफ मानववाद का आख्यान प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर कायर, नपुंसक तथा अधम पात्रों की सृष्टि करता है। सत्य तो यह है कि "अस्तित्ववादी दर्शन की परीक्षा उसके सिद्धान्तों के आधार पर करने वालों का भ्रम ही इन्हीं रचनात्मक कृतियों के आधार पर ही टूटता दृष्टिगत होता है।"[2]

पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रभाव भारतीय साहित्य पर कुछ देर से पड़ता रहा है। अस्तित्ववाद का भी प्रभाव भारतीय साहित्य विशेषकर हिन्दी पर कुछ देर से पड़ा। छायावादोत्तर युग की कविता में व्यक्तिवादिता, क्षणवादिता, अहंवादिता तथा आत्मोन्मुखता के प्रति विशेष आग्रह का जो भाव दिखायी देता है, वह और कुछ नहीं अपितु इसी विचारधारा का प्रभाव है। प्रयोगवाद तथा नयी कविता के कवियों पर इसका सर्वाधिक प्रभाव देखने को मिलता है। इस प्रकार इस विचारधारा ने भी छायावादोत्तर युग के कवियों एवं उनकी कविताओं पर अपनी स्पष्ट छाप छोड़ी है।

इसके अतिरिक्त अतीन्द्रिय यथार्थ की अभिव्यक्ति को ही अपनी कला का प्रधान लक्ष्य घोषित करने वाले अतियथार्थवाद, उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकृतिवाद (Naturalism) की प्रतिक्रिया में जन्म लेने वाले प्रतीकवाद (Symbolism) तथा टी. ई. हयूम द्वारा प्रवर्तित बिम्बवाद (Imagism) की भी छायावादोत्तर युग की कविताओं के स्वरूप एवं मानदण्ड के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार से छायावादोत्तर युग की क़विताओं के स्वरूप एवं मानदण्ड के निर्धारण में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं का योग रहा है उसी प्रकार से उपर्युक्त विचारधाराओं एवं चिंतन–सरणियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

****

[1] – शिवकुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 414
[2] – शिव कुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ 414

अध्याय – ३

छायावादोत्तर हिन्दी काव्य : बदलते मान दण्ड

छायावादोत्तर युग की कविता के बदलते मानदण्डो को प्रस्तुत करने के पूर्व इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक होगा कि मानदण्ड होता क्या है और वह बदलता है तो क्यों और कब ? मानदण्ड का तात्पर्य आधार से है । वस्तुतः दुनिया की सारी की सारी चीजें किसी न किसी मानदण्ड या आधार पर टिकी हुई है । काव्य–सृजन का आधार ही काव्य का मानदण्ड होता है । यह मानदण्ड युग एवं समाज के परिवेश एवं परिस्थितियों से दिशा–निर्देशित होता रहता हैं । वस्तुतः जब युग एवं समाज की परिस्थितियॉ बदलती हैं , उसके मूल्यों में अन्तर उत्पन्न होता हैं तब कवि को भी युगीन मूल्यों एवं मान्यताओं के ही अनुरूप अपने काव्यगत मानदण्डों में परिवर्तन करने की आवश्यकता महसूस होती हैं । भक्तिकालीन मूल्य आदिकालीन मूल्यों से भिन्न थे, अतः दोनों के काव्यगत मानदण्डों में भी अन्तर दिखाई देता हैं । इसी तरह रीतिकालीन और आधुनिक काल के जीवन–मूल्यों में अन्तर होने के कारण युग के काव्य–मूल्यों मानदण्डों में भी अन्तर परिलक्षित होता हैं । तात्पर्य यह कि मानदण्डों युगीन जीवन एवं समाज के परिवर्तित मूल्यों के ही अनुसार परिवर्तित होते जाते है।

इस प्रकार स्पष्ट हैं कि जब युग–सन्दर्भ बदलता हैं तो काव्यगत मानदण्डों को भी बदलना पढ़ता हैं क्योंकि समाज और साहित्य का गहरा सम्बन्ध होता हैं । युगीन सन्दर्भो से कटकर जो साहित्य रचा जायेगा ,वह सच्चा साहित्य कहां ही नही जा सकता । अतः सजग रचनाकार हमेशा अपने काव्य को युग–सन्दर्भो से जोड़कर रखता हैं । यों भी साहित्य जहॉ एक ओर समाज को प्रभावित करता हैं, वहीं वह उससें स्वयं भी प्रभावित होता हैं । अतः जब एक में बदलाव आयेगा तो दूसरे में भी बदलाव आना स्वाभाविक हो जाता हैं । हम देख चुके हैं कि छायावादोत्तर युग की परिस्थितियॉ काफी जटिल थी । एक ओर राजनीतिक ,सामाजिक, सांस्कृतिक ,आर्थिक ,धार्मिक परिस्थितियों में तेजी से रद्दोबदल हो रहा था तो दूसरी ओर छायावादी काव्य युग एवं समाज की उपेक्षा कर कल्पना , रहस्य, प्रेम एवं सौन्दर्य के जाल में ही उलझ गया था । जागरूक रचनाकार इस स्थिति को सहन करनें में असमर्थ था , क्योंकि एक ओर वह अपनी परतन्त्रता एवं कमजोरी की पीड़ा से त्रस्त था तो दूसरी ओर मार्क्सवादी – समाजवादी चेतनाएं उसे नयी राह की सूचना दे रही थी, उसे प्रेरणा प्रदान कर रही थी । छायावादी कविता का मानदण्ड यथार्थ – निरपेक्ष होने के साथ ही समाज–निरपेक्ष भी हो चला था । सत्य तो यह है कि वर्तमान युग का सन्दर्भ इतना अधिक बदल चुका था , परिस्थितियॉ इतनी विषम हो चुकी थी कि छायावादी काव्य के आधार उसे वहन करनें में ,उसे सही अभिव्यक्ति प्रदान करने में पूर्णतया असफल थे । अतः आवश्यकता थी प्राचीन मानदण्ड़ों के पुनर्मूल्यन तथा नये के स्थापन की । कहना न होगा कि

छायावादोत्तर कवियों ने प्राचीन मानदण्ड़ों का पुनर्मूल्यांकन किया उसे नये युग के सन्दर्भो के अनुकूल बनाया तथा नये मानदण्ड़ों की स्थापना की ।

इन मानदण्ड़ो के निर्धारण में हमारी सामाजिक ,राजनैतिक ,आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियॉ तो क्रियाशील थी ही साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उदय होने वाली वैज्ञानिक विचारधाराओं ने भी इसके परिवर्तन मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । गांधीवादी विचारधारा ने जहॉ कवियों को सत्य और अहिंसा की राह पर चलने की प्रेरणा प्रदान की वहीं मार्क्सवादी–समाजवादी वैज्ञानिक चेतनाओं ने उसे व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करायी ,साथ ही नये समाजवादी समाज के निर्माण की प्रेरणा प्रदान की । जीवन एवं समाज अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद के बीच अपनी एक राह खोज रहा था । अरविन्द ने समन्वय के राह पर चलकर दोनों के मध्य एक नये रास्ते को तलाशने की बात की । कहने का तात्पर्य यह कि इन सभी ने छायावादोत्तर युग के कवियों की चेतना को प्रभावित कर उसे नयी राह पर मोड़नें के लिए व्यापक प्रयास किया । इन सब परिस्थितियों एवं वैज्ञानिक विचारधाराओं के प्रभाव एवं प्रेरणा स्वरूप छायावादोत्तर युग में कवियों ने काव्य–सृजन हेतु जिन काव्यगत मानदण्ड़ो को अपनाया है , उन पर विचार कर लेना आवश्यक होगा ।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता के मानदण्ड़ पर विचार करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि छायावादोत्तर युग में अनेक काव्यधाराएं आगे–पीछे या सामानान्तर रूप से कियाशील रही हैं और उनकी काव्य–प्रवृत्तियों में भी पर्याप्त अन्तर लक्षित होता है । अतः छायावादोत्तर युग की कविता के मानदण्ड प्रारम्भ से होकर अन्त तक (सन् 1936 से 1960 तक) एक ही जैसे नहीं रहे है ,अपितु उनमें कुछ अन्तर अवश्य दृष्टिगत होता है ,लेकिन सामाजिकता ,वैयक्तिकता , मध्ययुगीनता एवं आधुनिकता, स्वाधीनता ,राष्ट्रीयता तथा मानवीयता आदि वे आधार बिन्दु है जिन पर छायावादोत्तर हिन्दी कविता जन्मी, विकसित हुई और प्रतिष्ठा पायी है । तात्पर्य यह कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने उपर्युक्त बिन्दुओं को ही काव्य सृजन के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है । अतः छायावादोत्तर युग की कविताओं के परिप्रेक्ष्य में इन बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक हैं ।

१– सामाजिकता के स्तर पर

आज के कवि के लिए वैयक्तिक चेतना ही सर्वोपरि नही हैं वह अपनी व्यक्ति–चेतना को समष्टि चेतना के साथ मिलानें की आकांक्षा रखता हैं । सच्चे कलाकार के लिए

युग–संदर्भो से जुडे सजग कलाकार के लिए यह आवश्यक भी है , क्योंकि "कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में हैं व्यक्तित्व हीनता में नहीं।"[1] कहना न होगा कि छायावादोत्तर युग के कवि जहाँ वैयक्तिक चेतना से जुडें दिखायी देते हैं वहीं वे उससे छूटने का प्रयास भी करते दिखाई देते हैं । वस्तुतः कवि और उसका काव्य समाज के लिए तभी उपयोगी होते हुए दीर्घकाल तक जीवित रह सकता हैं जबकि वह युग एवं समाज की यथार्थ स्थितियों से अपना तादात्म्य स्थापित करके चलेगा । इसीलिए आज का कवि अपनी वैयक्तिकता को भी विशाल वनाने की बात करता हैं । हरिनारायण व्यास के अनुसार " वह (कवि) अपनी वैयक्तिकता को इतना विशाल बनाये कि समाज की सारी की सारी आवश्यकताएं उसमें आ समायें और उसकी वाणी समाज के उस वर्ग की गतिका बन सके जो सच्चा समाज हैं।"[2] निःसन्देह छायावादोत्तर युग का कवि इसके लिए प्रयासरत भी रहा हैं यही कारण है कि जहाँ उसमें निराशा ,कुण्ठा, अवसाद एवं पराजय आदि के भाव मिलते हैं वही आस्था एवं विश्वास के सशक्त स्वर भी सुनाई देते हैं । वस्तुतः यह सामाजिकता छायावादोत्तर युग की कविता के सृजन के मूल में रही है। सामाजिकता को काव्य–मानदण्ड के रूप में स्वीकार करने के ही कारण कवि जीवन एवं समाज की विषमताओं एवं कटुताओं के बीच असफल होने के बावजूद जीवन एवं समाज के वर्तमान तथा भविष्य के प्रति आस्थावान रहा हैं । यद्यपि उसके मन में संशय है ,कुंठा है ,दर्द है, पराजय एवं निराशा है ,फिर भी आशा एवं आस्था की लौ बुझी नही हैं । वह अपने लक्ष्य के प्रति आस्थावान है। अपने जीवन तथा समाज के वर्तमान एवं भविष्य के प्रति भी आस्थावान हैं ।

हिम्मत न हारो !
कंटकों के बीच मन–पाटल खिलेगा एक दिन,
हिम्मत न हारों !
यदि आँधियाँ आएं तुम्हारे पास
उनसे खेल लो ,

* *

निरन्तर राह पर चलते रहोगे तो
तुम्हारा लक्ष्य तुमसे आ मिलेगा एक दिन,
हिम्मत न हारों ![3]

इस प्रकार छायावादोत्तर युग के कवि को अपने ऊपर भरोसा है । वह निराशा के क्षण में भी उसे मानव को आशा बनाये रखने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है । धर्मवीर भारती ,दुष्यंत

---

[1] – नेमिचन्द्र जैन – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 50
[2] – हरिनारायण व्यास – वक्तव्य, दूसरा सतक, पृष्ठ 53
[3] – महेन्द्र भटनागर – 'हिम्मत न हारो', जिजीविषा, पृष्ठ 1

कुमार, अज्ञेय ,भारत भूषण ,विजयदेव नारायण सांही, प्रयागनारायण त्रिपाठी ,गिरिजा कुमार माथुर आदि सभी कवि अपने व्यक्तित्व के प्रति आस्थावान हैं । 'दूसरा सप्तक ' के कवि नरेश कुमार मेहता की कविता ' समय देवता ' तथा कीर्ति चौधरी की कविता में अपने व्यक्तित्व के प्रति अटूट निष्ठा का भाव देखने को मिलता हैं

सुबह शाम
क्या जाने , कब पूरा होगा !
पर होगा तो मुझ से होगा ,
इस आशा में
दायित्व संभाले बैठा हूँ !

* *

मै कर्मशील ,मै जागरूक
दायित्व संभाले बैठा हूँ –
जब होगा वो मुझसे होगा
इस आशा में ![1]

यद्यपि धर्मवीर भारती निराशा एवं पराजय के गीत गाते हैं । लेकिन उनमें भी अपने व्यक्तित्व के प्रति आस्था हैं । वे मानव के भीतर आस्था के भाव पैदा करना चाहते हैं । इसीलिए तो कवि कहता हैं –

क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी,
अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी हैं,
हो चुकी हैवानियत की इन्तेहा,
आदमीयत की मगर आगाज बाकी हैं!
लो तुम्हें मै फिर नया विश्वास देती हूँ,
नया इतिहास देती हूँ ।[2]

कहा जा सकता है कि इस सामाजिकता की दृष्टि के ही परिणामस्वरूप व्यक्ति मे आस्था के भाव जगते हैं इसीलिए ' आस्था ' शीर्षक कविता में कवि भविष्य के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हुए कहता है –

रात :
पर मै जी रहां हूँ निडर

---

[1] – कीर्ति चौधरी – 'दायित्व भार', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 35–36
[2] – धर्मवीर भारती – 'कविता की मौत', ठंडा लोहा, पृष्ठ 46

जैसे कमल

जैसे पंथ

जैसे सूर्य

क्योकि

कल भी हम खिलेगें

हम चलेगें

हम उगेगें

और

वे सब साथ होंगे

आज जिनको रात ने भटका दिया हैं।[1]

वस्तुतः अपने व्यक्तित्व या अपनी जिन्दगी के प्रति आस्थावान वही हो सकता हैं जिसमें भविष्य के प्रति भी आस्था हो । और सुरक्षित रख पाने में सफल होता हैं । यदि सुन्दर भविष्य की कल्पना ही मनुष्य के अन्दर न जगें तो शायद जीवन जीना भी दूभर हो जाय । यही कारण है कि जहाँ कवि वर्तमान के प्रति आस्थावान है वही भविष्य के प्रति भी । उसको पूर्ण विश्वास है कि—

तुम न मानों शब्द कोई है न नामुमकिन

कल उगेंगे चाँद तारे , कल उगेगा दिन

कल फसल देंगे समय को, यही 'बंजर खेत'।[2]

यद्यपि अपनी लघुता का भी उसे बोध है लेकिन व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण के चलते वह अपनी लघुता के प्रति भी आस्था रखता है । वह अपने लघु व्यक्तित्व मे भी भक्ति और गरिमा से युक्त हैं। लघु व्यक्तित्व में भी कितना धैर्य साहस एवं आत्म विश्वास हैं इसकी एक झलक इन पक्तियों मे दिखाई देती हैं —

यह वह विश्वास ,नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा ,

वह पीड़ा ,जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा ,

कुत्सा ,अपमान,अवज्ञा के धुँधुवाते कढुवे तम में

यह सदा द्रवित ,चिर जागरूक ,अनुरक्त —नेत्र

उतलम्ब बाहु, यह चिर—अखण्ड अपनाया ![3]

तात्पर्य यह कि कवि को अपने ऊपर तो विश्वास है ही साथ ही वह जन—सामान्य के प्रति भी सदैव अखण्ड एवं द्रढ अपनत्व की भावना रखता हैं। 'टूटा पहिया ' शीर्षक कविता मे धर्मवीर

---

[1] — धर्मवीर भारती — 'आस्था', सात गीत वर्ष, पृष्ठ 43

[2] — दुष्यन्त कुमार — 'नयी पीढ़ी का गीत', सूर्य का स्वागत, पृष्ठ 83

[3] — अज्ञेय — ''यह दीप अकेला'', बावरा अहेरी, पृष्ठ 61—62

भारती टूटा पहिया लेकर भी अपनी लघुता के प्रति चिर–आस्थावान हैं । उनका कहना है कि मैं समय आने पर या आवश्यकता पड़ने पर ब्रम्हास्त्रों से भी लोहा ले सकता हूँ । अतः मुझे निरर्थक जान, अनुपयोगी समझ कर फेंक मत दों ।

लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय लें ![1]

व्यापक सामाजिकता को काव्य–सृजन का आधार बनाने के ही कारण नारी के प्रति एक नवीन एवं व्यापक द्रष्टिकोण होता हैं । नारी सदियों से शोषित ,प्रताड़ित एवं उपेक्षित होती रही हैं । उसको प्रायः दो रूपों मे भी देखा जा रहा हैं –पहला भोग्या के रूप में दूसरा ग्रह सेविका के रूप में । वस्तुतः वैज्ञानिक चेतना के प्रस्फुटन के पहले तक नारी को मात्र काम–लिप्सा या वासना की पूर्ति के साधन के रूप में ही चित्रित किया जाता था । वह समाज में अपनी कोई अलग भूमिका या अस्तित्व नही रखती थी। घर की चहारदीवारी ही उसके लिए समूचा संसार था । वैज्ञानिक चेतना के अभ्यूदय तथा तमाम राजनीतिक ,सामाजिक विचार धाराओं एवं घटनाओं के अभ्युदय एवं परिवर्तन के साथ ही नारी के प्रति लोगों की दृष्टि में भी परिवर्तन हुआ । छायावादोत्तर युग से पहले मैथलीशरण गुप्त ने उपेक्षित नारी को उसका उच्च पद प्रदान कर उसे समाज के समक्ष एक नये रूप में प्रकट किया तो छायावादीं कवियों नें उसे वासना की पंकिलता से बाहर निकाल मॉ ,देवी, सहचरी एवं प्राणप्रिया के रूप में प्रतिष्ठित किया । सामाजिकता की दृष्टि के ही फलस्वरूप छायावादोत्तर युग की कविता में नारी को व्यापक स्थान मिला । इस दृष्टिकोण की व्यापकता के फलस्वरूप वह एक तरफ बंदिनी नारी की मुक्ति का आहवान करता है तो दूसरी तरफ सदियों से शोषित एवं पीडित नारी को उत्थान का सन्देश देते हुए उसे कर्म–क्षेत्र में प्रवृत्त होने की प्रेरणा भी देता हैं । नारी–मुक्ति के लिए पंत ने मानव का आहवान करते हुए लिखा –

मुक्त करो नारी को मानव !
चिर बन्दिनि नारी को,
युग–युग की बर्बर कारा से !
जननि ,सखी, प्यारी को ।[2]

---

[1] – धर्मवीर भारती – 'टूटा पहिया', सात गीत वर्ष, पृष्ठ 54
[2] – सुमित्रानन्दन पन्त – 'नारी', युगवाणी, पृष्ठ 46

साथ ही वह नारी को योनि स्तर से ऊंपर उठाकर पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करने की बात करता हैं तथा उसे मानवी स्वरूप प्रदान करता हैं ।

नर–नारी का तुच्छ भेद हैं,
केवल युग्म विभाजन।
उसे मानवी का गौरव दे ,
पूर्ण सत्व दो नूतन ![1]

'मजदूरनी के प्रति' कविता में कवि ने नारी को ऐसे रूप में उदघाटित किया हैं जो सर्वथा नवीन एवं मौलिक हैं –

नारी की संज्ञा भुला, नरों के संग बैठ,
चिरजन्म सुध्द–सीजन जन ह्नदयों मे सहज पैठ,
जो बटाँ रही तुम जग जीवन का काम–काज,
तुम प्रिय हो मुझे, न छूटी तुमको काम–काज ![2]

नारी का एक चित्र निराला की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है। जिसमें कवि भारत की विधवा नारी का चित्रण करते हुए उसके प्रति सहानुभूति एवं सम्मान की भावना प्रकट करता हैं –

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा–सी
वह दीप शिखा सी शांत भाव में लीन
वह क्रूर काल–ताण्डव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरू की छुटी लता–सी–दीन
दलित भारत की ही विधवा हैं।[3]

जहॉ तक समाज में नारी की स्थिति का प्रश्न हैं वह सदियों से न्यायिक एवं लैगिंक शोषण की शिकार होती आयी हैं । उसके अधिकारों एवं व्यक्तित्वों को हमेशा उपेक्षित किया गया हैं । छायावादोत्तर युग का कवि उसके अधिकार एवं व्यक्तित्व से परिचित है। इसीलिए उसकी लेखनी नारी की दयनीय दशा के चित्रण तक ही सीमित नहीं रहती अपितु वह उसे राष्ट्र के उद्धार के लिए जागरूक होने की प्रेरणा भी देती हैं । जहॉ वह नारी को रागिनी, कामिनी, एवं प्रणय की खिलाडिन की संज्ञा देता हैं –

किन्तु नारी सिर्फ नारी हो तुम्हें मैं जानता हूँ ,
तुम प्रणय की हो खिलाडिन मैं तुम्हे पहचानता हूँ।[4]

---

[1] – सुमित्रानन्दन पन्त – 'नारी', युगवाणी, पृष्ठ 46
[2] – सुमित्रानन्दन पंत – 'मजदूरनी के प्रति', ग्राम्या, पृष्ठ 84
[3] – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', परिमल, पृष्ठ 98
[4] – रामेश्वर शुक्ला 'अंचल' – 'नारी', आधुनिक कवि (2), पृष्ठ 19

वहीं पर वह कहता हैं कि –

चाहता मै एक नूतन देश का संवाद तुमसे
चाहता मैं अब न बीती प्रियतमा की याद तुमसे।[1]

वस्तुतः बदलती परिस्थितियों तथा घटनाओं के बीच नारी के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ हैं । केदारनाथ अग्रवाल नारी से सामूहिक जन–जीवन पाने के लिए कहते हैं –

चोली चीर उतारी नारी
जाओं –जाओं युग पर बारी ,
लज्जा के परिधान न भातें ,
खुली देह को एक न भाते ,
आओं मर्दो के संग आओं ,
सामूहिक जन–जीवन पाओं।[2]

तो ' नवयुग और नारी ' में जगन्नाथ प्रसाद ' मिलिन्द ' नारी को सम्बोधित करते हुए उसे वाह्ययाडम्बर जड़ता एवं शोषण से मुक्त होकर क्रांति की ज्वाला बनने को कहते हैं । कवि कहता है कि अब सामाजिक रूढ़ मूल्यों का अस्तित्व धराशायी हो गया हैं ,परिस्थितियाँ परिवर्तित हो चुकी हैं। अतः उसे भी नवीन समाज की रचना के लिए सन्नद्ध हो जाना चाहिए।[3]

छायावादोत्तर युग का कवि नारी को भाक्ति के आगार के रूप में स्वीकार करता हैं इसीलिए वह उसका आहवान करता हैं । उसे क्रांति के लिए चेतना की लपट बनकर जल उठने के लिए कहता हैं, क्योंकि उसे विश्वास हैं कि नारी की मुक्ति अपरिमित हैं

बनों पुनः चैतन्य लपट,
ओ भस्मावृत्त चिनगारी
अमिय–हलाहल – मदमय–नयना
तुम भारत की नारी।[4]

प्रगतिवादी कवि महेन्द्र भटनागर ने भी नारी के परिवर्तित रूप को प्रकट करते हुए नारी से कहा हैं –

तुम नहीं कोई
पुरूष की जर–खरीदी चीज हो ,
तुम नहीं

---

[1] – रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'– 'नारी', आधुनिक कवि (2), पृष्ठ 20
[2] – केदारनाथ अग्रवाल – 'हंस', जून, 1942
[3] – जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' – 'नवयुग और नारी', भूमिकी अनुभूति, पृष्ठ 26
[4] – नरेन्द्र शर्मा – 'भारत की नारी', अग्नि शस्य, पृष्ठ 65

आत्म–विहीना सेविका

मस्तिष्क–हीना सेविका ,

गुड़िया हृदय –हीना,

नहीं हो तुम

वही युग–युग पुरानी

पैर की जूती किसी की ,

* *

कह रहाँ हूँ मैं –

''तुम्हारा ' प्रभु नहीं हूँ ,

हाँ सखा हूँ ![1]

वस्तुतः बदलती परिस्थितियों के बीच कवि उससे केवल प्रणय अथवा प्रेम की ही चाहत नहीं रखता ,अपितु वह उससे उस शक्ति की आशा रखता हैं , जिससे युग की विषमताओं एवं पीडाओं के विरूद्ध वह संघर्ष कर सके–

शक्ति दो मुझको, सलोनी, प्यार से

लड़ सकूँ मै मौत की ललकार से।[2]

यद्यति कहीं–कहीं कुछ कवियों ने अपनी कविताओं में भोग्या, मोहिनी, तथा वासना की भूख को शांत करने वाली भी माना हैं , लेकिन न समग्र रूप में नारी के प्रति छायावादोत्तर युंग की कवि द्रष्टि व्यापक एवं नवीन रही हैं । कवि ने उसे शक्ति एवं जनसमस्याओं से संघर्ष में पुरूष की सहायिका के रूप में ही अधिक देखा हैं । वह उसे मात्र प्रेम की ही चाहत नहीं रखता अपितु शक्ति ,प्रेरणा सहायता एवं जीवनोल्लास की भी आकांक्षा करता हैं ।

कहा जा सकता है कि सामाजिकता को काव्य–लेखन का मानदण्ड स्वीकार करने के कारण ही कवि की द्रष्टि में व्यापकता आयी हैं । और उसी के फलस्वरूप कवि एकांकी मनोवृत्ति से ऊपर उठकर सामाजिकता के ठोस धरातल पर खडा होता हैं तथा एक ओर आस्था एवं विश्वास के साथ कर्मरत एवं संघर्षरत होता है। तो दूसरी ओर नारी के प्रति नवीन एवं व्यापक द्रष्टिकोण प्रकट करता है।

---

[1] – महेन्द्र भटनागर – 'नई नारी', चयनिका, पृष्ठ 147– 48

[2] – गिरिजा कुमार माथुर – 'तैंतीसवीं वर्षग्राठ, धूप के धान, पृष्ठ 87

२ – व्यक्तिगत चेतना के स्तर पर

सामाजिक बोध से समन्वित वैयक्तिकता के फलस्वरूप ही आधुनिक हिन्दी कविता का वास्तविक विकास सम्भव हो सका हैं । रूढ़ नैतिकता, परम्परा एवं आदर्श आदि के बधंनों से विद्रोह का भाव व्यक्तिवादी चेतना की ही उपज हैं । इस व्यक्तितवादी चेतना का सर्वप्रथम मुखर स्वर छायावादी कविताओं में देखने को मिलता हैं । यद्यपि इस वैयक्तिकता की प्रधानता ने छायावादी काव्य में क्रांतिकारी परिवर्तन भी उपस्थित किये लेकिन व्यक्तिवादी चेतना के ये कवि धीरे–धीरे सूक्ष्मता के जाल में इस कदर उलझ गये कि युग–जीवन एवं समाज से इनको एवं इनकी कविताओं का सम्बन्ध विच्छेद सा हो गया । इस प्रकार छायावादी कविता की वैयक्तिकता की प्रधानता को प्रश्रय देता हुआ भी व्यक्तिगत सुख दुख ,प्रेम एवं प्रणय आदि की अभिव्यक्ति में तथा अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना में पूर्ण स्वतन्त्र न हो पाया । छायावादोत्तर युग में वैयक्तिकता की प्रथम प्रतिष्ठा व्यक्तिपरक काव्यधारा के कवियों ने की तथा प्रयोगवाद एवं नयी कविता के कवियों नें उसे अपने काव्य–सृजन में व्यापकता एवं सर्वोच्चता प्रदान की । यहॉ यह अवश्य कहना चाहूँगा कि व्यक्तिपरक प्रणय एवं सुख–दुख की खुली अभिव्यक्ति तक ही सीमित थी, वहीं प्रयोगवाद तथा नयी कविता के कवियो की वैयक्तिकता सामाजिकता एवं युग यथार्थ का दामन पकड़े हुए थी। कहा जा सकता हैं कि छायावादोत्तर युग की इन दोनों काव्यधाराओं में व्यक्तिकता को काव्य–लेखन के आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन दोनों काव्यधाराओं की वैयक्तिकता के मूल में अन्तर परिलक्षित होता है।

वैयक्तिकता जहॉ एक ओर युग के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं , व्यक्ति की महत्ता को पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान करती हैं ,वही वह ह्रासशील असामाजिक भावनाओं को भी जन्म देती हैं। नितान्त व्यक्तिवादी व्यक्ति समाज की विशमताओं एवं विडम्बनाओं से संघर्ष हेतु अकेले ही तैयार होता हैं , क्योंकि वह स्वयं की शक्ति एवं पुरूषार्थ पर आवश्यकता से अधिक विश्वास करता हैं ,परन्तु एकाकी संघर्ष में वह असफलता को ही वरण करता हैं । फलतः जीवन एवं समाज की बार–बार की असफलता उसे और अधिक एकाकीं बनाती हैं और वह निराशा एवं अवसाद के घेरे में घिरता चला जाता हैं, कुण्ठा एवं वस्ती उसके ह्रदय में डेरा जमाती जाती हैं । वस्तुतः जिस वैयक्तिकता की प्रधानता के फलस्वरूप कवि ने प्रेम एवं प्रणय के नये रूपों एवं मान्यताओं को स्थापित करता हैं, वहीं वैयक्तिकता की प्रधानता तथा प्रेम एव प्रणय की असफलता उसमें निराशा, कुण्ठा, अवसाद, पराजय, और मृत्यूबोध जैसे भावों को भी जन्म देती हैं । यही कारण हैं कि छायावादोत्तर युग की कविता में जहॉं एक ओर प्रेम , प्रणय, रोमांश आदि की अभिव्यक्ति में

स्वतन्त्रता ,नयापन, विद्रोहात्मकता एंव स्थूलता देखने को मिलती हैं वही दूसरी ओर पलायन आस्था एवं निराशा के स्वर, क्षणवादी भावना की प्रधानता, कुण्ठा, घुटन, स्वकी लघुता एवं निरीहता की व्यापक अनुभूति तथा अहंवाद के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। जीवन की क्षण भंगुरता के प्रति विश्वास तथा भोगवाद की जो प्रवृत्ति देखने को मिलती हैं वह और कुछ नहीं अपितु व्यक्तिवाद के बीच से ही जन्मी असफलता की प्रतिकिया हैं । इन सबके बावजूद अज्ञेय, धर्मवीर भारती, भारत भूषण अग्रवाल, विजयदेव नारायण साही आदि की कविताओं में अपने जीवन, व्यक्तित्व, लघुता एवं भविष्य के प्रति आस्था के स्वर भी सुनाई देते हैं जो कि कवि के वैयक्तिक धरातल को ही व्यंजित करतें हैं।

छायावादोत्तर व्यक्तिपरक काव्यधारा के कवियों में यह वैयक्तिकता अपनी पूरी प्रखरता से व्यंजित हुई है ,लेकिन प्रगतिवादी कवियों ने इसे असामाजिक ठहराते हुए बहिष्कृत कर दिया । तत्पश्चात प्रयोगवाद एवं नयी कविता के कवियों ने इसे पुनःकाव्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया । या यों कहें कि पुन : काव्य लेखन के मानदण्ड़ के रूप में स्वीकार किया । वस्तुतः वैयक्तिकता तो प्रयोगवाद की प्रमुख प्रवृत्ति भी रही हैं । वैयक्तिकता को आधार–बिन्दु के रूप में स्वीकार करते हुए छायावादोत्तर युग का कवि पूर्णमुक्त एवं बाधा रहित प्रेम की आकांक्षा करता हैं –

जब करूँ मै प्यार ,
हो न मुझ पर कुछ नियंत्रण
कुछ न सीमा ,कुछ न बन्धन ।[1]

प्रेमाभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता को नरेन्द्रं शर्मा की इन पंक्तियों मे देखा जा सकता हैं –

बहुत दिनों तक दूर रह लिये आओ अंक मिलन कर लें ।
विरह व्यथा के दिन सुमिरन कर द्रढ़तर आलिंग न भर लें ।[2]

साथ ही अनुचित बन्धनों को फैलाने वाले, महत्वहीन नीतियों एवं मान्याताओं को स्थापित करने वाले तथा प्रेम के क्षेत्र में बाधक बनने वाले संसार के प्रति वैयक्तिक प्रधानता के ये कवि उपेक्षा भरे स्वर में कह उठतें हैं –

हाय रे ! निष्ठुर उपेक्षा ! क्या मुझे अधिकार ,
जो कहुँ मेरे लिए निष्ठुर बना संसार ।[3]

' यामिनी –मिलन ' ' मधुलिका ' तथा ' प्रभातफेरी ' में कमशः बच्चन ,अंचल तथा नरेन्द्र शर्मा ने प्रणय एवं प्रेम की मांसल अभिव्यक्ति मे चुम्बन , अलिगंन आदि का स्पष्ट वर्णन किया हैं –

तब वे मना मना हारेंगें ।

---

[1] अजित कुमार (सम्पादक) – बच्चन रचनावली1, एकान्त संगीत, पृष्ठ 234
[2] नरेन्द्र शर्मा – ' मिलन ' प्रभात फेरी , प्र. 71
[3] नरेन्द्र शर्मा – ' पावों की हड़कल , प्रवासी के गीत, प्र 64

बारेंगे लाखों मधु चुम्बन ।[1]

इस प्रकार प्रेम की लौकिक एवं स्वतंत्र अभिव्यक्ति में ये कवि कहीं–कहीं सीमा के पार भी चले गये हैं लेकिन सम्पूर्ण रूप में देखा जाये तो इन कवियों में आवेश और उन्माद के बीच भी एक संयमशीलता के दर्शन होते हैं । उनकी वैयक्तिकता जहाँ सामाजिकता से साक्षात्कार करती दिखायी देती हैं, वहाँ तो कविता की उत्कृष्टता स्वतः ही बढ़ जाती हैं । वस्तुतः प्रेम अथवा प्रणय की स्वानुभूतियाँ को छायावादोत्तर युग के कवियों ने स्वस्थ एवं संयम के धरातल पर बड़ी सरसता, स्वाभाविकता एवं नवीनता के साथ उद्घाटित किया हैं । इस दृष्टि से धर्मवीर भारती का ' ठंड़ा लोहा ' काव्य–संग्रह विशेष महत्व रखता हैं जिसमें प्रेम एवं सौन्दर्य की अभिव्यक्ति नितांत वैयक्तिक धरातल पर हुई हैं। संग्रह की ' फिरोजीहोठ ' 'मग्धा' 'उदास मैं ' फागुन की शाम ' कच्ची सांसो का इसरार ' 'गुनाह का दूसरा गीत ' आदि कविताएं विशेष उल्लेखनीय हैं । प्रणय एवं प्रेम के स्थूल एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से ' फिरोजी होठ' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों को बतौर उदाहरण देखा जा सकता हैं –

तुम्हारे स्पर्श की बादल धुली कचनार नरमाई
तुम्हारे वक्ष की जादू भरी मदहोश गरमाई
तुम्हारी चितवनों में नरगिसों को पॉत शरमाई
किसी भी मोल पर मैं आज अपने को लुटा सकता ।[2]

अज्ञेय की प्रणय सम्बन्धी कविताओं में एक ओर आत्मनिवेदन का भाव दिखायी देता हैं तो दूसरी ओर प्रेयसी के रूप – चित्रण की नवीनता के भी दर्शन होते हैं –

तुम्हारी देह, मुझको कनक चम्पे की कली हैं,
दूर ही से स्मरण में भी गंध देती हैं।
तुम्हारे नैन पहले भोर की दो ओस बूँदे हैं
अछूती , ज्योंतिमय , भीतर द्रवित................ ।[3]

गिरिजा कुमार माथुर में भी राग, रंग एवं रोमांस के प्रति आकर्षण का भाव देखने को मिलता हैं। इनकी कविताओं में जिस प्रेम एवं सौन्दर्य की प्रधानता है, उसकी अपनी अलग ही विशिष्टता हैं । जहॉ तक स्थूल ,मॉसल व ऐन्द्रिय अभिव्यक्ति का प्रश्न है, वह इनकी कविताओं में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं । स्थूल श्रंगारिक चित्रण की दृष्टि से कवि की इन पंक्तियों को देखा जा सकता हैं –

दूज–कोर से उस टुकड़े पर

---

[1] नरेन्द्र शर्मा – ' धीरज, प्रभात फेरी , प्र 105
[2] धर्मवीर भारती – ' फिरोजी होठ ' ठंडा लोहा , प्र 18
[3] अज्ञेय – ' नख–शिख , बावरा अहेरी , प्र. 34

तिरने लगी तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें
सेज सुनहली
कसे हुए बंधन में चूड़ी का झर जाना ।[1]

वस्तुतः प्रेयसी के साथ बितायें क्षणों का कवि पूरी ईमानदारी एवं निष्पक्षता के साथ निःसंकोच एवं खुला चित्रण प्रस्तुत करता हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह हैं कि उसमें अनुभूति की प्रमाणिकता दृष्टिगत होती हैं ।

वैयक्तिकता एक ओर व्यक्ति को विद्रोही बनाती हैं तो दूसरी ओर एकाकी विद्रोह की असफलता उसमें निराशा, कुण्ठा, पीड़ा, घुटन, एवं पलायन की मनोवृत्ति भी उत्पन्न करती हैं । व्यक्ति तमाम संघर्षों से गुजरता हुआ जीवन एवं समाज की अनेक विषमताओं से साक्षात्कार करता हैं । कभी वह जीवन संघर्ष के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करता हैं तो कभी असफलता। वैयक्तिकता व्यक्ति को अन्तर्मुखी भी बनाती हैं। फलतः वह समष्टि से कट कर रहता हैं और जीवन–संघर्ष में अकेले ही जूझता है और असफल होता हैं यह असफलता मनुष्य में निराशावादिता को जन्म देती हैं , धीरे–धीरे यह निराशा का चादर इतना अधिक फैल जाता हैं कि उसे सभी चीजों से नफरत होने लगती हैं तथा वह सभी के प्रति अपनी अनास्था का भाव प्रकट करने लगता हैं । छायावादोत्तर युग की कविता में जिस अवस्था की अभिव्यक्ति हुयी हैं जो निराशा का स्वर सुनाई देता है उसका क्षेत्र काफी विस्तृत हैं । छायावादोत्तर युग की कविताओ में निराशा और अनास्था सर्वप्रथम प्रेम एवं उसकी असफलता के रूप में प्रकट हुयी हैं । व्यक्तिगत जीवन मे बार–बार के प्रेम की असफलता उन्हें निराशा और जड़ता से आबद्ध कर देती है।

छायावादोत्तर कविता में व्यक्त निराशा एवं पलायन के भाव की उत्पत्ति के पीछे वैयक्तिकता प्रमुख रूप से क्रियाशील रही हैं । वैयक्तिक जीवन में संघर्षो के अतिशयता ने उन्हें पलायन आदि बनाया है। तो जीवन संघर्षो में मिलने वाली असफलता ने उनमे निराशा के भाव जगाये हैं । बच्चन के 'एंकाक संगीत' 'निशा–निमंत्रण' नरेन्द्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' तथा 'अंचल' जी की अनेक कविताओं में इन भावों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता हैं । कविं बच्चन में यह निराशा का भाव सर्वाधिक मुखरित हुआ हैं –

डूब रही हैं नौका मेरी ,
बंद जगत है आखें तेरी
मेरी संकट की घड़ियों के साखी नभ के तारे !
अव तो दुःख के दिवस हमारे ।[2]

---

1 – गिरिजाकुमार माथुर – 'चूड़ी का टुकडा' तारसप्तक , पृष्ठ 173
2 – अजित कुमार (संपा.)– बच्चनी रचनावली–1, एकांत संगीत, पृष्ठ 222

'प्रवासी के गीत ' का कवि इतना अधिक निराशा के घेरे मे घिर जाता हैं कि उसे स्वयं पर भी विश्वास नहीं रह जाता –

है किसका विश्वास मुझे अब ,
अपनी भी परतीत नहीं जब ,
हुआ सब तरह आत्म–पराभव ....।[1]

अपनी प्रणयजन्य निराशा को प्रकट करते हुए कवि कहता हैं –

अगर इधर आना हुआ तो देख लोगी !
स्नेह इसका बुझ चुकेगा और दीपक बुझ चुकेगा ।
हमें क्या जलतें रहेंगे , जब तलक कुछ भी रहेगा ।
और खुद बुझ जायेगें हम ,जब न अपना बस चलेगा ।[2]

कवि इतने तक ही सीमित नहीं रह जाता अपितु जीवन–संघर्षो से ऊब कर उसमें असफलता प्राप्त करते–करते वह इतना अधिक निराश हो जाता हैं कि आत्महत्या तक करने की भी सूचना देने लगता है –

अपने पर मैं ही रोता हूँ ,
मै अपनी चिता संजोता हूँ
जल जाऊंगा अपने कर से रख अपने ऊनी अंगारे !
खिड़की से झांक रहे तारे ![3]

वस्तुतः इन दोनों भावों निराशा एवं पलायन के उत्पन्न होने के पीछे वैयक्तिकता ही क्रियाशील रही हैं । वैयक्तिकता की चरम परिणति अहंवाद के रूप में प्रष्फुटित होती हैं । तात्पर्य यह कि वैयक्तिकता अहंवाद को जन्म देती हैं । और ये दोनों मिलकर कवि को अपनी शक्ति एवं समता का झूठा एहसास प्रदान कर पौरष एवं ओज की झूठी तस्वीर दिखाकर सामाजिक विषमताओं के विरूद्व संघर्ष के लिए एकाकी खडें होने की प्रेरणा प्रदान करतें हैं । इस एकांकी संघर्ष का परिणाम पराजय एवं असफलता के रूप में सामने आता हैं , जोकि निराशा की भावना को जन्म देती हैं तथा अतंतोगत्वा वह अपनी पराजय स्वीकार करता हुआ कह उठता हैं –

नहीं मुझको नहीं अपने दर्द का अभिमान ,
मानता हूँ मै पराजय है तुम्हारी याद ।[4]

---

1 - नरेन्द्र शर्मा – प्रवासी के गीत , पृष्ठ 91
2 – नरेन्द्र शर्मा – प्रवासी के गीत , पृष्ठ 88
3 - अजित कुमार (सम्पादक) बच्चन रचनावली 1, एकान्त संगीत , पृष्ठ 218
4 - अज्ञेय– ' पराजय है याद' – हरी घास पर क्षणभर , पृष्ठ 17

अज्ञेय के अतिरिक्त प्रयोगवादी काव्यधारा के अन्य कवियों तथा नयी कविता के कवियों – भारती ,जगदीश गुप्त ,गिरिजा कुमार माथुर , भारत भूषण अग्रवाल , नेमिचन्द्र जैन , रघुबीर सहाय आदि की कविताओं में ये भाव व्यापक स्तर पर देखे जा सकते है। जिसमें कवि स्वीकार करता हैं कि उसके पास शक्ति नहीं हैं तथा वह आज पूर्णरूपेण व्यर्थ हो गया हैं –

हैं नहीं बस शक्ति ही सहयोग की ,
सब तरफ फैले हुए
उन विविध गतिमय, प्राणमय
संचलित तत्वों से किसी संबंध की
कुछ स्वतः स्फूर्त सजीव विनिमय की
इसलिए ओ मार्ग – दर्शक ,
आज मै सब व्यर्थ हूँ ?[1]

निराशा कवि को संसार कैसा मालूम पड़ता है उसे रघुबीर सहाय की इस कविता में देखा जा सकता हैं –

दुनिया एक पपड़ियाई हुई सी चीज हो गई हैं
दुनिया एक चिपचिपाई हुई सी चीज हो गई हैं।
दुनिया एक फूँफदियाई हुई सी चीज हो गई है।
दुनिया एक बजबजाई हुई सी चीज हो गई हैं ।[2]

वस्तुतः व्यक्तिपरक काव्यधारा के कवियों की निराशा वैयक्तिक प्रेम एवं प्रणय की असफलता का प्रतिफल रही हैं जबकि प्रयोगवाद या नयी कविता में मिलने वाली निराशा सामाजिक समस्याओं का प्रतिफल हैं लेकिन इस युग की कविताओं में भी यदा–कदा प्रेम –जनित निराशा के भाव दिखायी पड़ते हैं।

'ठंडा लोहा' का कवि एक ओर पराजय स्वीकार करते हुए जमकर लोहा बन जाने अर्थात निष्क्रिय हो जाने की बात करता हैं, हार मान लेने की बात करता हैं तो दूसरी ओर उसे स्वयं का जीवन ही व्यर्थ एवं नष्ट महसूस होता हैं –

ऐसा लगता आज कि मेरा सारा जीवन नष्ट
ऐसा लगता आज कि मेरी सभी साधना भ्रष्ट ।[3]

---

1 नेमिचन्द्र जैन – 'व्यर्थ !', तारसप्तक, प्र 70
2 रघुबीर सहाय – (नयी कविता और अस्तित्ववाद – डॉ रामविलास शर्मा , प्र115 से उद्धृत)
3 धर्मवीर भारती – ' घबराहट की शाम ' ठंड़ा लोहा , पृष्ठ 61

'परिवेश : हम तुम' का कवि अपने समाज एवं जीवन तथा आसपास घटित होने वाली घटनाओं से इतना ऊब गया है निराश हो गया हैं कि उसे स्वयं पर भी विश्वास नहीं रह गया हैं –

आस पास की दुनिया को चिल्लाता छोड़
अगर चुप हो जाऊँ , डूबा रहूँ या डूब जाऊँ
तो मुझे माफ कर देना मेरी आराम देह चीजों
मुझे डर है कि शायद मैं तुमसे भी ऊब जाऊँ ।[1]

वस्तुतः जब व्यक्ति निराशावादी या पलायनवादी हो जाता हैं तब उसके समक्ष समस्त चीजों से समस्त परिस्थितियों से पराजय स्वीकार करने के अतिरिक्त और कुछ शेष ही नहीं बचता । ' ठंड़ा लोहां ' 'उपलब्धि ' तथा 'पराजय पीढ़ी का गीत ' शीर्षक कवितायें निराशा के भावों से तो भरी हैं साथ ही उनमें आत्म–पराजय की स्वीकृति का भाव भी व्यंजित हुआ हैं –

हम थे सैनिक अपराजेय
पर हम थे बेबस लाचार
यह था कठ पुतलों का खेल
ऊपर थी कलई ,पर लकड़ी के थे सब हथियार ।[2]

इस प्रकार छायावादोत्तर युग का कवि जिस निराशावादिता एवं पलायनवादिता की ओर उन्मुख होता हैं उसे स्पष्ट रूपेण प्रकट भी करता हैं। जिस दर्द एवं पराजय को वह भोगता है, उसे छिपाता नहीं अपितु बिना किसी लाग लपेट के स्वीकार भी करता हैं । अज्ञेय ,भारत भूषण ,मुक्तिबोध ,नरेश मेहता , विजय देव नारायण साही आदि सभी में दर्द एवं पराजय की आत्म स्वीकृति देखने को मिलती हैं, किन्तु यह स्मरणीय है कि छायावादोत्तर युग का कवि जीवन–संघर्षो के पथ पर मिलने वाले दर्द पराजय के सम्मुख घुटने नहीं टेकता अपितु उन दर्दों एवं पराजयों के बीच से ही वह प्रेरणा ग्रहण करता है शक्ति अर्जित करता हैं –

पर न हिम्मत हार ,
प्रज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप
ढाल उसमें शक्ति अपनी
लों उठा ।[3]

---

[1] धर्मवीर भारती – ' पराजित पीढी का गीत ' सातगीत वर्ष , प्र. 20
[2] धर्मवीर भारती – ' पराजित पीढी का गीत ' सातगीत वर्ष , प्र.20
[3] - भारत भूषण अग्रवाल – 'चुक गया जबनेह ' ओ अप्रस्तुतमन , प्र.51–52

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैयक्तिकता को केन्द्र में रखने के कारण छायावादोत्तर युग की कविता में निराशा, पलायन, कुण्ठा, अवसाद, पीड़ा आदि के भाव व्यक्त हुए हैं। लेकिन इन भावों की अभिव्यक्ति में अथवा उसे स्वीकार करने में छायावादोत्तर युग के कवियों में किसी भी प्रकार की हिचक नहीं दिखाई दी है। यही नहीं अपितु एक ओर वह प्रणय–जन्य पीड़ा एवं निराशा के भावों को अभिव्यक्त करता है। तो दूसरी ओर सामाजिक विषमताओं एवं समस्याओं के बीच पैदा होने वाले कष्टों एवं निराशाओं को भी अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार वैयक्तिकता उसके काव्य–सृजन के आधार के रूप में हमेशा उसके साथ रही है।

३ – मध्ययुगीनता एवं आधुनिकता

छायावादोत्तर युग का कवि ' आधुनिकता –बोध को काव्य के प्रमुख मूल्य के रूप में स्वीकार करता हैं । इसीलिए छायावादोत्तर कवि मध्ययुगीनता की प्रमुख अवधारणाओं को इस तरह पुर्नसृजित करता है कि वे अवधारणायें स्तब्ध मानसिकता की सीमा को तोड़कर युग–विकास में सहायक बन सकें । धर्म, ईश्वर, एवं जाति–प्रथा जैसी मनोवृत्ति को ये कवि इस रूप में उठाते हैं कि इन सब के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि का विकास हो सके तथा यही विकास परम्परा आधुनिक युग और आधुनिक बोध की नीव को सुदृढ़ बना सकें । इस दिशा में इन कवियों का योगदान रेखांकित करने योग्य हैं । वस्तुतः इस आधुनिकता बोध के जन्म के पीछे जहाँ सामाजिक ,सांस्कृतिक ,आर्थिक ,राजनैतिक परिस्थितियों ने अपनी भूमिका निभायी है वहीं वैज्ञानिक चेतना मार्क्सवादी समाजवादी विचारधाराये भी विशेष क्रियाशील रही हैं । आज का कवि यह मानकर चलता हैं कि कवि कों राष्ट्रीय –अन्तर्राष्ट्रीय परिवेशों तथा नवीन चेतनाओं से तादाम्य स्थापित करने के साथ ही साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से भी समन्वित होना चाहिए,क्योंकि जर्जर रूढ़ियों एवं रूढ़ असामाजिक मान्यताओं को तोडने तथा युग सन्दर्भ के अनुकूल नवीन मान्यताओं की स्थापनाओं में ये वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं प्रगतिशील विचारधारा में एक सहायक का कार्य करती हैं ।

वस्तुतः कवि का यह दायित्व होता है कि वह युग सन्दर्भो के बीच उत्पन्न नये भावबोधों एवं समसामयिक परिवेश के प्रति जागरूक हो तथा उसके प्रति अपनी वैज्ञानिक दृष्टि रखें क्योंकि आधुनिक बोध की दृष्टि से समन्वित रचनाकार के पास वह विवेक शालिनी बुद्धि होती हैं जिसके माध्यम से वह समाज एवं जीवन में व्याप्त जर्जर, रूढ़ मृतप्राय एवं असामाजिक रूढ़ियों नैतिकताओं एवं मान्यताओं को तोडने का सशक्त प्रयास करता हैं और युगानुरूप परिवर्तित परिस्थितियों के बीच जन्म लेने वाली प्रगतिशील तथा जीवंत विचारधाराओं की प्रतिष्ठा करता हैं । भारत भूषण अग्रवाल ने भी स्वीकार किया है कि आधुनिकता बोध एक शक्ति हैं इससे जुड़ा रहने वाला कवि खोखले

,रूढ़ एवं मृत शब्द जालों को तोड़कर नवीन युग सन्दर्भो के बीच कमजोर एवं भूखे लोगों का प्रतिनिधित्व कर सकता हैं उनका नेतृत्व कर सकता हैं –

कवि तोड़ो अपना शब्द जाल ,जो आज खोखला शून्य हुआ
यह हैं अपने पुरुखों की वैभव भोगमयी कलुशित वाणी
मदमत्त विलासिनी त्याग इसे बनना हैं तुझको तो अगुआ
युग का युग की भूखी कमजोर हड्डियों का जिनका पानी
है उठा खौल ,घिर रहा विश्व पर घटाटोप बादल बनकर ।[1]

तात्पर्य यह है कि आधुनिकता – बोध से जुड़े बिना कवि अपनी रचना में न तो यथार्थ का अंकन कर सकता हैं और न हीं अपने चित्रण में सजीवता एवं जीवंतता भर सकता हैं । आज के युग में व्याप्त घोर विषमता , पीड़ा ,व्यथा , अत्याचार, दुःख एवं दर्द व्याकुलता आदि के चित्रण को वह सहीं एवं सटीक रूप में तभी उदघाटित कर सकता है जबकि उसकी चेतना आधुनिकता – बोध से समन्वित हो और आज जबकि हम नवीन सामाजिक निर्माण की आकांक्षा रखते है तो आधुनिकता बोध से समन्वित होना विशेष आवश्यक हो जाता हैं क्योंकि युग परिवेश के सही बोध के बिना किसी स्वस्थ समाज व्यवस्था या विचार की स्थापना की ही नहीं जा सकती । अतः हमें अर्थहीन भावों को त्यागकर नवीन युग–युगानुरूप नये आदर्शो की तलाश करनी चाहिए।

आज का कवि अपने समाज एवं जीवन के प्रति निष्ठावान हैं। पुराने मूल्यों के ढहते महल उसे साफ तौर पर दिखायी दे रहे हैं । युग एवं परिवेश के प्रति विवेकशील लगाव के ही चलते वह एक और साम्राज्यवादी – पूँजीवादी शासन के खिलाफ अपनी वाणी मुखरित करता हैं तो दूसरी ओर अपने देश में व्याप्त जाति धर्म एवं ईश्वर के नाम पर धार्मिक ठेकेदारों के द्वारा होने वाले अत्याचारों का खुल्लम खुल्ला विरोध करता हैं। आधुनिकता बोध के चलते वह विरोधी भी बनता हैं और सृजलशील भी । आधुनिकता बोध के ही कारण आज के कवि ने शोषित पक्षधरता यथार्थ –चित्रण से लगाव नवीन समाज के निर्माण का प्रयास नारी के प्रति व्यापक दृष्टि आदि व्यापक सामाजिक विषयों को काव्य में स्थान प्रदान किया हैं ।

वस्तुतः वैज्ञानिक चेतना से समन्वित छायावादोत्तर युग का कवि धर्म ईश्वर एवं जाति प्रथा की भावना को अप्रासंगिक मानता हैं तथा उसके प्रति पूर्ण अनास्था का भाव प्रकट करता हैं । सबसे पहले धर्म को ही लें तो यह बात स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग में जिस धर्मगत भावना के चलते साम्प्रदायिकता की आग पूरे देश में फैली उसके जनक कोई दूसरे नहीं अपितु विदेशी शासक ही थे । वस्तुतः अंग्रेजी राज्य ने साम्प्रदायिकता की भावना के बीज बोकर काफी लाभ भी उठाया । कहना न होगा कि यह सामप्रदायिकता की भावना भारतीय स्वतंन्त्रता संग्राम की लड़ाई में एक बडी

---

[1] भारत भूषण अग्रवाल – ' अपने कवि से ' तारसप्तक , प्र 88

बाधा के रूप में आकर खड़ी हो गयी थी । छायावादोत्तर युग की जनता में ही नहीं अपितु कवि ह्रदय में भी आजादी प्राप्त करने की ललक समायी हुयी थी, लेकिन साम्प्रदायिकता का यह जहर बार–बार उन्हें असफलता को सहन करने के लिए मजबूर कर रहा था । ऐसी विषम परिस्थितियों के बीच छायावादोत्तर युग के राष्ट्रीय कवियों ने विदेशी दासता के साथ ही साथ साम्प्रदायिकता के विरूद्ध भी संघर्ष की अपनी आवाज बुलन्द की तथा दोनों सम्प्रदायों हिन्दू एवं मुस्लिम के बीच फैले बिष बेलि को काफी हद तक हटाने का प्रयास किया । कांग्रेस और मुस्लिम लीग के समझौते के असफल होने पर ' दिनकर ' ने लिखा–

मुस्लिमों । तुम चाहते जिसकी जबॉ ,
उस गरीबिन ने जबॉ खोली कभी ?
हिन्दुओ ! बोलो, तुम्हारी याद में
कौम की तकदीर क्या बोली कभी ?
छेड़ता आया जमाना पर कभी
कौम ने मुंह खोलना सीखा नहीं ,

* *

खूँ बहाया जा रहा इन्सान का ,
सींग वाले जानवर के प्यार में !
कौम की तकदीर फोड़ी जा रहीं
मस्जिदों की ईट की दीवार में ![1]

यह तो सत्य है कि इस साम्प्रदायिकता के जनक ब्रिटिश शासन एवं उसके शासक थे लेकिन समाज में प्रचलित अनेक धार्मिक मतवाद भी इसके लिए उत्तरदायी थे । इसीलिए बालकृष्ण शर्मा 'नवीन ' ने लिखा –

आस्तिक जन भी तो होते हैं अति प्रलयंकर विप्लवकारी,
औ जड़वादी भी होते है अति विकराल कांति ध्वज धारी ।
तब फिर क्यों आपस का झगड़ा ? क्यो आपस की खैचातानी ?
सामर्थ्यो का दुरूप्योग क्यों ? तब क्यो यह इतनी मनमानी ?[2]

हम पहलें भी स्पष्ट कर आये हैं कि साम्प्रदायिकता का नंगा नाच सर्वप्रथम नोआखाली मे नाचा गया । वहाँ मानव खून की नदी बहा दी गयी । छायावादोत्तर युग के कवि यह देख रहे थे कि

---

[1] रामधारी सिंह 'दिनकर ' – 'तकदीर का बँटवारा ' हुंकार , पृष्ठ 55–56
[2] बालकृष्ण शर्मा 'नचीन ' – ' आज क्रांति का शंख बज रहा ' हम विषपायी जनम के , प्र . 476

धीरे–धीरे यह साम्प्रदायिकता की आग पूरे देश को अपने चपेट में ले रही हैं । अतः वह कह उठता हैं –

नारी–नर जलते साथ हाय! जलते हैं मॉस रूधिर अपने,
जलती है वर्षो की उमंग , जलते हैं सदियों के सपने
ओ बदनसीव ! इस ज्वाला में आदर्श तुम्हारा जलता हैं
समझायें कैसे तुम्हें कि भारतवर्ष तुम्हारा जलता हैं ?
जलतें हैं हिन्दु–मुसलमान ,भारत की आँखें जलती हैं ?
आने वाली आजादी की लो ! दोनों पाँखें जलती हैं ।[1]

प्रगतिवादी कवि शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने साम्प्रदायिकता की भावना का विरोध करते हुए उसके पीछे छिपे साम्राज्यवादी शक्तियों की कूटनीतिक चालों को स्पष्ट किया हैं –

ये छल–छंद शोषकों के हैं कुत्सित ओछे गंदे
तेरा खून चूसने को ही यें दंगों के फंदे ।[2]

नरेन्द्र शर्मा की दृष्टि में चाहें वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान दोनों इंसान हैं । अतः हिन्दुओं और मुसलमानों को जाग्रति का संदेश देते हुए उन्होनें लिखा –

ज़नक्रांति जगाने आयी है, उठ हिन्दू ! उठ ओ मुसलमान ।
संकीर्ण भेद–संदेह त्याग ,उठ महादेश के महाप्राण ।
क्या पूरा हिन्दुस्तान न यह क्या पूरा पाकिस्तान नहीं ?
मैं हिन्दू हूँ , तुम मुसलमान पर क्या दोनों इन्सान नही ?[3]

एक ओर साम्प्रदायिकता जैसी असामाजिक भावना पूरे समाज पर अपनी छाया फैलाती जा रही थी ,तो दूसरी ओर भारतीय समाज रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के बंधन में जकड़ा हुआ था । जन–जागरण के युग में इन धर्मगत रूढ़ियों को जो समाज को जड़ एवं पंगु बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही थी –भला कैसे बर्दाश्त किया जा सकता था ? फलतः उसका विरोध शुरू हुआ और पंडे, पुरोहितों , मुल्ले एवं मौलवियों आदि सभी पर करारी चोट की गयी। कवियों ने भी प्राचीन एवं परम्परागत रूढ़ियों एवं जड़ मान्यताओं के खिलाफ अपनी ओजस्वी वाणी मुखरित की । प्राचीन रूढ़ियों के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करते हुए ' एक भारतीय आत्मा' ने लिखा –

हम हैं नहीं रूढ़ि की
पुस्तक के पथरीले भार,
नितनवीनता के हम हैं

---

1 रामधारी सिंह 'दिनकर ' – हे मेरे स्वदेश सामधेनी प्र. 35
2 शिवमंगल सिंह ' सुमन ' – मेरा देश जल रहा , कोई नहीं बुझाने वाला , विश्वास बढ़ता ही गया प्र. 56
3 नरेन्द्र शर्मा – हिन्दू मुसलमान , हंसमाला , प्र. 18

जग के मौलिक उपहार।[1]

छायावादोत्तर युग के कवियों नें रूढ़ियों एवं जड़ मान्यताओं पर केवल व्यंग्य ही नहीं किया हैं अपितु उसे उखाड़ फेंकने हेतु नयी क्रांति का भी आह्वान किया हैं –

आओं क्रांति ,बलायें ले लूँ ,अनाहूत आ गयी भलीं ,
बास करों मेरे घर ऑगन, बिचरों मेरी गली–गली
सड़ी गली परिपाटी मेरी ,इसे भस्म तुम कर जाओं
विकट राज–पथ मे मँडराओं ,जन–पद में डोलो आओं ।[2]

इस प्रकार युग की आवश्यकताओं को मद्देनजर रखते हुए एक ओर साम्प्रदायिकता की असामाजिक भावना का विरोध किया गया तो दूसरी ओर धर्म एंव जाति के नाम पर संस्कार एंव परिपाटी के नाम पर चलने वाले रूढ़िगत संस्कारों एवं मान्यताओं को समूल उखाड़ फेकने के लिए क्रांतिकारी आवाज भी बुलन्द की गयी । इस प्रकार छायावादोत्तर युग की कविता में धर्म एवं ईश्वर के प्रति गहरी उदासीनता का भाव देखने को मिलता हैं । प्रगतिवादी कवियों ने तो धर्म के साथ ही साथ ईश्वर के प्रति भी अपना गहरा क्षोभ प्रकट किया हैं ।

वस्तुतः छायावादोत्तर युग के काव्य में धर्म एंव ईश्वर के प्रति जो अनास्था का भाव दिखायी पड़ता हैं उसके मूल में वैज्ञानिक चेतना की उपज एवं युगीन जागरूक चेतनायें सर्वाधिक क्रियाशील रहीं हैं । तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक चेतना ने मनुष्य को नियतिवाद के घेरे से बाहर निकाल उसे नयी राह पर खड़ा किया तथा उसे अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक बनाया । इस प्रकार अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक तथा वैज्ञानिक चेतनाओं एवं विचारधाराओं से समन्वित कवि भला धर्म और ईश्वर की सत्ता कैसे स्वीकार कर सकता था ? विज्ञान के तर्क ने धर्म और ईश्वर पर से लोगों के विश्वास को डिगा दिया तथा मनुष्य मंदिरों में टंगी तस्वीर तथा उसमें स्थापित पत्थरों को पूजने की आकांक्षा छोड़ता नजर आने लगा क्योंकि उसे मनुष्य के अस्तित्व एवं उसके पुरूशार्थ पर विश्वास हो गया था और उसके लिए वही (मनुष्य) विशिष्ट एवं यथार्थ बन गया था । प्रगतिवादी कवियों नें धर्म एवं ईश्वर के प्रति अपनी गहरी अनास्था व्यक्त काते हुए व्यंग्य के माध्यम से उसकी काफी आलोचना की हैं । केदारनाथ अग्रवाल की 'सोने के देवता' 'देवमूर्ति ' 'देवताओं की आत्महत्या' आदि कविताओं को इसके उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता हैं । इसके अतिरिक्त नागार्जुन , रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, सुमन आदि ने भी ईश्वर एवं धर्म के प्रति अनास्था व्यक्त करने वाली कविताओं की सर्जना की हैं । रांगेय राघव भगवान को चुनौती देते हुए कहते हैं –

युगों से देखता हूँ ,

---

[1] माखनलाल चतुर्वेदी – 'विद्रोह ' हम किरीटिनी , प्र.57
[2] बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' – क्रांति हम विषपायी जनम के , प्र. 441

स्वयं लीलयमान वह भगवान
हटा पाया हैं नहीं शैतान
मेरी इस धरणि से,
इसलिए मैं कर रहा हूँ
आज यह विद्रोह ।[1]

ईश्वर एवं पूजन अर्चन आदि को व्यर्थ बताते हुए शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने लिखा हैं –

ईश्वर–ईश्वर में आज पड़ गया अन्तर
टुकडों–टुकडों में बँटा मनुजता का घर
ली ओढ़ धर्म की खोल परहृदय सूना
पूजन–अर्चन सब व्यर्थ देवता पत्थर ।[2]

पंत ने भी ' ग्राम्या ' में ग्राम देवता के ऊपर व्यंग्य करते हुए लिखा –

राम राम
हे ग्राम देवता, रूढ़ि धाम
तुम स्थिर, परिवर्तन रहित कल्पवत् एकयाम ,
जीवन संघर्षण विरत प्रगतिपथ के विराम ,

* *

तुम पुरूष पुरातन ,देव सनातन पूर्ण काम ,

* *

शिक्षक हो तुम मैं शिष्य, तुम्हें शत–शत प्रणाम ।[3]

बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता के परिवेश में विकास नयी कविता तथा उसके कवि धर्म, ईश्वर आदि के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करतें हैं। छायावादोत्तर युग का कवि मनुष्य का मापदण्ड मनुष्यं को मानला हैं ईश्वर को नहीं। वह मानव की विशिष्टता स्थापित करते हुए ईश्वर की निष्क्रिय ,निठल्ता और बेमानी समझता है । नयी कविता के अर्न्तगत ईश्वर व्यंग्य की अनेक चोंटे सहता हुआ एक 'टूटा सपना' बनकर आया हैं।[4] इस प्रकार छायावादोत्तर युग का कवि ईश्वर को सर्वशक्तिमान नहीं मानता अपितु वह उसे आत्म प्रवंचक, निष्क्रिय, निठल्ला, कहकर उसका मजाक उड़ाता है तथा धर्म के नाम पर देवी–देवताओं की उपासना एवं मूर्ति पूजा आदि को दिखावटीपन

---

[1] – सुलोचना रांगेय राघव (सम्पादक) – 'रांगेय राघव ग्रंथावली खण्ड नौ', आततायी , पृष्ठ 44 – 45
[2] - शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'विडम्बना', विश्वास बढ़ता ही गया , पृष्ठ 59
[3] - सुमित्रानन्दन पंत – ' ग्राम देवता', ग्राम्या , पृष्ठ 58–62
[4] - हरिचरण शर्मा – नयी कविता : नये धरातल , पृष्ठ 94

की संज्ञा देता हैं । ईश्वर का मजाक उड़ाते हुए प्रभाकर माचवें ने 'मनु का वंशज' शीर्षक कविता में लिखा –

आधुनिक विचारा फिर बोला – वह पूजीपति ऐसा विशाल

उसके आगे मनुजी , न तुम्हारे प्रभु की गलती जरा दाल ।[1]

छायावादोत्तर युग के कवि की दृष्टि मे न तों स्वर्ग है , न तो कहीं नर्क। जीवन एवं समाज के संघर्षो के बीच जीवन जीने में ही स्वर्ग एवं नर्क दोनों हैं –

अगर सच पूछों मेरी प्राण ! व्यर्थ हैं ,स्वर्ग,नरक,अनुमान

तुम्हारी मुस्कराहट में स्वर्ग , तुम्हारें आंसू में भगवान ।[2]

भारती के अलावा भारत भूषण अग्रवाल नरेश मेहता, कुँवर नारायण आदि कवियों नें भी ईश्वर एवं धर्म की खिलाफत की हैं तथा उसकी दैवी शक्तियों के प्रति अविश्वास का भाव प्रकट किया हैं। आज का व्यक्ति यह विश्वास रखता हैं कि –

बिना तेरी अव्यावहारिक दया के भी

दिवस निभ जायेंगे मेरे ।[3]

देवता के विषय में कुँवर नारायण की ये पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं –

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता हैं कि छायावादोत्तर युग का कवि अपने परिवेश एवं आसपास की साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ एवं उनसे उत्पन्न चेतनायें उन्हें बराबर आंदोलित करती रहीं हैं । वह तमाम वैज्ञानिक चेतनाओं को अपने में आत्मसात् करता गया हैं फलतः उसकी चेतना एवं दृष्टि भी परिवर्तित हुयी हैं । यही कारण है कि छायावादोत्तर युग का कवि सीमा विस्तार की आकांक्षा करता हुआ, मध्ययुगीन असमाजिक एवं रूढ़ मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों की कटु आलोचना करता हैं । वह जानता है कि सदियों से चली आ रहीं हैं रूढ़ियों एवं प्राचीन मान्यताओं मानव–जीवन एवं समाज की गति को अवरूद्ध कर देती हैं । इसी तथ्य को प्रकट करते हुए भारत भूषण अग्रवाल ने ' जीवन धारा ' शीर्षक कविता में लिखा –

सघन बर्फ की कड़ी पर्त–सी
एक–एक कर अमित रूढ़ियाँ
सदियों से जमती जाती हैं
तह पर तह
मानव जीवन पर ।

---

[1] प्रभाकर माचवे – 'मनु का वंशज' अनुक्षण, पृष्ठ 70

[2] धर्मवीर भारती – 'तुम' ठंडा लोहा, पृष्ठ 28

[3] कुँवरनारायण – 'अजन्मे देवता' चक्रव्यूह, प्र. 87

तह पर तह –
ये आज ठोस दीवार बनी हैं
है रोक रही जीवन की गति
मन की उन्नति ।

*　　*

इन अमित रूढ़ियों की कारा ने
बाँध लिया मानव का मन, जग का जीवन ।
अवरूद्ध आज जीवन – प्रवाह।[1]

इस प्रकार आधुनिकता बोध एवं वैज्ञानिक चेतना से समन्वित छायावादोत्तर युग का कवि एक तरफ मध्ययुगीन रूढ़ मूल्यों एवं मान्यताओं को ध्वस्त करता हैं समाज में हो रहें अनैतिक धन्धों एवं उससे उत्पन्न रूढ़ मानसिकताओं के जाल को तोड़ने के लिए क्रांति का आहवान करता हैं तो दूसरी तरफ धर्म एवं जाति के नाम पर साम्प्रदायिकता की भावना को पैदा करने वाले कारकों की कटु आलोचना भी करता हैं । छायावादोत्तर युग की व्यंग्य कविताओं में धर्म, ईश्वर, जाति–प्रथा एवं साम्प्रदायिकता जैसी भावना की जो कटु आलोचना देखने को मिलती हैं वह आधुनिकता– बोध की दृष्टि का ही प्रतिफल हैं। वस्तुतः आधुनिकता एवं मध्ययुगीनता को अपने काव्य सृजन के केन्द्र में रखते हुए छायावादोत्तर युग के कवियों ने स्तब्ध मानसिकता वाली मध्ययुगीन प्रवृत्तियों के खिलाफ अपना स्वर ऊँचा करते हुए नयी राह की ओर बढ़ने का संकेत किया हैं ।

४ – स्वाधीनता के भाव स्तर पर

छायावादोत्तर युग का पूर्वार्द्ध ब्रिटिश शासन की पराधीनता से पूरी तरह जकड़ा हुआ था । अंग्रेजी सत्ता ने अपने साम्रज्यवादी उपनिवेशवादी शोषण एवं व्यापारिक नीति के चलते भारतीय समाज को पूरी तरह से पंगु बनाकर रख दिया था। मैथिलीशरण गुप्त ने ' भारत–भारती ' के ' वर्तमान खण्ड़ ' में भारत की इस दयनीय दशा का चित्र काफी स्पष्ट रूपों में उद्घाटित किया हैं । वस्तुतः स्वतंन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक भारत हर तरफ से शोषण एवं दमन का शिकार हो रहा था । देश का सामान्य से सामान्य प्राणी भी देश की दयनीय दशा से मर्माहित था तथा उसके अन्दर ब्रिटिश शासन के प्रति आजादी प्राप्त करने की अदम्य आकांक्षा समायी हुयी थी। इस प्रकार कवियों के काव्य–सृजन का प्रमुख उद्देश्य बन गया था। आजादी प्राप्त करने हेतु

---

[1] भारत भूषण अग्रवाल – जीवन धारा तारसप्तक , प्र. 90

जनता में जागरण की भावना जगाना तथा स्वराज्य की लड़ाई में संघर्ष हेतु उन्हें प्रेरित करना । कहना न होगा कि छायावादोत्तर युग के राष्ट्रीय धारा तथा प्रगतिवादी कवियों की कविताओं में स्वाधीनता प्राप्ति की ललक अपनी पूरी प्रखरता से व्यंजित हुयी हैं । मैथलीशरण गुप्त ,सोहनलाल द्विवेदी , रामधारी सिंह ' दिनकर ', जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द , माखनलाल चतुर्वेदी , शिवमंगल सिंह ' सुमन ' नागार्जुन तथा अन्य सभी प्रगतिवादी कवियों में परतन्त्रता की बेड़ी से छूटने की अदम्य आकांक्षा दिखायी पड़ती हैं ।

शक्ति पौरूष एवं क्रांति की ओजस्वी वाणी मुखरित करने वाले कवि 'दिनकर' ने 'सामधेनी' की कविताओं में जहॉ एक ओर स्वराज्य संघर्ष में थके स्वतन्त्रता सेनानियों को सम्बोधित करते हुए उन्हें आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान की है वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय झण्डे के प्रति अपनी अटूट निष्ठा व्यक्त करते हुए उसके माध्यम से जन – जन में नयी चेतना एवं नयी स्फूर्ति भरने की कोशिश की हैं –

यह झण्डा जिस मुर्दे की मुट्ठी जकड़ रही हैं,
छिन न जाय, इस भय से अब भी कसकर पकड़ रही हैं,
थामों इसे शपथ लो, बलि का कोई क्रम न रूकेगा,
चाहे जो हो जाय मगर यह झण्डा नही झुकेगा ।

* *

इसके नीचे ध्वनित हुआ, 'आजाद हिन्द ' का नारा
वहीं देश भर के लहू की यहाँ एक हो धारा।[1]

वह केवल राष्ट्र के झण्डें के प्रति ही अटूट निष्ठा नहीं प्रकट करता अपितु स्वाधीनता की प्राप्ति को लिए क्रांति का भी आहवान करता हैं –

कह दे शंकर से आज करें ,वे प्रलय नृत्य फिर एक बार ,
सारे भारत में गूंज उठे, हर हर बम का फिर महोच्चार !
ले अगॅड़ाई उठ हिले धरा, कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैल राट ! हुँकार भरे फट जाय कुहा , भागे प्रमाद ।[2]

एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपनी हिंसक प्रवृत्ति के साथ समूचे समाज के शोषण एवं दमन मे लिप्त था तो दूसरी ओर आजादी के मतवाले स्वराज्य संघर्ष की वेदी पर अपने को बलिदान करने को तत्पर थे । गांधीवादी आदर्शो से प्रभावित करने की भावना को अपने जीवन का अभिन्न अंग मानने वाले कवि सोहनलाल द्विवेदी सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वाधीनता संग्राम के लिए तत्पर होने की

---

[1] – रामधारी सिंह 'दिनकर' – 'सरहद के पार', सामधेनी, पृष्ठ 73–74
[2] रामधारी सिंह दिनकार – ' हिमालय ' हुकॉर , प्र . 85

प्रेरणा देते हैं । उनके सामने हिन्दू , मुसलमान ,मद्रासी, मराठी, गुर्जर सभी एक हैं , सभी भारत की संतान हैं । अतः सभी को वे एक साथ जागरण का संदेश देतें हैं।[1] और स्वतन्त्रता सेनानियों को सावधान करते हुए क्रूर–प्रहारों एवं अत्याचारों को उखाड़ फेकनें के लिए उद्‌बोधित भी करतें हैं

कब तक क्रूर प्रहार सहोगे ?
कब तक अत्याचार सहोगे ?
कब तक हाहाकार सहोगे ?
उठो राष्ट्र के हे अभिमानी !
सावधान मेरे सेनानी ![2]

आजादी के प्राप्ति हेतु तथा शोषण एवं दमन की सत्ता को उखाड़ फेकनें हेतु क्रांति की ओजस्वी वाणी मुखरित करने वालों में रामधारी सिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुमित्रानन्दन पंत तथा प्रगतिवादी कवियों को विशेष रूप से रेखांकित किया जा सकता हैं । नवीन जी ने तो सामान्य जनता के साथ ही युगीन से भी यह आहवान किया कि –

कवि कुछ ऐसीतान सुनाओ जिससे उथल–पुथ मच जायें ,
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आयें ,

* *

उनकी शोषक भवासोच्छ्‌वास विश्व के प्रांगण में घबरायें ,
नाश! नाश! हाँ महानाश! की प्रलयकारी ऑख खुल जाये ,

* *

जीवन में जंजीर पड़ी खन–खन करती हैं मोहक स्वर से
अन्दर आग छिपी हैं इसे भड़क उठने दो एक बार अब
दहल जाय दिल, पैर लड़खड़ायें कंप जाय कलेजा उनका ।[3]

'दिनकर ' भी 'हुँकार' में पराधीनता की बेड़ी को तोड़ने के लिए क्रांति का आहवान करते हैं तथा विदेशी सत्ता के शोषण एवं सामाजिक आर्थिक वैसम्य को भस्मीभूत करने हेतु ओजस्वी वाणी मुखरित करते हैं।[4]

वस्तुतः जब तक मनुष्य के अन्दर का मानवपन सोया हुआ हैं तब तक आजादी की प्राप्ति सम्भव नहीं । इस सत्य को कवि समझता था । उसे पूर्ण विश्वास था कि जिस दिन मानव का

---

1 - सोहनलाल द्विवेदी – 'सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी ', भैरवी , पृष्ठ 113
2 – सोहनलाल द्विवेदी – 'सावधान', चेतना, पृष्ठ 22
3 - बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' – 'विप्लव गायन', हम विषपायी जनम के , पृष्ठ 429
4 – रामधारी सिंह 'दिनकर' – 'असमय आहवान', हुँकार, पृष्ठ 10

मानवपन जग जायेगा उस दिन कोई भी सत्ता उसकी आजादी को कटघरे में बन्द नहीं कर सकती। इसीलिए पंत ने लिखा –

गर्जन कर मानव के शरि !
मर्म स्प्रह गर्जन –
जग जावे जग में फिर से
सोया मानवपन ।[1]

प्रगतिवादी कवि डॉ0 रामविलास शर्मा ने ब्रिटिश साम्राज्य को दानव की संज्ञा देते हुए भारत के नवयुवकों को एकजुट होकर उसके खिलाफ खड़े होने की प्रेरणा देते हुए लिखा –

हड्डी – हड्डी है चूर, जला सब खून
अडिग है फिर भी सूखे तन में स्पाती मन ।
दानव ने आज चुनौती दी हैं नवयुवकों को
आओं यह पहाड़ सा भार उठाओं ।
दुर्भिक्ष महामारी से दुष्ट लुटेरों से
आओ यह अपना प्यारा देश बचाओ ।
ऐ नौजवान भारत के !
गरम लहू को आज चुनौती है ,सब मिलकर
भार उठाओं ![2]

शिवमंगल सिंह 'सुमन' एक ओर सदियों की दासता से मुक्ति एवं भारतमाता की रक्षा हेतु सन्नद्ध होने के लिए कर्म एवं शक्ति का संदेश देते हैं[3] तो दूसरी ओर परवशता एवं शोषण के जीवन से मुक्ति के लिए विद्रोह करने की भी बात करतें हैं।[4] यही नहीं अपितु स्वंतन्त्रता की प्राप्ति के लिए देशवासियों को आत्म–बलिदान करने तथा सब कुछ को न्योक्षावर करने की प्रेरणा भी देतें हैं –

युग की वाणी बन ललकारों
बलि की शुभ बेला आ पंहुची
बलिदानी ! आज परीक्षा दों
बलि की शुभ बेला आ पहुंची ।[5]

---

1 सुमित्रानन्दन पंत – युगपथ , प्र . 25
2 रामविलास शर्मा – गुरूदेव की पुण्यभूमि , तारसप्तक , प्र. 242
3 – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'विप्लव की बेला है', जीवन के गान, पृष्ठ 41
4 – शिवमंगल सिंह 'सुमन'– 'विद्रोह करो–करो', जीवन के गान, पृष्ठ 91
5 शिवमंगल सिंह ''सुमन'' – 'परीक्षा दो', प्रलय–सृजन, पृष्ठ 56

प्रयोगवादी कवि अज्ञेय की कविताओं की अपनी एक अलग विशेषताएं हैं । उनकी अपनी एक सीमा भी हैं। फिर भी उनकी 'जनाहवान' कविता को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता जिसमें आततायियों से लड़ने की अदम्य आकांक्षा एवं आस्था सुनाई पड़ती हैं।[1]

स्वराज्य की प्राप्ति कवि का लक्ष्य था लेकिन कवि यह भी जानता था कि बिना एकता के इस लक्ष्य की पूर्ति सम्भव नहीं ।

इसीलिए छायावादोत्तर युग का कवि देश की विषम परिस्थितियों का चित्र खीचतें हुए जनता को एक होने का संदेश भी देता हैं और कहता हैं कि एकता के अभाव में स्वराज्य की कल्पना की ही नहीं जा सकती –

दैन्य दानव ! क्रूर स्थिति ! कंगाल बुद्धि ।
मजूर घर भर ! एक जनता का अमरवर
एकता का स्वर! अन्यथा स्वातंत्र्य इति ।[2]

इस प्रकार सचेत कवियों की दृष्टि दोनों पक्षो पर समान रूप से पड़ी हैं पराधीनता के बाध्य कारण पर भी और आंतरिक कारण पर भी । यही कारण हैं कि आलोच्य युग के कवियों ने एक ओर देश की दिन–प्रतिदिन गिरती दशा, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शोषण एवं उत्पीड़न तथा पराधीनता की कसती हुई बेड़ी का चित्रण कर देश की जनता को उसके विरोध में खड़े होने के लिए प्रेरित किया उसमें नयी चेतना जगायी मातृभूमि के महत्व को प्रकट कर उसके प्रति देशवासियों में प्रेंम एवं लगाव की भावना पैदा की तो दूसरी ओर आजादी के रास्ते में आने वाली सारी रूकावट एवं बाधाओं को तोड़ फेंकनें तथा उसे छिन्न भिन्न करने के लिए क्रांति का भी आहवान किया । और जब उसे आजादी प्राप्त हो जाती हैं तो उसकी रक्षा के लिए देशवासियों को सचेत करते हुए कहता हैं –

आज जीत की रात, पहरूए सावधान रहना
खुले देश के द्वार , अचल दीपक समान रहना

* *

ऊँची हुयी मशाल हमारी आगे कठिन डगर हैं
शत्रु हठ गया ,लेकिन उसकी छायाओं का डर हैं
शोषण से मृत हैं समाज कमजोर हमारा घर हैं
किन्तु आ रही नयी जिन्दगी, यह विश्वास अमर हैं ।[3]

---

[1] – अज्ञेय – 'जनाहवानःतारसप्तक, पृष्ठ 274
[2] शमशेर बहादुर सिंह – बात बोलेगी , कुछ और कविताएं प्र. 4
[3] गिरिजा कुमार माथुर – ' पन्द्रह अगस्त ' धूप के धान , प्र . 35–36

तात्पर्य यह कि आजादी प्राप्त करनें की कवि में जो ललक समायी हुयी थी वह आजादी प्राप्ति के ही साथ समाप्त नहीं हो जाती अपितु वह इस बात का विश्वास रखता हैं कि अब जबकि आजादी प्राप्त हो चूकी हैं तब हमारा समाज जो कि शोषण से पूर्ण तथा जर्जर हो चुका हैं पुनः नयी जिन्दगी प्राप्त करेगा तथा देश खुशहाल होगा ।

इस प्रकार स्वाराज्य प्राप्ति के साथ ही देशवासियों मे एक आशा और उमंग की लहर दौड़ पड़ी क्योंकि अब उसे यह पूरा विश्वास हो गया था कि देश की शोषक साम्राज्यवादी शक्तियों की पराजय के साथ ही देश खुशहाल होगा तथा जन–जन के जीवन में कोई अभाव, दुख ,दर्द एव पीड़ा का नाम नहीं रहेगा । खुशहाली के लिए ही उसने संघर्ष किया था । उस संघर्ष के पीछे एक आशा थी, एक उमंग थी तथा एक नये भारत के निर्माण की आकांक्षा थी । इसीलिए तो वह आजादी मिलनें पर कहता हैं।

मजबूत इरादों को लेकर
श्रम रत है नर – नारी
उगलेगा फौलाद भिलाई
झूमेगा क्यारी – क्यारी !
बदला कण–कण भारत का !
भागे मूक उदासी के सायें
उल्लासों के सूरज चमके हैं
युग–युग से त्रस्त सताये
मुरझाये मुखड़े दमके हैं ![1]

लेकिन आजादी प्राप्ति के बाद जो समाज निर्मित होता हैं जिस देशी सरकार की स्थापना होती हैं उसकी कारगुजारियों से देश की सामान्य जनता के साथ ही कवि वर्ग को भी बड़ी निराशा होती है । आजादी प्राप्ति की उसकी ललक के पीछे जो भावी कल्पनाएं थी ,उसकी जो अदम्य आकांक्षाये थी वे सब की सब अधूरी नजर आने लगी। एक ओर समस्यायें पूरे देश को निगल जाना चाहती थी , दूसरी ओर देश के रक्षक देश के नेता एवं कर्णधार अपनी स्वार्थलिप्सा एवं पद लोलुप्ता के चक्कर में देश की वर्तमान स्थिति से बेखबर थे । वस्तुतः देश को आजादी मिली देश पर देश का अधिकार हुआ , पराधीनता की बेड़ी कटी विदेशी शासन का उत्पीड़न एवं शोषण खत्म हुआ लेकिन अभी भी परिस्थितियाँ कुछ हद तक उसी तरह बनी हुयी थीं । सिद्धान्त रूप में आजादी का लाइसेंस भले ही देश को मिल गया । लेकिन व्यावहारिक रूप में वह मात्र राजनीतिक आजादी ही

---

1 - महेन्द्र भटनागर – ' नया भारत ' कवि श्री महेन्द्र भटनागर , प्र. 55–57

हासिल कर पाया था। कवि वर्ग भी प्राप्त आजादी से क्षुब्ध था ,उसकी कल्पनायें एवं आकांक्षायें देशी शासकों द्वारा ही तोड़ी जा रही थीं । वह इस स्थिति को और अधिक दिनों तक सहन करने के लिए तैयार नही था। फलतः वह आजादी को झूठी बताता हैं तथा आजादी प्राप्त होने की निरर्थकता इन शब्दों में व्यजिंत करता हैं –

युग–युग से शोषित जनता जो इस दिन की रहीं प्रतिक्षा में ,
दि कितने शहीद लालों ने बलि की अग्नि परीक्षायें।
मुक्ति मिली जब–जब मुट्ठी भर लोगों को वरदान मिला,
शेश बचे लाखों लोगों को पुनः बुभुक्षित प्राण मिला ।

* *

मुक्ति तभी जब हो विचार भी मुक्त, मुक्ती हो वाणी की ,
मुक्ति दिवस हम तभी मनायें मिले मुक्ति हर प्राणी की ।[1]

केदारनाथ अग्रवाल आजादी के बाद भी देश की दयनीय दशा से चितिंत हैं । जन–जन के जीवन में व्याप्त अभाव आजादी के बाद भी उन्हें पहले ही जैसे दिखायी देते हैं –

किन्तु झोपड़ी वही खड़ी है
बड़ी गरीबी भरी पड़ी है
नयी ईट तक नहीं लगी हैं
वही धुऑ है
वही क्षुधा हैं
वही कर्ज हैं
वही सूद हैं ।[2]

इस प्रकार आजाद भारत गरीबी तथा देशी शोषण आदि के चलते अपनी दयनीय दशा से गुजर रहा था । कवि एक स्वस्थ एंव अभाव रहित समाज की कल्पना कर रहा था । वह आजादी के बाद ऐसे समाज की कल्पना कर रहा था जिसमें कोई विपन्न न हो किसी को खाने की कमी न हो तथा सभी लोग सुखी एवं समृद्ध हों –

अब न जन रहे विपन्न ग्रासत्रास के !
नृत्य करें ओस पुष्प अश्रु ह्रास के ।[3]

लेकिन जब वह देखता है कि देश की दशा पूर्ववत दयनीय बनी हुयी हैं तो प्राप्त आजादी से उसे बहुत बड़ी निराशा होती हैं । देश के नेता जिन्होनें आजाद भारत की बागडोर सँभाली तथा

---

1 प्रभाकर माचले – ' मुक्ति दिवस ' अनुक्षण , प्र. 73–74
2 केदारनाथ अग्रवाल – हँस फरवरी , 1948
3 नरेन्द्र शर्मा – 15 अगस्त ,1947 अग्निशस्य , प्र. 48

देश में गांधी के रामराज्य की कल्पना को साकार बनाने के लिए आगे आये थे उन्हें ही जब वह स्वार्थ लिप्सा एवं देश के शोषण में रत देखता है तो कवि की आत्मा तड़प उठती हैं । देशों द्वारक राष्ट्र भक्तों को ही जब वह देश के भक्षक के रूप में देखता है तो स्वाभाविक रूप से उसकी वाणी निकल से पड़ता हैं –

कल थे कुछ, हम बन गये आज अनजाने हैं
सब द्वार बन्द टूटे सम्बन्ध पुराने हैं
हम सोच रहे यह कैसा नया समाज बना
जब अपने ही घर मे हम हुए विरानें हैं ।[1]

कवि इतने से ही संतोष नहीं कर लेता बल्कि आगे वह चेतावनी देते हुए कहता हैं –

दीपक, तेरे नीचे घिर रहा अँधेरा हैं,
सोने की चमक तले अनीति का डेरा हैं
तू इंसानी जीवन की रात मिटा वर्ना
इसान स्वयं बनकर आ रहा सबेरा हैं ।[2]

आजाद भारत में देश की गिरी हुयी दशा का एक चित्र नागार्जुन की कविता ' प्रेतका बयान ' में देखा जा सकता हैं । अन्य कविताओं में भी कवि देखता हैं कि आजाद भारत मे शोषकों की कमी नहीं हैं । एक ओर बनिया ,व्यापारी एवं जमींदार ,समाज तथा देश के शोषण में अपने ढग से लिप्त है तो दूसरी गांधी के आदर्शो पर चलने वाले खद्दरधारी नेता भी देश के शोषण में किसी मायनें में पीछे नहीं हैं । इन सब स्थितियों का चित्रण करते हुए नागार्जुन ने लिखा हैं –

जमींदार हैं, साहुकार हैं, बनिया हैं, व्यापारी हैं
अंदर–अंदर विकट कसाई, बाहर खदृदरधारी हैं ।
सब घुस आये भरा पड़ा है भारत माता का मंदिर ।[3]

इस प्रकार एक ओर तो ये परिस्थितियाँ है ही दूसरी ओर देशी शासक भी देश के शोषण में आकंठ डूबे हुए हैं । नागार्जुन यह समझ ही नहीं पाते कि आजाद भारत की सरकार गोरी है अथवा काली । देश के नेताओं एंव उनकी व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए कवि लिखता हैं –

खादी ने मलमल से अपनी साठ–गांठ कर डाली हैं।
बिड़ला टाटा डलमिया की तीसो दिन दिवाली हैं
जोर जूलुम की आधी चलती है बोल नहीं कुछ सकतें
समझ नहीं पाता हूँ कि हुकूमत गोरी है कि काली हैं।[4]

---

[1] - गिरिजा कुमार माथुर – 'मिट्टी के सितारे', धूप के धान , पृष्ठ 76
[2] – गिरिजा कुमार माथुर – 'मिट्टी के सितारे', धूप के धान , पृष्ठ 77
[3] – नागार्जुन–हंस, मई, जून 1949 (आज के लोकप्रिय कवि नागार्जुन, संपादकः प्रभाकर माचवे, पृ. 12 से उदघृत)
[4] – नागार्जुन – हंस, मई 1949 (प्रगतिवादी काव्य, उमेश चन्द्र मिश्र), पृष्ठ 155–56 से उदघृत)

जमीदार प्रथा के उन्मूलन के साथ ही कवि को कुछ आशा बधती हैं कि देश अब खुशहाल होगा तथा किसानों के ऊपर जमीदारों के द्वारा जो शोषण हो रहा था, वह समाप्त होगा । किसानों एवं मजदूरो को उसकी भूमि मिलेगी तथा वह सुखी एवं समद्ध होगा फलतः धरती पर सुख और सम्रद्धि की लहर दौड़ पडेगी । इन्हीं सकल्पों एवं आकांक्षाओ के साथ कवि कहता है–

सेठ और जमीदार को नहीं मिलेगा एक छदाम
खेत खान – दूकान मिलें सरकार करेगी दखल तमाम
खेत – मंजदूरो और किसानों में जमीन बँट जायेगी
नहीं किसी कमकर के सिर पर बेकारी मँडरायेगी
नौकर शाही का यह रद्दी ढांचा होगा चूरम – चूर
'सुजलां सुफलां' के गायेगें गीत प्रसन्न किसान–मजदूर ।[1]

लेकिन जब वह देखता है कि नौकरशाही अपना घेरा बढ़ाते ही जा रही हैं तथा देश के ऊपर बेकारी के बादल दिन–प्रतिदिन और अधिक गहराते जा रहे हैं तब उसका ह्रदय क्षुब्ध हो उठता हैं और वह काग्रेसी व्यवस्थापकों के ऊपर व्यंग्य करता हुआ उनके खिलाफ अपना आक्रोश प्रकट करता हैं –

लाज–शरम रह गयी न बाकी गांधी जी के चेलों में।
फूल नहीं, लाठियॉ बरसती रामराज्य की जेलों में।
भैया, लन्दन ही पसन्द है आजादी की सीता को,
नेहरू जी अब उमर गुजारेगें अंग्रेजी खेलों में
लाज–शरम रह गयी न बाकी गांधी जी के चेलों में ।[2]

वस्तुतः छायावादोत्तर युग के कवियों की स्वाधीनता की दृष्टि जो कि उसके काव्य–सृजन का आधार भी रही हैं – संकीर्ण अथवा सीमाबद्ध नहीं थी अपितु उसमें एक प्रकार की व्यापकता, खुलापन एंव साफगोई थी । यही कारण है कि वह एक ओर आजादी के पूर्व ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ आवाज उठाता हैं , राष्ट्रीय नेताओं की छवि उजागर करता हैं तो दूसरी ओर आजादी के पश्चात उन्ही राष्ट्रीय नेताओं के सिद्धान्तों एवं क्रियाकलापों के विरूद्ध स्पष्ट आक्रोश व्यक्त करता हैं । इस प्रकार स्वाधीनता की बलवती इच्छा उसके काव्य के आधार के रूप में रही हैं।

---

[1] - नागार्जुन– हंस, अप्रैल 1948 (प्रगतिवादी काव्य : उमेशचन्द्र मिश्र, पृष्ठ 157–58 से उदधृत)
[2] - नागार्जुन– हंस, जून 1949 (प्रगतिवादी काव्य : उमेशचन्द्र मिश्र , पृष्ठ 159 से उदधृत)

5 – राष्ट्रीय भावना के स्तर पर

राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से छायावादोत्तर युग का विशेष महत्व हैं । इसमें एक ओर राजनीतिक–सामाजिक घटनायें देश की परिस्थितियों को प्रभावित कर रही थी। तो दूसरी ओर वैज्ञानिक विचारधाराओं के अभ्यूदय के फलस्वरूप जनता की मनः स्थिति एवं दृष्टिकोण में भी पर्याप्त परिवर्तन हो रहा था । कवि ह्रदय भी इनसे आंदोलित हो रहा था । कहना न होगा कि सचेत रचनाकारों ने युग के कवियों ने व्यापक राष्ट्रीयता को अपने काव्य सृजन के मानदण्ड के रूप में अपनाया ,जिसके फलस्वरूप वह एक ओर देश–प्रेम एवं मातृभूमिं – प्रेम की भावना को जागता है , पराधीनता से मुक्ति के लिए सामूहिक जागरण एवं बलिदान की भावना उत्पन्न करता हैं तो दूसरी ओर उसकी दृष्टि अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर भी उन्मुख होती हैं । विस्तारवादी एवं आकामक साम्राज्यवादी शक्तियों की हिसंक प्रवृत्ति की आलोचना करते समय उसकी दृष्टि अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख दिखाई देती हैं । वह स्वीकार करता हैं कि –

हम–जैसे अगणित मनुजों का
जग में हाल एक सा हैं
शोषण पीड़न यही सभी की
यही असहाय दुर्दशा हैं ।[1]

वस्तुतः छायावादोत्तर यूग के समाज में दो वर्ग क्रियाशील थे एक था शोषक जिनकी तादाद तो कम थी लेकिन वे प्रभावशाली एवं बलशाली से क्योकि सत्ता उन्ही के हाथ मे थी । यह स्थिति हमारे ही राष्ट्र की नही है अपितु पूरे विश्व की थी । सत्य बात तो यह हैं कि शोषितों का कोई देश अथवा स्थान नहीं होता अपितु वह संसार के कोने–कोने में अपनी समस्याओं को लिए हुए जीवन जीतें हैं । इन दोनों वर्गो के बीच संघर्ष की स्थिति भी बराबर बनी रहती हैं ।

छायावादोत्तर युग के प्रारम्भिक वर्षो में स्वराज्य–आन्दोलन अपने पूरे शबाब में था । कवियों के ह्रदय में भी देश–प्रेम की भावना हिलोरें मार रही थीं तथा वह राष्ट्रीयता से ओत प्रोत काव्य की सर्जना कर देश की जनता में एक नयी चेतना पैदा करना चाहता था । लेकिन उनकी द्रष्टि सम्पूर्ण मानवता पर केन्द्रित थी । उनका प्रधान लक्ष्य था– जगतव्यापी पूंजीवाद एंव सामाज्यवाद का खात्मा कर , शोषित एंव पददलित मानवता की मुक्ति। और इसी भावना के तहत युगीन कवियों ने राष्ट्रीय भावना के साथ ही–साथ अन्तर्राष्ट्रीय भावना को भी प्रदर्शित करते हुए काव्य – रचनायें प्रस्तुत की –

व्यक्ति नहीं जग की परिपाटी

---

[1] जगन्नाथ प्रसाद ' मिलिन्द ' – भूमि श्रमिक की पत्नी ' भूमि की अनुभूति , प्र . 37

दोषी जन के दुःख–क्लेश की
जन का श्रम जन में बँट जाए
प्रजा सुखी हो देश–देश की।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से कवि पंत नें अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम की भावना को प्रकट किया है। पंत की विचारधारा जाति, वर्ग, देश आदि की संकीर्ण सीमा से उठकर विश्व के कल्याण की आकांक्षा करती है –

क्षुधा तषाओं' स्प्रहा काम से ऊपर,
जाति वर्ग औ देश, राष्ट्र से उठकर
जीवित स्वर में व्यापक जीवन गान
सदा करेगा मानव का कल्याण[2]

'कहाँ देश हैं?' शीर्षक कविता में निराला भी राष्ट्र के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय धरातल की अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं –

झुलसाता जल तरल अनल
गलकर गिरता सा अम्बर
है प्लावित कर जग को असीम रोदन लहराता ,
खड़ी दिग्बधू नयनों में दुख की है गाथा ;
प्रबल वायु भरती हैं एक अधीर श्वास,
है करता अनय प्रलय का–सा भर जलोच्छवास
यह चारो ओर घोर संशयमय क्या होता हैं ?
क्यों सारा संसार इतना रोता हैं ?[3]

छायावादोत्तर युग के प्रगतिवादी कवियों की दृष्टि तो अपने देश की मिट्टी की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शोषित कृषकों, श्रमिकों एवं अभावग्रस्त जनता की ही ओर विशेष उन्मुख हुयी हैं । ड़ा0 शिवमंगल सिंह 'सुमन' की दृष्टि में सारे संसार के पद्दलित एक हैं । इसीलिए तो वे कहते हैं –

आओ, अठो, करो तैयारी
बाकी अभी तुम्हारी बारी
आहुति आओ
आज दीप से दीप जलाओ

---

[1] समित्रानन्दन पंत – ' संध्या के बाद ' ग्राम्या , प्र. 67
[2] – सुमित्रा नन्दन पंत – 'उन्मेष', युगवाणी, पृष्ठ 56
[3] सुर्यकान्त त्रिपाठी ' निराला ' – कहाँ देश है? अनामिका , प्र. 57

हाथ बढाओं लो मशाल आगे बढ़ जाओ

दुनिया भर के पद–दलितों का हाथ बटॉओं ।[1]

'प्रलय सृजन' संग्रह की 'सोवियत रूस के प्रति , 'मास्को अब भी दूर हैं , स्टालिन ग्रेट' और 'लाल सेना' शीर्षक कविताओं में रूस को मानवता के कल्याण के प्रतीक के रूप में प्रकट किया गया हैं । वस्तुतः इन कविताओं में कवि की द्रष्टि राष्ट्रीयता की सीमा से ऊपर उठकर अंतर्राष्ट्रीय सीमा को छूती दिखाई देती हैं । सोवियत रूस के प्रति कवि की यह उक्ति दृष्टव्य हैं –

नव–संस्कृति के अग्रदूत है

पद – दलितों की आश

एक तुम्हारी गति पर अटकी

मानवता की श्वास

* *

पर अजेय है आज तुम्हारी

पहले से भी शक्ति

जिसमें मिली विश्वभर के

दलितों की चिर – अनुरक्ति।[2]

राष्ट्रीयता की उच्च भावना तथा अन्तर्राष्ट्रीयता से लगाव की दृष्टि से शमशेर बहादुर सिंह ,गिरिजा कुमार माथुर, नरेश मेहता तथा नरेन्द्र शर्मा की भी कुछ कवितायें अपना विशेष महत्व रखती हैं । शमशेर बहादुर सिंह की कविता 'वाम वाम वाम दिशा' अन्तर्राष्ट्रीय भावना को व्यंजित करती हैं जिसमें कवि साम्यवादी समाज की प्रशंसा करता हैं तथा उसके प्रति लोगो में लगाव की भावना पैदा करता हैं –

वाम वाम वाम दिशा

समय : साम्यवादी

* *

लोकतंत्र – पूत वह

दूत, मौन, कर्मनिष्ठ

जनता का :

एकता समन्वय वह

मुक्ति का धनंजय वह

---

1 – शिवमंगल सिंह 'सुभन' – विश्वास बढता ही गया, पृष्ठ 30–31

2 – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'सावियत रूस के प्रति', प्रलय – सृजन, पृष्ठ 58–59

चिर विजयी बय में वह
ध्येय – बीर
सेनानी
अविराम
वाम वक्ष वादी हैं – ।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि की उद्‌भावना की दृष्टि से नरेन्द्र शर्मा की 'जागरण नयन जावा ' शीर्षक कविता भी देखी जा सकती हैं जिसमें कवि जावा द्वीप के जागरण का उल्लेख करता हैं –

जनयुग का हलकारा बनकर, सदियों से सोया चण्डजगा
पददलित एक जापान , किन्तु सम्पूर्ण एशिया खण्ड जगा!
झुक गया निपनका सूर्यकेतु , झुक जाने दो, पाखण्डी था,
अब प्रलयवाहिनी मलयपवन से महाद्वीप मार्तण्ड जगा !
जन–क्रांति एशिया में जागी बीती भव बंधन की घड़ियाँ
खुल जायेंगी अब जाँति–पाँति औ वर्ग सम्पदा की कड़ियाँ !
सब देश–विदेश एक होंगे पूरब–पश्चिम ,उत्तर–दक्खिन
जगती के सोये शतदल की, प्रहसित होंगी शत पंखडियाँ ।[2]

वस्तुतः छायावादोत्तर युग की कवि दृष्टि अपने राष्ट्र की समस्याओं तक ही सीमित नही हैं अपितु वह अन्तराष्ट्रीय विषयों एवं समस्याओं को लेकर भी काव्य–सृजन के क्षेत्र में अवतरित हुई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भांाति की स्थापना के प्रति छायावादोत्तर युग से पूर्व तथा छायावादोत्तर युग में भी अनेक प्रयत्न किये हैं । इसी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय उद्‌भावना सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की ' काफी हाउस में मैलो ड्रामा' तथा 'पीस पैगोडा' शीर्षक कविताओं में देखी जा सकती हैं ।

वस्तुतः छायावादोत्तर युग में विश्व के अनेक भागों पर साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी शक्तियों का सूरज चमक रहा था । समय के परिवर्तन के साथ ही इन आकामक शक्तियों की क्षमता घटती गयी तथा अनेक राष्ट्र एवं भूभाग स्वतंत्र होते गये तथा विश्वव्यापी राजनीतिक चेतना का कवि पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था । गिरिजा कुमार माथुर की 'एशिया का जागरण ' शीर्षक कविता इसी राजनीतिक चेतना एवं अंतर्राष्ट्रीयता की भावना को सँजोये हुए हैं । 'पहिए' तथा 'पूरब किरन ' कविताओं में भी विश्व बन्धुत्व एवं समानता की भावना को ही वाणी प्रदान की गयी हैं नरेश मेहता की कविता 'समय देवता'[3] की पृष्ठभूमि भी अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित हैं ।

---

[1] शमशेर बहादुर सिंह – ' बाम वाम वाम दिशा 'कुछ और कविताएं प्र. 8–9
[2] नरेन्द्र शर्मा – ' जागरण नयन जावा, हंसमाला , प्र. 46
[3] – नरेश कुमार मेहता – दूसरा सप्तक, पृष्ठ 120–133

अंततः यह कहा जा सकता हैं कि छायावादोत्तर युग का कवि जहाँ एक ओर अपने राष्ट्र एवं मिट्टी के प्रति अपनी अटूट आस्था का भाव प्रकट करता हैं 'सुभाष की मृत्यू पर'[1] ' चरित्र की के सर'[2] तथा 'नेहरू जी के प्रति'[3] आदि कविताओं के माध्यम से देश के नेताओं एवं राष्ट्रोद्वारकों के प्रति अपना भावात्मक लगाव प्रदर्शित करता हैं वही वह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर खड़ा होकर विश्व की झलक देखता और प्रदर्शित करता हैं । इस प्रकार स्पष्ट हैं कि छायावादोत्तर युग की कवि – दृष्टि संकीर्णता की सीमा को पारकर अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज से अपना दामन जोड़ती हुई दिखायी देती हैं ।

६– मानवीय स्तर पर

यह तो पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि छायावादोत्तर युग का कविधर्म ,ईश्वर एवं जाति–प्रथा जैसी रूढ़ एवं विकास बाधक भावनाओं एवं प्रवृत्तियों के प्रति अनास्था व्यक्त करता हुआ उसके प्रति विद्रोह भाव प्रकट करता हैं तथा प्राचीन एवं परम्परागत जड़ संस्कृति को भी त्याज्य मानता हैं, लेकिन यहाँ एक बात ध्यान देने की यह हैं कि छायावादोत्तर युग का कवि परम्परागत प्राचीन संस्कृति एवं उसके आदर्शो को यों ही हवा में उड़ाकर नकार नहीं देता, अपितु पहले वह उसे वैज्ञानिकता एवं तर्क की कसौटी पर कसता हैं, उसके प्रगतिशील एवं अवरोधक तत्वों को अलग–अलग करता हैं, तत्पश्चात् युग–जीवन एंव समाज के विकास तथा उसकी समस्याओं के निराकरण में सहायक होने वाले प्राचीन एवं परम्परागत संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों को ग्रहण करता है और रूढ़ एवं अवरोधक तत्वों को छोड़ देता हैं। इस प्रक्रिया में वह प्राचीन संस्कृति के मूल्यों एवं आदर्शो को ढूढ़ निकालता हैं तथा युगानुरूप नये रूप में उसे रचनात्मक स्वरूप प्रदान करता हैं । यद्यपि प्रगतिशील काव्यधारा के कवियों ने संस्कृति को भी नकार दिया था ,लेकिन प्रयोगवाद एवं नयी कविता के कवियों ने उसे पूरी तरह से नकार नहीं अपितु उसके प्रगतिशील तत्वों को छोड़ने की बात की साथ ही उसने उसके विकासशील तत्वों को परिष्कृत एवं परिमार्जित करके उसे नये रूपों में प्रस्तुत करके समाज के विकास में सहायक बनाने की भरसक कोशिश भी की हैं। तात्पर्य यह कि वह प्रत्येक चीज को मानवीयता की कसौटी पर कसकर परखता हैं । यह मानवीयता उसकी कविता के साथ जुड़कर चलती हैं। वह इसे आधार भूमि के रूप में मानकर चलता हैं। छायावादोत्तर युग की कविताओं ने इस मानवीयता को हम चार रूपों में देख सकते हैं

---

[1] – धर्मवीर भारती – 'ठण्डा लोहा', पृष्ठ 47
[2] – गिरिजा कुमार माथुर – धूप के धान, पृष्ठ 106–108
[3] – हरिनारायण व्यास – दूसरा सप्तक, पृष्ठ 58–59

– पहला, प्राचीन परम्परा एवं संस्कृति की ओर उन्मुखता के रूप में, दूसरा अहिंसा एवं शांति के प्रचार प्रसार की ललक के रूप में, तीसरा शोषित पक्षधरता के रूप में और चौथा, नये समाज के निर्माण के प्रयास के रूप में ।

(क) प्राचीन परम्परा एवं संस्कृति की ओर उन्मुखता

हमारा अतीत उच्च जीवन–दर्शन, सभ्यता, संस्कृति एवं आध्यात्मिक भावना से युक्त था, लेकिन बदलती परिस्थितियों एवं विघटनों के बीच धीरे–धीरे उसमें कृत्रिमता एवं रूढ़ता आती गयी। फलतः उन उच्च मूल्यों एवं आदर्शों में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हुयी, जिनका अत्यन्त भयावह रूप छायावादोत्तर युग से लेकर आज तक के समाज में देखनें को मिलता हैं। यही कारण हैं कि छायावादोत्तर युग का कवि उन पूरानी मान्यताओं एवं रूढ़ियों को जो आज के गतिशील समाज में अप्रासंगिक हो गये हैं तथा समाज की प्रगति में अवरोध का कार्य कर रहें हैं उनके त्याग की बात करता हैं । 'कुरूक्षेत्र ' (रामधारी सिंह दिनकर) 'अधायुग' और ' कनुप्रिया (धर्मवीर भारती) 'एकलव्य' (रामकुमार वर्मा) 'मेधावी' (रांगेय राघव) आदि काव्य–ग्रंथों तथा वैशाली , कबीर, बुद्ध, राम, पृथ्वीकल्प, धरादीप (गिरिजा कुमार माथुर) तुलसीदास , गांधी , (महेन्द्र भटनागर) शीर्षक कविताओं के माध्यम से छायावादोत्तर युग के कवियों ने अतीत एवं परम्परा की संस्कृति को नए रूपों में इस प्रकार प्रकट किया हैं जिससे वे आज के समाज में वर्तमान समस्याओं –युद्ध, की निरन्तर बढ़ती भीषणता ,परस्पर प्रेम और सौहार्द की कमी, ईर्ष्या, द्वेष , वैमनस्य , लूट–खसोट, भ्रष्टाचार, आदि को सुलझानें में सहायक हो सकें ।

गिरिजा कुमार माथुर ने प्राचीन संस्कृति के उच्च मूल्यों एवं आदर्शो के प्रति तथा राम, बुद्ध, कबीर, आदि महापुरूषों के उच्च व्यक्तित्वों के प्रति अपनी गहरी निष्ठा व्यक्त की हैं । उन्होने परम्परागत प्राचीन संस्कृति के उच्च मुल्यों एवं महापुरूषों को नवीन परिवेश में नये अर्थो में नयी व्यंजनाओं के साथ प्रस्तुत किया हैं तथा उसके माघ्यम से समाज एवं जीवन को नया रूप देने की कोशिश की हैं। महापुरूषों के चरित्रों के माध्यम से दिनों–दिन हासोन्मुखी प्रवृत्तियों की ओर जाती आज के नवयुवकों की मनोवृत्ति को भी नयारूप प्रदान करने की कोशिश की हैं । वस्तुतः आज का नवयुवक वर्ग धीर–धीरे एक ऐसी सभ्यता एवं संस्कृति की ओर उन्मुख होता जा रहा हैं जो कि उसके भविष्य को अंधकार के गर्त में डुबोती जा रहीं हैं। इन नवयुवको को नयी राह प्रदान करने के लिए महापुरूषों के चरित्र तथा उनके उच्चादर्श सहायक हो सकतें हैं । डॉ0 रामकुमार वर्मा ने लिखा भी हैं कि 'हमारे देश के गौरव–पूर्ण प्रसंग और प्रातः स्मरणीय महापुरूषों के चरित्र हमारे

नवयुवकों के चरित्र निर्माण में सहायक होनें चाहिए ।[1] कहना न होगा कि महाभारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को लेकर इसी उद्देश्य के तहत 'एकलव्य' का प्रणायन भी किया गया ।

छायावादोत्तर युग का कवि राम, कृष्ण, बुद्ध, आदि प्राचीन महापुरूषों तथा आधुनिक युग के मसीहा अरविन्द, रवीन्द्र, एवं गांधी के जीवनादर्शो तथा उनके चरित्र के उच्च मूल्यों के माध्यम से नयी पीढी को दिशा निर्देश देने का प्रयास करता हैं । पंत ने मर्यादा पुरूषोत्तम राम का गुणगान किया हैं तथा अरविन्द के जीवन दर्शन से युग के अनुकूल आदर्शो की खोज की हैं । इस दृष्टि से कवि की 'बुद्ध के प्रति' कविता उल्लेखनीय हैं –

आओं, शांत, कांत, वर, सुन्दर
धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण,
विचरो नवयुग पांथ बुद्ध बन,
जन भू करता अभिवादन।
अणु रचना के भूति मंच पर,
हो सुखांत मानव युग का कारण,
तुम से नव मानुष्य स्पर्श या
विष हो अमृत, मृत्यु नव–जीवन ।[2]

मानव समाज तथा जीवन के विकास हेतु तथा उनमें उच्च मानवीय मूल्यों की स्थापना और प्रचार–प्रसार हेतु कवि अरबिन्द से कहता हैं –

जीवन मन से ऊपर, तुम नव–जीवन में नव मन में ,
मानवता को बांधो अभिनव ऐक्य मुक्ति बंधन में।[3]

वस्तुतः हमारी संस्कृति के मूल आदर्श रहें हैं – शांति, समता और लोकमंगल, लेकिन आज की परिस्थितियाँ काफी विषम हैं। समाज में चतुर्दिक अशांन्ति, असमानता तथा व्यक्ति मंगल के भाव अपने जहरीले पंजे फैलाये हुए छाये हुए हैं इन विषम परिस्थितियों के बीच आज के जागरूक चितंक एवं कवि की दृष्टि अपनी परम्परागत संस्कृति उच्च मूल्यादर्शो की ओर उठती है तथा वह अपनी परम्परागत संस्कृति के प्रगतिशील आदर्शो को पुनः स्थापित करना चाहता हैं। वस्तुतः प्रेम एव मानवता समाज के नव–निर्माण के लिए उपदेश तत्व हैं, क्योंकि –

व्यापक प्रेम बिना सम्भव कब
पूर्ण कांति प्रिय दर्शिनि ?
संघर्षण से नहीं उपजती

---

[1] – रामकुमार वर्मा – साहित्य चिन्तन , पृष्ठ 177
[2] – सुमित्रानन्दन पंत – 'बुद्ध के प्रति', वाणी, पृष्ठ 128
[3] - सुमित्रानन्दन पंत – श्री अरविन्द के प्रति, युगपथ, पृष्ठ 132

ज्वाला वह मधु वर्षिणि ।[1]

'कनुप्रिया' का भी मूल उद्देश्य रहा हैं – प्रेम की व्यापकता को व्यंजित करना तथा नारी–नर के बीच परस्पर सौहार्द और साहचर्य के माध्यम से समाज के वास्तविक विकास की सम्भावनाओं को उद्घाटित करना । यहाँ राधा और कृष्ण पौराणिक होते हुए भी नवीन रूपों में प्रस्तुत किये गये हैं। राधा और कृष्ण नारी और नर के प्रतीक हैं। इस प्रकार प्राचीन सांस्कृतिक विषय एवं चरित्र के माध्यम से आज के युग एवं समाज की समस्या नारी और नर के बीच अंतर तथा व्यापक प्रेम की कमी को उद्घाटित कर उसके समाधान के लिए निकालने का प्रयास किया गया हैं ।

वर्ग विशमता एवं अश्प्रश्यता की भावना आज के वैज्ञानिक युग में भी अपना अस्तित्व बरकरार रखे हुए हैं । रक्त और वर्ण की उच्चता का यह गर्व आज भी मानव–मानव के बीच एक गहरी खाई खोद रहा हैं । इस विषमता की भावना में न जाने कितनी और समस्याओं के सृजन में अपना योगदान किया हैं । छायावादोत्तर युग का कवि इस विषमता और विडम्बना की स्थिति को भली भाँति समझता हैं तथा उसे दूर करने के लिए वह पौराणिक चरित्रों को माध्यम के रूप में अपनाता हैं । डा0 रामकुमार वर्मा ने महाभारत मे वर्णित एकलव्य की कथा को आधार बनाया । एकलव्य की कथा को आज की सामाजिक विषमता को उद्घाटित करनें तथा उसके समाधान के लिए ही कवि ने आधार बनाया हैं । वस्तुतः छायावादोत्तर युग के कवि की दृष्टि में मानव असमानता का सिद्धान्त पूर्णतया असत्य एवं अव्यावाहारिक हैं । आज के युग की परिस्थितियों एवं घटनाओं के बीच समानता इसलिए भी आवश्यक हैं क्योंकि समानता के अभाव में एकता की कल्पना नहीं की जा सकती और एकता के अभाव में किसी देश या समाज की सबलता एवं स्वतंन्त्रता सम्भव नहीं हैं । 'एकलव्य' के माध्यम से कवि ने उस व्यवस्था के पतन को अनिवार्य एव आवश्यक बताया हैं जो मानव को विभिन्न वर्गो में विभाजित करनें का कार्य करती हैं ।

कवि यह प्रश्न उठाता है कि जब सभी मनुष्यों में एक ही प्रकार के अंग हैं एक प्रकार के रक्त हैं तो उनको शूद्र एवं ब्राम्हण जैसे वर्गो में कैसे बाँटा जा सकता हैं ? 'एकलव्य' में कवि कहता हैं –

सूर्य की किरन भी क्या जाति–भेद मानती ?
अग्नि क्या विशेष जीवधारियों की श्रेणी में
सीमित है ? और वायु की तरंग उठती –
केवल विशिष्ट व्यक्तियों को सांस देने में ?

---

[1] नरेन्द्र शर्मा – ' चातक मनुज ' अग्निशस्य , प्र . 81

तात्पर्य यह है कि कवि चाहता हैं कि जब प्रकृति समान रूप से देखती है तो मानव–मानव को ऊँच–नीच या छूत–अछूत के रूप में क्यों देखता हैं ? वह स्पष्ट करना चाहता हैं कि मानव–मानव की एकता और समानता आवश्यक एवं शाश्वत हैं। आज के कवि को विश्वास है कि पुरानें संकुचित दर्शन को लेकर आज के परिवर्तित समाज में हम अपने लक्ष्य को साकार नहीं बना सकते –

बोलो, ये पुरातन नीतियाँ विश्वास,
मृत औ संकुचित दर्शन पुराना लें
पुरानी धारणाओं से, पुरानी कल्पनाओं से
कभी क्या जीत पाओंगें ?
कभी अपने बनायें लक्ष्य को
साकार कर क्या देख पाओगें ?
बदलते विश्व के सम्मुख ![1]

आज के समाज की एक सबसे बड़ी समस्या रही हैं –युद्ध ! महाभारत का युद्ध अनीति, अमर्यादा, कुण्ठा, निराशा ,अदूरदर्शिता से भरा हुआ था । धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' महाभारत की इसी कथा के आधार पर लिखा गया हैं । वैयक्तिक स्वार्थो के घेरे में घिरने के कारण तथा कुण्ठा से आच्छादित होने के कारण महाभारत का वह पूरा का पूरा युग ही अंधा हो गया था । छायावादोत्तर युग की परिस्थितियाँ, मानव–समाज तथा निरन्तर घटित होने वाली घटनाएं भी इसी सत्य को व्यंजित करती हैं कि आज के समाज की परिस्थितियाँ कुछ हद तक महाभारत की उन्हीं परिस्थितियों के समान हो गयी थी । कहना न होगा कि 'अंधायुग' की पौराणिक परिस्थितियॉ प्राचीन होते हुए भी नवीन समाज की परिस्थितियों से अपना साम्य बैठाती हैं तथा वे नवीन भूमि पर नवीन समस्याओं के परिप्रेच्छ में खरी भी उतरती हैं । वह प्रकट करता है कि युद्ध एक ऐसी चीज हैं जो व्यक्ति में हासोन्मुखी प्रवृत्तियों –निराशा, कुण्ठा, घ्रणा, ऊब, वेचैनी, आदि को जन्म देती हैं तथा सामाजिक जीवन में अनेक विकृतियों को उत्पन्न करता हैं । अंधायुग में कृपाचार्य ने युद्ध के साथ होनें वाले संस्कृति, धर्म, दर्शन, तथा विविध कलाओं के विनाश के साथ ही साथ मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य आत्महत्या बतलाता हैं –

यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित
इस पूरी संस्कृति में
दर्शन में, धर्म में, कलाओं में,
शासन, व्यवस्था में

---

[1] धर्मवीर भारती – अंधायुग , प्र. 112

आत्मघात होगा- बस अन्तिम लक्ष्य मानव का ।[1]

इस प्रकार भारती ने 'अंधायुग' मे महाभारत की पौराणिक कथा को जीवन एवं समाज की विषमताओं के परिप्रेच्छ में रखकर नये रूपों में प्रकट किया हैं तथा यह स्थापना दी हैं कि युद्ध जैसी समस्या को हर हालत में समाप्त करना चाहिए। वस्तुतः आज के समाज में एक महाभारत नहीं अपितु अनेक महाभारत हो रहे हैं। यांत्रिक सभ्यता के विकास के साथ ही साथ आज मानव को मारने के लिए उद्यत है और यह आधुनिक युग की एक ज्वलंत समस्या भी हैं –

दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अंधापन
भय का अंधापन, ममता का अंधापन
अधिकारों का अंधापन जीत गया
जो कुछ सुन्दर था, शुभ था कोमलतम था
वह हार गया.. ।[2]

अस्वत्थामा द्वारा बृम्हास्त्र–प्रयोग और कुछ नहीं अपितु आधुनिक युग के युद्ध में होने वाले अणु–विस्फोट से उत्पन्न विनाश की ही सूचना हैं। अणु–शक्ति और ब्रम्हास्त्र–शक्ति में समानता इस रूप में हैं कि दोनो से ही विनाश सम्भव हैं।[3] कहना न होगा कि 'अंधायुग' में तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावनाओं से सतर्क रहने का एक संकेत हैं । वह यह भी संकेत करता हैं कि आगामी तृतीय विश्व युद्ध बहुत बड़ी भीषणता को सामने लेकर आयेगा। इस प्रकार 'अंधायुग' पौराणिक संस्कृति पर आधारित होते हुए भी आधुनिक हैं। जिसमें कवि ने अपनी युद्ध विरोधी भावना को अभिव्यक्ति–प्रदान की हैं।

आजादी प्राप्ति से पहले तक देश की जनता तथा कवि वर्ग के समक्ष बस एक ही प्रधान लक्ष्य था वह था स्वराज्य प्राप्ति का, और उसके लिए वह हर प्रकार के कदम उठाने को तत्पर था, चाहे वह कदम हिंसा का होता अथवा अहिंसा का ,नाश का होता या निर्माण का ,अशांति का होता या शांति का, क्योंकि वह किसी भी मूल्य पर आजादी हासिल करना चाहता था, लेकिन आजादी के बाद उसकी मनोवृत्ति में परिवर्तन आया तथा अहिंसा और शांति की ओर उसकी दृष्टि विशेष रूप से उन्मुख हुयी। उसकी मनोवृत्ति राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रवृत्त हुयी । पंचशील तथा सह–अस्तित्व की भावना के प्रति उसका विश्वास दृढ़ हुआ तथा उसनें विश्व कल्याण के प्रति अपनी आसक्ति दिखायी । इस लोक कल्याण या विश्व–मंगल की स्थापना हेतु वह एक ओर विनाश के चित्र प्रस्तुत करता हैं तो दूसरी ओर शांति के प्रति अगाध आस्था व्यक्त करता हैं ।

---

[1] धर्मवीर भारती – अंधायुग , पृष्ठ . 112
[2] धर्मवीर भारती – अंधायुग , पृष्ठ. 13
[3] – धर्मवीर भारती – अंधायुग, पृष्ठ 95

विनाश के चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि अणु–शक्ति का प्रयोग मात्र मानव की इहलीला ही नहीं समाप्त करता अपितु वह कला, साहित्य एवं संस्कृति की विशाल गौरवशाली परम्पराओं एवं उल्लेखनीय उपलब्धियों को भी विलुप्त कर देता हैं । विनाश के लिए अणु बम का प्रयोग करने वालों की निन्दा करते हुए डा0 जगदीश गुप्त ने लिखा हैं –

बड़ा अंहकार हुआ
वज्रोपम तीव्र किरण – शल्य को प्रविष्ट किया
अणु के अलक्ष्य सौरमंडल के सीमित अवकाश में
पाया क्या –
धरती को चिथडें सा फाड़कर ?[1]

'अंधायुग' में अणु बम प्रयोंग के ध्वंसात्मक स्वरूप तथा उससे उत्पन्न तमाम प्रकार की विकृतियों का उल्लेख हैं। भारती ने अणुबम के ध्वंसात्मक पक्ष को प्रकट करते हुए उससे उत्पन्न विकृतियों का चित्रण करते हुए व्यास के माध्यम से कहलवाया हैं –

मै हूँ व्यास !
ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रहास्त्र का।
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नर–पशु!
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होगें विकलांग और कुष्ठ ग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगी ।[2]

लाचारी में युद्ध करना हो तो दूसरी बात हैं अन्यथा आज का कवि युद्ध के द्वारा मरण के स्थान पर शांति के साथ जीवन जीनें का संदेश देता हैं, क्योंकि – बनाना तोड़ने से कुछ बड़ा हैं।[3] वस्तुतः युद्ध के बाद होने वाली भयंकर दुष्परिणामों, कला–संस्कृति, मानवता के उच्च मूल्यों एवं आदर्शों आदि के विनाश आदि के स्वरूप को प्रकट करता ही हैं , साथ ही वह जन–जन के मानस में भी युद्ध विरोधी भावना का संचार करता हैं । मैथलीशरण गुप्त ने युद्धिष्ठिर के द्वारा यह कहलवाकर कि' तू ही नहीं हाय। आज मैं भी हूँ लुटा–कुटा।'[4] एक ओर युद्ध जन्य विनाश का उल्लेख किया हैं तो दूसरी ओर कृष्ण के द्वारा यह भी कहलवाया है कि–

युद्ध की अशोभनता जन यदि जान लें

---

[1] जगदीश गुप्त – ' अंह का विस्फोट' शब्ददंश , पृष्ठ 88
[2] धर्मवीर भारती – अंधायुग , पृष्ठ 94–95
[3] भवानी प्रसाद मिश्र – प्रतीक जून , 1951
[4] मैथलीशरण गुप्त – जयभारत , पृष्ठ 400

तो न होगा व्यर्थ यह इतना अनर्थ भी ।[1]

युद्ध विरोध तथा शांति की स्थापना के साथ ही साथ छायावादोत्तर युग का कवि समग्र कल्याण की बात करता हैं तथा संस्कृति के प्रति अपना मोह प्रकट करता हैं ।

छायावादोत्तर युग का कवि वैज्ञानिक विचारधारा से समन्वित तथा अनेकानेक साहित्य एवं दार्शनिक विचारधाराओं से अनुप्राणित रहा हैं। एक ओर उसके समक्ष अपने अतीत की गौरवशाली परम्परा रहीं हैं , उसके उच्च मूल्य एवं आदर्श रहे हैं तो दूसरी ओर उसके उच्च मूल्य एवं आकर्षण भी रहा हैं । लेकिन वह प्राचीन आदर्श उसे रूढ़ एवं एकांगी लगते हैं। फलतः उसमें उसके बहिष्कार की बलवती भावना देखने को मिलती हैं । इसका कारण यह भी हैं कि छायावादोत्तर युग का कवि यह विश्वास करता हैं कि हमारे जो प्राचीन मूल्य और आदर्श रहे हैं वे आज के युग में बदलती परिस्थितियों एवं घटनाओं के बीच अपनी सजीवता एवं जीवन्तता खो बैठे हैं तथा उनमें काफी हद तक विकृतियाँ एवं रूढियाँ भरती चली गयी हैं। और उन विकृत या रूढ़ मूल्यों या आदर्शो के आधार पर नयी सृष्टि की कल्पना नहीं की जा सकती हैं। फिर भी छायावादोत्तर युग का कवि परम्परा का पुनर्मूल्यांकन करता हैं और उसका पुनर्मुल्यांकन कर उससे प्रगतिशील एवं युग–संदर्भो के बीच मानव–समाज के विकास में सहायक होने वाले तत्वों को ढूढं कर निकालता है । यह प्राचीन परम्परा का मूल्याकंन कभी–कभी आवश्यक भी होता हैं, क्योंकि "उसके आधार पर हम अधिक जागरूक होकर इतिहास और उसके परिवेश को वर्तमान की सापेक्षता में जीवन्त तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।"[2] यद्यपि छायावादोत्तर युग का कवि प्राचीन रूढिगत परम्पराओं एवं मूल्यों के त्याग की बात करता हैं लेकिन उसे पूर्णतया भूल नहीं जाता हैं –

नव–भवन निर्माण हित मैं जर्जरित प्राचीनता का –
गढ़ ढहाता जा रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ ।[3]

बल्कि प्राचीन हासोन्मुख मूल्यों एवं आदर्शो के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त करने हुए नवीन मूल्यों एवं आदर्शो की स्थापना हेतु गहरे अतीत की ओर जाने की बात करता हैं –

प्राचीन नीवं पर नहीं
उठायी जायेगी दीवार
कुछ और दूर गहराई तक
जाने का आज विचार।[4]

---

1 – मैथीशरण गुप्त – जयभारत , पृष्ठ 402
2 – लक्ष्मीकान्त वर्मा– नये प्रतिमान : पुराने निकष, पृष्ठ 15
3 - शिवमंगल सिंह 'सुमन' – विश्वास बढ़ता ही गया , पृष्ठ 6
4 – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – विश्वास बढ़ता ही गया , पृष्ठ 110–11

इस प्रकार छायावादोत्तर युग का कवि नवीन मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना के प्रति अपनी विशेष जागरूकता प्रदर्शित करता हैं तथा घृणा, वैमनस्य, तथा अंहकार के स्थान पर प्रेम सौहार्द एवं उच्च मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करता हैं, साथ ही घोर वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता को प्रश्रय देता हैं। वस्तुतः वह ऐसे मूल्यों एवं आदर्शो की स्थापना करना चाहता हैं जो राष्ट्रीय ही नहीं अपितु अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर समाज के नव निर्माण में सहायक हो सकें मानवता को नयी भावभूमि का संकेत दे सकें।

(ख) मानव – महत्ता की स्थापना –

छायावादोत्तर युग वैज्ञानिक चेतना एवं तर्क से समन्वित अनेक विचारधाराओं का युग रहा हैं। हम पहले ही स्पष्ट कर चुकें हैं कि छायावादोत्तर युग का कवि ईश्वर जैसी अलौकिक सत्ता पर रंचमात्र भी विश्वास नहीं करता अपितु उसकी खिल्ली उड़ाता हैं। कहना न होगा कि जहाँ आज का कवि ईश्वर एवं उसकी अलौकिक लीलाओं एवं शक्तिओं के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त करता हैं ,वहीं वह मानव की महानता को स्थापित करता हैं। तथा उसकी अमित शक्तियों पर विश्वास भी करता हैं। यों तों छायावादोत्तर युग में कुछ कवियों ने लघुमानव की भी कल्पना की हैं, लेकिन वह लघुमानव को लघुरूप में स्वीकार करते हुए भी दयनीय रूप में नहीं देखता बल्कि उसके लघु व्यक्तित्व एवं शक्ति के प्रति अपनी अडिग आस्था व्यक्त करता हैं ।

प्रगतिवादी कवियों की दृष्टि में मानव सर्वोपरि हैं। उसके ऊपर ईश्वर या अन्य किसी शक्ति की प्रतिष्ठा मानी ही नहीं जा सकती। वह मानव महत्व एवं उसके शक्ति के प्रति पूर्ण आशान्वित हैं। ईश्वर की कल्पना को वह प्रगति की राह में रोड़ा मानता हैं। छायावाद के प्रबल समर्थक तथा प्रगतिवाद के पुरस्कर्ता सुमित्रानन्द पंत की दृष्टि में मानव ही सर्वश्रेष्ठ हैं। सुर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने भी मानव की अपरिमित शक्ति पर विश्वास करते हुए उसे 'ब्रम्हा' की संज्ञा से विभूषित किया हैं –

तुम हो महान ,तुम सदा हो महान,
है नश्वर यह दीनभाव
कायरता कामपरता,
ब्रम्हा हो तुम
पद–रज–भर भी हैं नहीं पूरा यह विश्व भार।[1]

[1] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – "जागो फिर एक बार", परिमल , पृष्ठ 158

'जिजीविषा' के कवि महेन्द्र भटनागंर को भी मनुष्य की अपरिमित शक्ति पर पूर्ण विश्वास हैं। कवि मनुष्य को तूफान से भी अधिक बड़ा एवं शक्तिशाली बताता हैं तथा संकटो के बीच उसे शूरवीर के समान मानता हैं –

सामने तूफान हैं
पर बड़ा इंसान हैं,
पैर से जिसने मिटा दी, संकटो की सृष्टि सारी।[1]

आज के कवि को मानव की शक्ति पर इतना अधिक भरोसा है कि वह पूरे दृढ़ संकल्प से यह बात कहता है कि मानव सदियों से चली आ रही कारा को ध्वस्त करेगा। तथा पशुबल को पराजित कर चंगेजी न्याय से मुक्त हो, मानवता को नयी भावभूमि प्रदान करेगा। इसीलिए वह कहता है –

आदम का पुत्र बहुत
भटका अंधेरा में
चंगेजी न्यायों के
खून भरे घेरों में
किन्तु धरा मृत्युंजय
स्वर्ग नया पा गयी
सदियों के तिमिर पार
मानवता आ गयी –[2]

इस प्रकार उसे मानव–शक्ति पर विश्वास हैं उसकी महत्ता से उसे वह पूर्णतया वाकिफ हैं। वह पूर्ण आस्था रखता हैं कि चाहे जिस भी तरीके से हो यदि मानव चाह जाये तो समूचे सामाजिक ढॉचे को अपने मनोनुकूल गढ़ने का सामर्थ्य रखता हैं –

ये शक्तिवान मेहनत की बाहों के प्रतीक
उन रूखे भारी हाथों के गतिमान चित्र
गढ़ते जाते हैं जो सामाजिक मूरत को
जीवन की मिट्टी को संवार
सच्चे कर देते है सपने
लेतें हैं स्वर्ग उतार विचारों के नभ सें।[3]

यह ध्रुव सत्य है कि कितना भी बलशाली व्यक्ति हो उसकी खिलाफत करने वाले भी होते हैं। मानव महान है उसकी शक्ति अपरिमित हैं उसमें सब कुछ करने की क्षमता हैं लेकिन दनुजता

---

[1] महेन्द्र भटनागर – "यह नहीं मंजिल", जिजीविषा, पृष्ठ 15
[2] गिरिजा कुमार माथुर – 'युगारम्भ', धूप के धान , पृष्ठ 7
[3] गिरिजा कुमार माथुर – ' पहिए ', धूप के धान , पृष्ठ 15–16

एवं आसुरी प्रवृत्ति हमेशा–हमेशा से इस ताक में रही हैं कि कब मानव की महत्ता को धाराशायी कर उस पर अपना हक जमा लें, लेकिन कवि को विश्वास है कि दनुजता या आसुरी प्रवृत्ति कभी भी मानव–भविष्य को मिटानें में सफल नहीं हो सकती –

किन्तु नहीं
मिट सका कभी न भविष्यं मनुज का
जग का वैभव रचने वाली ज्योति मनुज का
अणु का नाग नाथने वाले महामनुज का–[1]

मानव विपुल शक्तियों का निधान हैं उसमें अपार सामर्थ्य भरी हुयी है। इसीलिए तो त्रिलोचन कहते हैं –

जीवित मानव –महिमा तुमसे
तुम मानव–जीवन के धर्ता
तुम मानव–जीवन के कर्ता
तुम मानव–जीवन के हर्ता
विपुल शक्तियों के निधान तुम
....।[2]

एक बात और! छायावादोत्तर युग का कवि व्यक्ति–चेतना या व्यक्ति–महत्व को सामाजिक चेतना या सामाजिक महत्व से अलग करके नहीं देखता, बल्कि वह मनुष्य की दुर्बलताओं एवं सबलताओं को एक साथ रखकर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता हैं । तात्पर्य यह कि छायावादोत्तर युग का कवि जहाँ भी मानव की महत्ता स्थापित करता हैं, उसकी शक्तियों पर अपना अटूट विश्वास प्रकट करता हैं, जहाँ भी वह सामाजिक परिप्रेच्छ का हमेशा ध्यान रखता हैं। यही कारण है कि जहाँ कवि उसकी शक्ति एवं महत्ता का बखान करता हैं वहीं वह उसकी छुद्र प्रवृत्तियों–मानवोचित, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि को भी उद्घाटित करता हैं, क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ समष्टि भावना के पैदा होने में रूकावट डालती हैं तथा परस्पर वैमनस्य एवं द्वेष की भावना पैदा करती हैं । मानव की इसी प्रवृत्ति को उद्घाटित करते हुए गिरिजा कुमार माथुर ने लिखा हैं–

यह हैं अनुपात
आदमी का विराट से
इस पर भी आदमी
ईर्ष्या, अहं, स्वार्थ, घृणा अविश्वास लीन

[1] गिरिजा कुमार माथुर – 'मैन हैटन', धूप के धान, पृष्ठ 62
[2] त्रिलोचन शास्त्री – ' सोच समझकर चलना होगा', धरती, पृष्ठ 15

संख्यातीत शंख–सी दीवारें उठाता है
अपने को दूजे का स्वामी बताता है
देशों की कौन कहें
एक कमरे में
दो दुनिया रचाता हैं ।[1]

वस्तुतः इस प्रवृत्ति के उद्घाटन के पीछे कवि की यही धारणा रहीं हैं कि वह मानव की दुर्बलताओं एवं सबलताओं दोंनो को प्रकट कर उसको नयी दिशा की ओर मोड़े। वस्तुतः आज का कवि मानव के सामाजिक एवं असामाजिक दोनों रूपों को प्रकट करता है तथा सामाजिक रूप के प्रति अपना अटूट लगाव प्रदर्शित करता हैं । मानव को विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण मानने के पीछे एक ओर अस्तित्ववादी विचारधारा क्रियाशील रहीं हैं तो दूसरी ओर वैज्ञानिक चेतना ने भी उसकी शक्ति एवं महत्ता की स्थापना में अपनी अहम भूमिका निभायी हैं। बौद्धिक चेतना के धनी कवि मानव को ही सर्वशक्तिमान एवं सर्वोपरि मानते हैं-तथा विश्वास रखते हैं कि मानव जब भी चाहेगा अपने मनोनुकूल समाज के ढ़ाचे में परिवर्तन कर उसे नये रूपों में गढ़ लेगा ।

(ग) शोषित पक्षधारा –

समाज के दो वर्ग हमेशा क्रियाशील रहे हैं , एक तो वह वर्ग जिसे शोषक की संज्ञा दी जाती सकती है तथा दूसरा वह वर्ग जिसे शोषित की संज्ञा दी जा सकती हैं । शोषितों का वर्ग शोषकों के द्वारा हमेशा से पीड़ित एवं पददलित होता रहा हैं। मार्क्सवादी समाजवादी विचारधारा के प्रचार–प्रसार तथा वैज्ञानिक चेतना के विकास के फलस्वरूप समाज के जागरूक वर्ग में भी एक नयी चेतना की लहर दौड़ पड़ी। सामान्य जनता के साथ ही साथ कवि वर्ग भी नवीन चेतना एवं वैज्ञानिक विचारधाराओं से प्रभावित हुआ। वस्तुतः छायावादोत्तर युग का कवि जिस विचारधारा से सर्वाधिक प्रभावित हुआ हैं। उसमें मार्क्सवादी समाजवादी विचारधारा अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार से ये विचारधारायें शोषकों की खिलाफत करते हुए साम्राज्यवादी–उपनिवेशवादी आक्रामक शक्तियों की कटु आलोचना करते हुए, शोषित वर्ग के प्रति अपनी गहरी सहानुभूति व्यक्त करती हैं ठीक उसी प्रकार छायावादोत्तर युग का कवि शोषितों का पक्ष लेता हैं तथा शोषकों के प्रति अपना तीव्र आक्रोश प्रकट करता हैं ।

छायावादोत्तर युग के कवियों की शोषित – पक्षधरता प्रायः दो रूपों में उमड़ कर सामने आती हैं, एक समाज के यथार्थवादी चित्रण के रूप में तो दूसरा शोषितों के प्रति सहानुभूति

---

[1] गिरिजा कुमार माथुर – 'आदमी का अनुपात', शिला पंख चमकीले , पृष्ठ 65–66

एवं उनको जाग्रति का सन्देश देने के रूप में। छायावादोत्तर युग के राष्ट्रीय कवियों में दिनकर का काव्य समाज के यथार्थवादी चित्रण की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता हैं। वस्तुतः समाज के इस यथार्थ चित्रण के प्रति भी कवि का मूल उद्देश्य जनता को उसकी दयनीय स्थिति से परिचित करा, उसमें नयी प्रेरणा एवं शक्ति भर, शोषकों के विरूद्ध खड़ा करना ही रहा हैं। हमारे समाज में कृषक एवं श्रमिक वर्ग की तादाद बहुत बड़ी हैं । कहना न होगा कि छायावादोत्तर युग में वह भारी तादाद वाला वर्ग ही शोषकों का सबसे बड़ा शिकार हुआ हैं । भारतीय कृषक जीवन की विडम्बना पूर्ण स्थिति को प्रकट करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा हैं –

जेठ हो कि हो पूस, हमारे
कृषकों को आराम नहीं हैं,
छुटे बैल के संग, कभी
जीवन में ऐसा काम नहीं हैं।
मुख में जीभ, शक्ति भुज में–
जीवन में सुख का काम नहीं हैं,
वसन कहाँ ? सूखी रोटी भी –
मिलती दोनों शाम नहीं हैं ।[1]

इस प्रकार जब वह अपनों देशवासियों की स्थिति को इतनी दयनीय एवं गिरे रूप में देखता हैं तो उसके धैर्य की सीमा–रेखा टूट जाती है तथा वह क्षुब्ध होकर कह उठता हैं –

स्वानों को मिलते दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा–वसन बेच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल–फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार , देता मुझको तब आमंत्रण, [2]

बंगाल का अकाल छायावादोत्तर युग की एक बहुत बड़ी दर्दनाक घटना थी । बंगाल के साथ ही साथ अन्य प्रांत भी अन्न के अभाव में तबाह हो गये थे । ऐसे भयावह वातावरण में निम्नवर्ग के साथ ही मध्यवर्ग भी बुरी तरह कराह उठा था। समाज की ऐसी ही हृदय विदारक स्थिति का वर्णन करते हुए सोहनलाल द्विवेदी ने लिखा हैं –

'रोटी–रोटी' की पुकार हैं
राहों में चौराहों में,

---

1 रामधारी सिंह 'दिनकार' – 'हाहाकार', हुकांर , पृष्ठ. 20
2 रामधारी सिंह 'दिनकर' – ' विपथगा', हुंकार पृष्ठ 45–46

'भात–भात' की ही गुहार
आहों में और कराहों में ।
कितने ही भाव निकल चुके,
मरकर भूखो की मारों में,
देख रहे अधमरे तुम्हें
डूबे हैं रूद्ध पुकारों में ।[1]

शोषित मानव–समाज के प्रति छायावादोत्तर युग के प्रायः सभी कवियों की सहानुभूति रही हैं । ' दग्ध हो रहे है मेरे जन' कविता में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी शोषित मानव समाज के जीवन का जो चित्र प्रस्तुत किया हैं उससे एक ओर तो शोषित समाज का कटु सत्य उजागर होता है तो दूसरी तरफ कवि की शोषितों के प्रति सहानुभूति एवं लगाव की भावना भी प्रकट होती हैं –

आज चतुर्दिक् धधक रही हैं
अति विकराल भूख की होली,
और बनी जन– गण की आँखे
फैली, फटी भीख की झोली।

देखो, छाती पर पत्थर रख,
वह समूह नर – कंकालों का।
देखो झुंड आ रहा है वह
भूखे नंगे कंगालो का !

* *

आज सुन रहा हूँ मै भीषण
प्राण–हरण का घण्टा घन–घन।
देख रहा हँ विकट भूख की।
ज्वाला में लिपटे मानव–तन ।[2]

इस प्रकार राष्ट्रीय कवियों ने शोषित समाज एवं मानव–जीवन के यथार्थ चित्र को उद्‌घाटित किया है तथा उसकी दयनीय स्थिति के प्रति अपनी गहरी सहानुभूति प्रकट की है, लेकिन प्रगतिवादी कवियों की दृष्टि एवं सोच इन कवियों से एक कदम और आगे बढती हैं तथा वह उनके खिलाफ खड़े होने तथा संघर्ष हेतु प्रेरित भी करता हैं। वस्तुतः शोषित पक्षधरता

---

[1] सोहन लाल द्विवेदी – 'बुभुक्षित बंगाल', प्रभाती,, पृष्ठ 77
[2] बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' – 'दग्ध हो रहे है मेरे जन' , हम विषपायी जनम के, पृष्ठ 542

प्रगतिवादी कवियों का मूल उद्देश्य रहा हैं तथा उनके प्रति सहानुभूति की भावना युगीन कवियों की कविताओं का प्रधान स्वर ! छायावादोत्तर युग का प्रगतिवादी कवि केवल कृषक या श्रमिक वर्ग को ही शोषित नहीं मानता अपितु क्लर्क, शिक्षक, कर्मचारी आदि मध्यम वर्ग के लोगों को भी वह शोषितों की श्रेणी में ही गिनता हैं । वह उस समूचे जनसमूह को जो कि शोषित है चाहे वह निम्नवर्ग हो अथवा मध्यवर्ग उसे 'सर्वहारावर्ग ' की श्रेणी में रखता हैं तथा उनकी यथार्थ दयनीय एवं मर्मस्पर्शी स्थिति को उद्घाटित करता हैं उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता हैं उनमें क्रांति एवं विद्रोह की भावन जगाने की कोशिश करता हैं ।

निराला की 'तोडती पत्थर' शीर्षक कविता में मजदूरिन की यथार्थ स्थिति को बड़ी बारीकी से एवं मर्मस्पर्शी रूप में प्रकट किया गया हैं –

वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार ;
श्याम तन, भर बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय–कर्म–रत मन,
गुरू हथौड़ा हाथ
करती बार–बार प्रहार
सामने तरू मालिका उट्टालिका प्राकार[1]

नागार्जुन ने 'देखना ओ गंगा मैया' 'खुरदरे पैर' तथा 'आदम का तबेला' शीर्षक कविताओं में युगीन समाज एवं जीवन के विषमता भरे यथार्थ चित्र प्रस्तुत किये हैं । 'देखना ओ गंगा मैया ' में कवि ने कविता के माध्यम से मल्लाहों के विषमता पूर्ण जीवन की झलक को प्रस्तुत किया हैं तो ' खुर दरे पैर ' में रिक्शे वाले के यथार्थ जीवन की झांकी प्रकट की हैं। 'प्यासी पथराई आंखे' संग्रह की कविताओं में कवि ने नागरिक जीवन की पीड़ा एवं दुख–दर्द से भरे विषम जीवन को चित्रित कर मध्यवर्गीय समाज की निरन्तर गिरती हुई स्थिति को उदघाटित किया हैं ।

'यह किसका कंकाल पड़ा हैं' में शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने जो चित्र प्रस्तुत किया हैं वह मानव समाज की अत्यन्त गिरी हालत को बडे ही कटु सत्य के रूप में उदघाटित करता हैं–

भरी जवानी में ही इसके चेहरे पर पड़ गयी झुर्रियाँ
पीब पिचपिचाती शरीर में भनन–भनन कर रहीं मक्खियाँ
क्या मानव, इस तरह निराश्रित
धरती पर बेहाल पड़ा है , यह किसका कंकाल पडा हैं ।[1]

---

[1] सुर्यकान्त त्रिपाठी ' निराला ' – 'तोड़ती पत्थर' , अनामिका , पृष्ठ 79

वहीं आगे कवि यह भी कहता है कि ये सारी स्थितियाँ और किसी की नहीं अपितु पूँजीवादी समाज की उपज हैं –

यह पूँजीवादी समाज के
जुल्मों का जंजाल पड़ा है।[2]

'कलकत्ते का अकाल' कविता में तो कवि ने मानव–समाज के जिस यथार्थ रूप को प्रकट किया हैं उसे पढ़कर रोम–रोम कंपायमान हो जाता हैं तथा मनुष्य यह सोचने के लिए विवश हो जाता हैं कि मानव–जीवन की यह गति बनाने वाला आखिर कौन हैं? साथ ही उसमें व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना भी जग उठती हैं । भला देखे तो इस समाज के मर्मस्पर्शी यथार्थ चित्र को–

कुत्ते के पंजों से आहत
जर्जर तनबल – हीन
श्वान झपट ले जाता होगा
मुँह की रोटी छीन

* *

बीन सड़ा मैला नाली का
मुँह मे लेता डाल
भूख? भूख ने मिटा दिया हैं
भलें बुरे का ख्याल।[3]

स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग का कवि शोषित मानव एंव समाज के प्रति अपनी गहरी संवेदना प्रकट करता हैं तथा उनके यथार्थ एवं दयनीय स्थिति को उजागर कर लोगों को उनके प्रति संवेदनशील बनाता हैं लेकिन एक बात और हैं ! छायावादोत्तर युग का कवि मात्र इतने तक ही संतोष नहीं कर लेता अपितु वह इन स्थितियों के जन को के विरूद्ध उन्हें खडें होने के लिए, उनसे संघर्ष करने के लिए तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए उत्साह दिलाता हैं तथा क्रांति का आहवान करता हैं । छायावादोत्तर युग का कवि यह जानता है कि समाज की शोषित स्थिति को बनाने वाला कोई दूसरा नहीं अपितु साम्राज्यवादी – पूँजीवादी शोषण एवं समाज के उच्चवर्गीय व्यक्ति हैं। अतः वह इनके विरूद्ध क्रांति की आवाज उठाता हैं । वह समाज एवं मानव की शोषित स्थिति को समाप्त करने हेतु हिंसात्मक क्रांति का भी सहारा लेने से नहीं हिचकता । सत्यता तो यह है कि जब शोषण की सीमा अपने अति पर पहुँच जाती है तब विद्रोह का जन्म

---

[1] शिवमंगल सिंह ' सुमन ' – 'यह किसका कंकाल पड़ा है' , जीवन के गान , पृष्ठ 95
[2] शिवमंगल सिंह ' सुमन ' – 'यह किसका कंकाल पड़ा है' , जीवन के गान , पृष्ठ 96
[3] शिवमंगल सिंह ' सुमन ' – कलकत्ते का अकाल' – 1943, प्रलय–सुजन , पृष्ठ 80

लेना स्वाभाविक एवं निश्चित सा हो जाता है और शोषितों के समक्ष एक ही राह बचती हैं अत्याचारियों से लोहा या लोहा लेते हुए स्वयं समाप्त हो जाना। कवि त्रिलोचन नें शोषित वर्ग से क्रांति का आहवान करते हुए लिखा हैं –

ओ तू नियति बदलने वाला, तू स्वभाव का गढ़ने वाला,
तू ने जिन नयनो से देखा ,उन मजदूर किसानों का दल –
शक्ति दिखाने आज चला हैं ।
साम्राज्य औ' पूँजीवादी लिए हुए अपनी बरबादी
जोर–अजमाई करते है, आज तोड़ने की उनका मन
उठकर दलित समाज चला हैं।[1]

आजादी के बाद भी देश की दयनीय दशा को देखकर कवि क्षुब्ध होता है तथा शोषित वर्ग को आश्वासन देता हुआ कहता है –

दूर नहीं है, दीख रहा जनसत्ता का मन्दिर बलिदानी,
जिसकी ईंट–ईंट के गारे में लिपटी असंख्य कुरबानी ।[2]

'जिजीविषा' का कवि शोषित, पीड़ित पददलित एवं पराजित मानव को आशा का सन्देश देते हुए कहता है –

हिम्मत न हारो ।
कण्टकों के बीच मन–पाटल खिलेगा एक दिन,
हिम्मत न हारो।
यदि आंधियाँ आएँ तुम्हारे पास,
उनसे खेल लो,
जितनी बड़ी चट्टान वे फेंके तुम्हारी ओर
उनको झेल लो ।
हिम्मत न हारो।[3]

'जीवन के गान' के कवि को पूर्ण विश्वास है कि एक दिन पूँजीवादी–साम्राज्यवादी शक्तियों की पराजय होगी तथा दुनिया के कोने–कोने में सुख एवं समृद्धि का साम्राज्य होगा ,मजदूरों एवं किसानों का जय–जयकार होगा । इसीलिए वह मजदूरों एवं किसानों को संघर्ष के मार्ग में आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करता हैं –

तुम गर जो आज प्रलय होगी

---

[1] त्रिलोचन शास्त्री – धरती , पृष्ठ 29
[2] रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' – नया समाज , अप्रैल 1952
[3] महेन्द्र भटनागर – 'हिम्मत न हारो' , जिजीविषा , पृष्ठ 1

शोषक वर्गो की क्षय होगी
दुनिया के कोने – कोने से
मजलूमों की जय जय होगी
अत्याचारो की छाती पर तुम चढ़े चलो तुम चढ़े चलो
मजदूर किसानों बढ़े चलो।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग के कवि ने जीवन एवं समाज के यथार्थ चित्र को प्रस्तुत किया है तथा शोषितों के प्रति अपना गहरा लगाव प्रदर्शित किया है। कहना न होगा कि शोषितों की पक्षधरता तथा यथार्थ चित्रण से लगाव छायावादोत्तर युग के कवियों का मूल लक्ष्य भी रहा हैं ।

(घ) – नये समाज के निर्माण का प्रयास –

द्वितीय अध्याय के अन्र्तगत हम स्पष्ट कर चुके है कि छायावादोत्तर युग की राजनीतिक स्थिति काफी भयावह बनी हुयी थी । पूँजीवाद ,साम्राज्यवाद एवं सामंतवाद का चारो ओर बोल बाला था । इनके उत्पीड़न एवं दमन से जनता त्रस्त थी । इन्ही परिस्थितियों के बीच मार्क्सवादी–समाजवाद विचारधारा का व्यापक रूप से प्रचार प्रसार हुआ , जिसने समस्त जनमानस को अपनी वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता के चलते काफी प्रभावित किया। छायावादोत्तर युग का कवि भी इन विचारधाराओं की ओर आकर्षित हुआ वह समाजवादी व्यवस्था के आधार पर नये समाज के गठन कर स्वप्न देखने लगा । यह बात अलग है कि समाजवादी शासन–व्यवस्था की स्थापना तब तक सम्भव नही हो सकती थी जब तक कि देश पर या विश्व पर आक्रामक शक्तियों का एकाधिकार बना रहता । अतः आवश्यक था कि इनकी खिलाफत की जाय तथा उन्हें समूल उखाड़ फेंका जाय और उसके स्थान पर नयी जनवादी शासन–व्यवस्था की स्थापना की जाय। छायावादोत्तर युग के कवियों ने इस तथ्य को समझा एवं परखा तथा उसी के अनुरूप काव्य–सृजन के दायित्वों को निभाने में प्रवृत्त भी हुए। तात्पर्य यह कि छायावादोत्तर युग का कवि साम्राज्यवादी , पूँजीवादी एवं सामंतवादी व्यवस्थाओं की कटु आलोचना करता हुआ, पहले उसे उखाड़ फेंकने के लिए जनता में जाग्रति की भावना पैदा करता है और उसके बाद वह नये समाज का निर्माण जनवादी–समाजवादी व्यवस्था के आधार पर करने की आकांक्षा रखता हैं । इस प्रकार छायावादोत्तर युग के कवियों के काव्य–सृजन के दो प्रधान लक्ष्य बनें–पहला, साम्राज्यवादी–पूँजीवादी –सामंतवादी शक्तियों के प्रति विद्रोह की भावना और दूसरा नये समाज वादी व्यवस्था की स्थापना ।

---

[1] शिवमंगल सिंह 'सुमन' – मजदूर किसानों बढ़े चलो , जीवन के गान , पृष्ठ 93

इस कटु सत्य से जन–जन परिचित है कि छायावादोत्तर युग का पराधीन समाज इन तीनों शक्तियों के शोषण से बुरी तरह त्रस्त था। स्वराज्य आंदोलन का मुख्य लक्ष्य ही था –साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी अंग्रेजी शासन व्यवस्था से मुक्ति का प्रयास। एक तरफ विदेशी शासन समाज के शोषण में लिप्त था तो दूसरी तरफ देश के सामंतो, जमीदारों एवं पूँजीपतियों ने भी कृषकों श्रमिकों एवं सामान्य जनता को शोषित करने में कोई कोर कसर नहीं बाकी रखी थी। इस प्रकार समाज दोहरे शोषण का शिकार बना हुआ था तथा सामान्य जनता की जिन्दगी निरन्तर बदतर होती जा रही थी। छायावादोत्तर युग का कवि एक ओर विदेशी शासन की खिलाफत करता हैं उससे मुक्ति पानें के लिए जनता में जाग्रति की भावना पैदा करता हैं तो दूसरी ओर सामंतवादियों एवं पूँजीपतियों के शोषण के खिलाफ भी विद्रोह की भावना व्यक्त करता है। दिल्ली को सामंतवादी ऐश्वर्य के प्रतीक के रूप में देखते हुए दिनकर ने लिखा–

आहें उठी दीन कृषकों की,
मजदूरो की तड़प पुकारें,
अरी! गरीबों के लोहू पर –
खड़ी हुई तेरी दीवारें ।[1]

वस्तुतः साम्राज्यवाद, सामंतवाद, पूँजीवाद किसी एक देश के मानव के नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व–मानवता के शोषक एवं शत्रु हैं। ये मानवीय विकास के अवरोधक तथा मानवीय स्वतंत्रता के कट्टर विरोधी हैं । छायावादोत्तर युग का विश्व अशांति , शोषण, उत्पीड़न एवं अभावग्रस्त जीवन जी रहा था और इन सबका जनक साम्राज्यवादी, सामंतवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था तथा उनका विश्व पर एकाधिकार था । कहना न होगा कि छायावादोत्तर युग का कवि इन सभी स्थितियों एवं परिस्थितियों से पूर्ण तथा अवगत था और वह इनके विनाश की आकांक्षा रखते हुए एक स्वस्थ समाज निर्माण की कल्पना करता हैं।

पूँजीवादी समाज–व्यवस्था तथा पूँजीपतियों के एकाधिपत्य के ही चलते समाज में वर्ग–विषमता एवं अर्थ–विषमता की स्थिति उत्पन्न हुयी हैं । वस्तुत अर्थ–विभाजन की दोषपूर्ण प्रणाली समाज की दयनीय स्थिति को बनाने में विशेष पूँजीवाद का अंत देखना चाहता है तथा भयंकर त्रास की पीड़ा से क्षुब्ध होकर आक्रोश भरी वाणी में कहता हैं –

वे नृशंस है वे जन के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी जोंक जग के, भू जिनसे शोषित!
नहीं जिन्हे करनी श्रम से जीविका उपार्जित;
नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित!

---

[1] रामधारी सिंह दिनकर – 'नयी दिल्ली के प्रति' , हुंकार, पृष्ठ 37

शैया की क्रीड़ा कुन्दक है जिनको नारी,
अहमन्य वे गूढ़ अर्थबल के व्यभिचारी!
सुरांगना, सम्पदा, सुराओं से संसेवित,
नर–पशु वे : भू–भारः मनुजता जिनसे लज्जित![1]

आगे वे पूँजीपतियों को हठी, दर्पी, निरंकुश एवं निर्मम आदि की संज्ञा देते हुए कहते हैं –

दर्पी, हठी, निरंकुश, निर्मम, कलुशित, कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक–जीवन जिन से मृत!
जग–जीवन का दुरूपयोग है उनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अंतिम है उनके क्षण![2]

साम्राज्यवादियों एवं पूँजीपतियों के खिलाफ लिखी गयी निराला की रचना 'बन–बेला' साम्राज्यवादियो के ऊपर एक करारा व्यंग्य है। इसमें कवि ने चाटुकार कवियों, समाचार पत्रों तथा रूढ़ मनोवृत्ति से ग्रस्त जनता के ऊपर भी अपनी व्यंग्य वाणी मुखरित की हैं। 'कुकुरमुत्ता' में कवि ने कुकुरमुत्ता और गुलाब को क्रमशः सर्वहारा और शोषकवर्ग या उच्चवर्ग के प्रतीक रूप में चित्रित करते हुए पूँजीवादी प्रवृत्तियों की घोर आलोचना की हैं –

अबे, सुन बे गुलाब,
भूलमत जो पायी खुशबू रंगोआब;
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतराता है कैपिटलिस्ट;
कितनों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रक्खा ,सहाया जाड़ा–घाम;
हाथ जिसके तू लगा,
पैर सर रखकर व पीछे को भगा
औरत की जानिब मैदान यह छोड़कर
तबेले को टट्टू – जैसे तोड़कर
शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यारा
तभी साधारणों से तू रहा न्यारा ।[3]

इस प्रकार निराला ने इन थोड़ी सी ही पंक्तियों में पूँजीवादियों की प्रवृत्तियों को उजागर कर दिया है तथा उनके प्रति व्यंग्य का भाव भी प्रकट किया हैं ।

---

[1] संमित्रानन्दन पंत – ' धनपति ' , युगवाणी , पृष्ठ 31
[2] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – कुकुरमुत्ता , पृष्ठ .39–40
[3] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – कुकुरमुत्ता, पृष्ठ 39–40

पूँजीवादी समाज एवं उसकी सभ्यता और संस्कृति ने शोषण की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। जीवन समाज एवं कला आदि सभी को पूँजीवाद निर्जीव बनाता हैं। यही नहीं पूँजीवाद व्यक्ति के महत्व तथा समाज के महत्व को भी समाप्त कर देता है। इसीलिए तो आज का कवि पूँजीवादी समाज के विनाश की बात करता है, क्योकि पूंजीवाद के विनाश के बिना नये समाज के निर्माण की कल्पना साकार नहीं हो सकती है –

बिना पूँजीवाद को मिटाये किसी तरह भी
यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता
ज्ञान – विज्ञान से किसी प्रकार
कोई कल्याण नहीं हो सकता।[1]

तात्पर्य यह है कि पूँजीवाद ही सभी समस्याओं का जनक है अतः इसके एकाधिकार को समाप्त करना प्रमुख एवं आवश्यक कार्य है ।

पूँजीवादी व्यवस्था के अभिशाप का एक पहलू 'सुमन' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है –

किसी दैव का है प्रकोप यह
था अजगर ने चूस लिया है
या मानव की दानवता ने
इसका जीवन लूट लिया है
यह पूँजीवादी समाज के
जुल्मों का जंजाल पड़ा है –
यह किसका कंकाल पड़ा है।[2]

और इस पूँजीवादी अभिशाप से क्षुब्ध होकर कवि उसे समूल उखाड़ फेंकने तथा नष्ट–भ्रष्ट कर देने की आकांक्षा रखता है। पूँजीवादियों द्वारा किये जा रहे अपराध को वह सबसे घृणित अपराध मानता हैं तथा हर कीमत पर उसका अन्त करना चाहता है –

पर जिनको स्वार्थवश, जीवन विषाक्त बना दिया है,
कोटि–कोटि बुभुक्षितों का कौर तलक छिन लिया है,
'लाभ–शुभ' लिखकर जमाने का ह्रदय चूसा जिन्होने;
और कल बंगाल वाली लाश पर थूका जिन्होने,
बिलखते शिशु की व्यथा पर, दृष्टि तक जिनने न फेरी;

---

1 त्रिलोचन शास्त्री – धरती , पृष्ठ 98
2 शिवमंगल सिंह सुमन – 'यह किसका कंकाल पड़ा है', जीवन के गान, पृष्ठ 95–96

यदि क्षमा कर दूँ उन्हे धिक्कार माँ की कूख मेरी।
चाहता हूँ ध्वंस कर देना विषमता की कहानी,
हो सुलभ सबको जगत् में वस्त्र, भोजन, अन्न, पानी।[1]

पूँजीवादी व्यवस्था की तो कवि ने खिलाफत की ही है, साथ ही ब्रिटिश सम्राज्यवाद को ललकारते हुए भी कवि ने कहा हैं –

ठहर, आततायी हिंसक पशु
रक्त – पिपासु प्रवंचक
हरे भरे वन के दावानल
क्रूर कुटिल विध्वंसक।
देख न सका सृष्टि शोभा वर
सुख समतामय जीवन,
ठट्ठा मार हँस रहा बर्बर–
सुन जगती का क्रन्दन।[2]

साम्राज्यवादी शासको तथा उनकी दमन एवं उत्पीड़न की प्रवृत्ति के प्रति कवि विद्रोह की भावना प्रकट करता हुआ, उनसे चुनौती भरे स्वर में कहता है--

सुरंगे उड़ रही साम्राज्य शाहों ने बिछायी जो,
धसकती जा रहीं दीवार डालर ने उठायी जो।
मिटेगा नस्ल का सिद्धान्त भी प्रत्येक कोने से,
टिकेगा अब नहीं उद्जन–बमों की फस्ल बोने से।[3]

साथ ही वह विश्व के सम्पूर्ण दलितों, पीड़ितो एवं शोषित वर्गो को इन शक्तियों एवं व्यवस्थाओं के खिलाफ संघर्ष हेतु खड़े होने की प्रेरणा भी प्रदान करता है क्योकि छायावादोत्तर युग के कवि को पूर्ण विश्वास है कि –

सत्ता नहीं चल सकी बहुत देर,
मृत्यु के उपासक अन्याय अविवेक की,
विजय हुयी है सदा न्याय की,
असुरों पर देवो की,
दिति पर अदिति की,
अंधकार दैत्यों पर,

---

[1] शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'मै बढ़ा ही जा रहा हूँ', विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ 5–6
[2] शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'आज देश की मिट्टी बोल रही हैं', विश्वास बढता ही गया, पृष्ठ 42–43
[3] महेन्द्र भटनागर – 'पटाक्षेप', जिजीविषा, पृष्ठ 44

तेजस आदित्य की,
राक्षस पर रूद्र की,
व्रत्त पर इन्द्र की,
रावण पर राम की,
बर्बरता–कंस पर,
संस्कृति के श्याम की;
और आज जब ये शक्ति–बल पर,
आधारित समाज–तंत्र,
राज्यों की पद्धतियाँ,
सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक नियंता बन बैठी हैं –

* *

तब भी यह निश्चित है
सामाजिक प्रेंतो पर,
घ्रणा, युद्ध, संशय, अश्रद्धा के दैत्यों पर,
मानव – व्यक्तित्व की
अन्तिम विजय होगी ।[1]

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत हम स्पष्ट कर चुके हैं कि समाजवादी तथा मार्क्सवादी विचारधारा ने सम्पूर्ण विश्व को अपनी वैज्ञानिक पद्धतियों एवं तर्कों से प्रभावित किया है । मार्क्सवादी समाजवादी विचारधारा एवं समाज व्यवस्था के प्रति छायावादोत्तर युग की जनता विशेष उन्मुख रही है । छायावादोत्तर युग का कवि जहाँ पूँजीवाद – साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था की खिलाफत करता है, जीर्ण–शीर्ण पुरातन मान्यताओं एवं रूढ़ नैतिकताओं के प्रति विद्रोह की भावना प्रकट करता है, वहीं पर नये साम्राजवादी ढाँचे पर आधारित नव–समाज के निर्माण की आकांक्षा भी करता है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग के कवियों का प्रधान लक्ष्य रहा है– समाजिक विषमताओं का अंत कर उसके स्थान पर ऐसे समाजवादी शासन–व्यवस्था की स्थापना, जिसमें सभी प्राणी समान हों ,उनके सुख–दुःख समान हों तथा आर्थिक वितरण में भी समानता का भाव हो । और इस नयी सामाजिक विचारधारा के आधार पर नये समाज के निर्माण के लिए छायावादोत्तर युग के कवि सामान्य जनता को सृजन का संदेश देते दिखाई देते हैं ।

कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' में प्राचीनता पर आधारित समाज–व्यवस्था के स्थान पर नवीन समाज के निर्माण की तड़प इतनी अधिक है कि वे सूर्य, चन्द्र, आकाश सबको नये रूपों में

[1] गिरिजा कुमार माथुर – 'पृथ्वीकल्प', तारसप्तक , पृष्ठ 213–14

देखने की कामना करता है तथा नये समाज के निर्माण के प्रति अपनी अदम्य लालसा प्रकट करते हुए कहते हैं –

करो सृजन अभिनव जगती का
नव–नव सामाजिक संहति का;
मानव हो विमुक्त, ऐसा हो
शुद्ध प्रयोग तुम्हारी मति का,[1]

* *

हम घर से निकलें हैं गढने
नव चन्द्र ,सूर्य,नव–नव अम्बर,
नव बसुन्धरा, नव जन –समाज,
नव राज–काज ,नव काल, प्रहर!
दिक्काल नये, दिक्पाल नये,
सब ग्वाल नये, सब बाल नये,
हम सिर जेंगे बृजभूमि नयी,
गोपियाँ नयी , गोपाल नये!![2]

छायावादोत्तर कवियों ने केवल साम्राज्यवादी पूँजीवादी व्यवस्था की ही खिलाफत नहीं की है अपितु भारतीय समाज और संस्कृति की रूढ़ एवं पुरातन नैतिकताओं एवं मान्यताओं की भी घोर आलोचना की है तथा एक ऐसे समाज के सृजन की आकांक्षा व्यक्त की है, ऐसे नये विश्व–मानव की संस्कृति के प्रति अपनी लालसा प्रकट की है, जिसमें मानवता पुरातन रूढ़ियों एवं परम्पराओं से आबद्ध न हो और वर्ग विषमता के चलते समाज विभिन्न श्रेणियों में विभक्त न हो, साथ ही जनता किसी भी रूप में शोषण का शिकार न हो । निम्न पंक्तियों में कुछ इसी तरह का भाव मिलता है –

रूढ़ि –रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणि –वर्ग में मानव नहीं विभाजित!
धन–बल से हो जहाँ न जन–श्रम शोषण,
पूरित भव–जीवन के निखिल प्रयोजन!

* *

संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,

---

[1] – बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' – 'आज क्रांति का शंख बज रहा', हम विषपायी जनम के, पृष्ठ 478
[2] बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' – 'विद्रोही ', हम विषमायी जनम के , पृष्ठ 485–86

सुन्दर हो जन–वास, वसन, सुन्दर तन!
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नव मानव–संस्कृति–किरणों से ज्योतित![1]

'युगवाणी' में पंत ने अन्यत्र भी मानवता के लिए एक अनुपम एवं कल्याणकारी शासन एवं समाज–व्यवस्था की स्थापना हेतु अपनी वाणी मुखरित की है तथा कहा है कि –

क्यों न एक हो मानव मानव सभी परस्पर
मानवता निर्माण करे जग में लोकोत्तर ?
जीवन का प्रासाद उठे भू पर गौरवमय
मानव का साम्राज्य बने, मानव, हित निश्चय![2]

वस्तुतः पंत ने मार्क्सवादी एवं गांधीवादी विचारधाराओं की भावभूमि पर प्रतिष्ठित एक ऐसे वर्ग हीन समाज के स्थापना की बात की है जिसमें समाजवादी व्यवस्था को प्रमुखता प्राप्त हो।[3] वे वर्ग–हीन सामाजिक जीवन तथा समाजवादी शासन–व्यवस्था के प्रति पूर्णतया आशान्वित हैं –

ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज,
विद्युत और वाष्प करेगें जन–निर्माण काज
सामूहिक मंगल हो समानः समदृष्टि राम![4]

पुरातन रूढ़ियों, संस्कारों एवं रूढ़ नैतिकताओं के ध्वंस पर ही आज का कवि नये निर्माण की आकांक्षा करता है तथा उसी पर नये मानव–समाज के भव्य प्रासाद को खड़ा करना चाहता हैं –

खोलो जीर्ण विश्वासों ,संस्कारों के शीर्ण वसन,
रूढ़ियों, रीतियों, आचारों के अवगुण्ठन
छिन्न करो पुराचीन संस्कृतियों के जड़ बन्धन,
जाति, वर्ण, श्रेणि, वर्ग से विमुक्त जन नूतन।
विश्व–सभ्यता का शिलान्यास करें भव–शोभन;
देश, राष्ट्र, मुक्त धरिण पुण्यतीर्थ हो पावन![5]

---

1 – सुमित्रानन्दन पंत – 'नवसंस्कृति ', युगवाणी , पृष्ठ 6
2 – सुमित्रानन्दन पंत – 'दो लड़के' , युगवाणी , पृष्ठ 16
3 – सुमित्रानन्दन पंत 'मार्क्स के प्रति', युगवाणी,, पृष्ठ 26
4 - सुमित्रानन्दन पंत – 'भारत ग्राम', ग्राम्या, पृष्ठ 92
5 - सुमित्रानन्दन पंत – 'उदबोधन', ग्राम्या, पृष्ठ 99

आज के कवि को पूर्ण विश्वास है कि प्राचीन मान्यताएं एवं विश्वास जर्जर हैं, रूढ़िग्रस्त हैं, असमाजिक तथा पथ की बाधा हैं । अतः नवीन समाज एवं संस्कृति के निर्माण हेतु उन्हे तोड़ना आवश्यक हैं ; क्योकि जब तक रूढ़ नैतिकताओं की कड़ियाँ टूटेगीं नहीं, प्राचीन विश्वासों के महल धराशायी नहीं होगे, आक्रामक शक्तियों का विनाश नही होगा, तब तक न तो सर्वसुलभ मानव–समाज की कल्पना की जा सकती हैं और न ही मानव–व्यक्तित्व के महत्व को ही स्थापित किया जा सकता है । इसीलिए परिवर्तन का आकांक्षी कवि नूतन समाज के निर्माण के लिए आहवान करता कहता हैं –

कर नूतन का निर्माण, दिखा कुछ
तू अपने पौरूष का करतब
पराधीनता विविध तोड़कर दिखा
नयी गति का उपक्रम अब
बहुत पुरातन की छायायें
मानवता ने दुःख पाया है
बरगद की छाया के भीतर
नहीं अन्य तरू बढ़ पाया है –[1]

नव निर्माण का सन्देश देते हुए कवि त्रिलोचन ने जीवन समाज एवं व्यक्तिमन के नवनिर्माण के लिए युग की जनता का आहवान करते हुए लिखा है –

अब कुछ ऐसी हवाचली है
जिससे सुप्त जगत जागा है
जिससे कंपित जीर्ण जगत में
आज मरण का वर मांगा है।

उनको बहुत जल्द दफनाओ,
नव – युग के जन आगे आओ
नव–निर्माण करो तुम जग का,
जीवन का, समाज का, मन का,[2]

कवि त्रिलोचन एक ऐसे नये समाज एवं संस्कृति के निर्माण की आवश्यकता पर बल देते है, जिसमें सभी की प्रगति हो। गरीब हो या अमीर, नारी हो या पुरूष अथवा उच्च हो नीच सभी समान हो तथा सभी की उन्नति भी समान रूप से ही हो।[3]

---

[1] – त्रिलोचन शास्त्री – 'बरगद की छाया के भीतर', धरती, पृष्ठ 27
[2] – त्रिलोचन शास्त्री – 'सोच समझ कर चलना होगा', धरती,, पृष्ठ 14
[3] – त्रिलोचन शास्त्री – 'तुम बढ़ो विजय के पथ पर', धरती,, पृष्ठ 16–17

यह अवश्य सत्य है कि साम्राज्यवादी, पूँजीवादी एवं सामंतवादी व्यवस्था के चलते समाज एंव जीवन इतना अधिक शोषित हो चुका है कि उसकी मात्र ठठरियाँ ही बची रह गई हैं, लेकिन छायावादोत्तर युग का कवि उससे निराश नहीं है अपितु उसी के बल पर नूतन–निर्माण की आकांक्षा एवं विश्वास रखता हैं, क्योंकि उसे विश्वास है कि इन्ही ठठरियों में एक दिन वह जान आयेगी, जो सभी असमाजिक तत्वों को धराशायी कर, एक ऐसे नूतन समाज को निर्मित करेगा जिसमें चारो ओर स्वतंन्त्रता एवं खुशहाली मँडरायेगी।[1]

डा0 शिवमंगल सिंह 'सुमन' निराशा, पीड़ा अवसाद से भरे हुए तथा अभाव ग्रस्त मानव–जीवन के प्रति निराशा नहीं है, क्योंकि उनको पूर्ण विश्वास है कि आज समाज से मनुष्यता समाप्त हो गयी है, आसुरी प्रवृत्ति चारो ओर अपना घटाटोप अंधकार लेकर छायी हुयी है, फिर भी मनुष्यता के बीज कहीं न कहीं अभी भी वर्तमान है, और एक दिन आयेगा जब ये बीज अंकुरित होगे तथा सम्पूर्ण विश्व में मनुष्यता का वटवृक्ष हरा भरा होकर लहरायेगा।[2] वस्तुतः कवि नये समाज सृजन के प्रति आशान्वित है। इसीलिए वह पूरे विश्वास एवं आस्था के साथ कहता है कि वह दिन दूर नहीं जब हमारी भी धरती पर सुख, समता एवं स्नेह के दीपक मँडरायेगें –

कभी हमारी भी धरती पर
सुख–समता के फूल खिलेंगे
गली–गली जगमगा उठेगी
स्नेह भरे दीपक छलकेंगे
नयनों की पुतली में झलकेगी प्रकाश की लाली।
फिर भी आ गयी दिवाली ।[3]

'जिजीविषा' का कवि भी कहता है कि हे मेरी लेखनी तुम मनुष्य की सूखी शिराओं में नये रक्त का संचार करने के लिए, जन–जन के कण्ठ में नयी राग भरने के लिए तथा नये समाज के निर्माण के लिए तुम समय – पट पर चलो तथा नवीन समाज के सृजन में सहायक बनों –

लेखनी मेरी ।
समय पट पर चलो ऐसी कि जिससे
त्रस्त जर्जर विश्व का
फिर से नया निर्माण हो !
क्षत, अस्थि–पंजर, पस्त–हिम्मत
मनुज की सूखी शिराओं में

---

1 – राम विलास शर्मा – 'हड्डियों का ताप', तारसप्तक, पृष्ठ 250
2 – शिवमंगल सिंह 'सुमन'– विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ 9–10
3 – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'विश्वास बढ़ता ही गया', पृष्ठ 9–10

रूधिर–उत्साह का संचार हो !

*   *

ओ लेखनी मेरी चलो,
जिससे कि दकियानूस–दुनिया के
सभी दृढ़ लौह बंधन टूट जायें,
और संस्कृति–सभ्यता की मूर्तियाँ सब
आततायी के विषैले क्रूर चंगुल से
सदा को छूट जायें!
ध्वंस पर
अभिनव–सृजन–आहवान दो,
हर आदमी के कण्ठ में
श्रम का सबल मधुगान दो![1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने जहाँ एक ओर साम्राज्यवादी पूँजीवादी –सामंतवादी समाज व्यवस्था और समाज की पुरातन रूढ़ नैतिकताओं एवं मान्यताओं के खिलाफ अपनी ओजस्वी एवं प्रखर वाणी मुखरित की है तथा उनके ध्वंस की आकांक्षा व्यक्त की हैं वहीं दूसरी ओर इन व्यवस्थाओं के विनाश के पश्चात् नये समाज के निर्माण की भी अपनी इच्छा जाहिर की हैं । शोषक एवं आतंकवादी शक्तियों के ध्वंस तथा उसके ऊपर नये समाज–सृजन की आकांक्षा से छायावादोत्तर युग का काव्य भरा पड़ा है ।

स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग का कवि प्राचीन परम्परा एवं संस्कृति के प्रति उन्मुख होकर उसी के बीच से वर्तमान समस्याओं के समाधान का स्रोत खोजता है ,मानव–महत्ता की स्थापना करता है शोषितों का पक्ष लेता है तथा नये समाज के निर्माण का प्रयास करता है। कहा जा सकता है कि छायावादोत्तर युग का कवि समस्त रूढ़ियों, जड़ परम्पराओं एवं स्तब्ध मानसिकता से मुक्त कर सब–कुछ मानवता के मानदण्ड से देखता और परखता हैं ।

****

[1] – महेन्द्र भटनागर – 'लेखनी से' , जिजीविषा, पृष्ठ 35–36

अध्याय - ४

छायावादोत्तर हिन्दी काव्य : बदलते स्वरूप

काव्य के अन्तर्गत मानदण्ड का काफी गहरा संबध है । वस्तुतः मानदण्ड के ही अनुरूप काव्य का भी होना आवश्यक होता है ,यदि ऐसा नहीं हुआ तो काव्य की प्रभावोत्पादकता एवं अभिव्यक्ति – क्षमता बाधित होगी तथा वह भावों को सही रूप में प्रस्तुत करने में अक्षम होगी । छायावादोत्तर युग के मानव की संवेदनाये अत्यंत संश्लिष्ट हो गयी है । उनमें युगीन संदर्भो का परिवर्तन स्पष्टतया लक्षित होता है। इस प्रकार व्यक्ति की परिवर्तित संवेदनाओं तथा युग–संदर्भो की अभिव्यक्ति के लिए नये काव्य–माध्यमों एवं अभिव्यक्ति की प्रणालियों की खोज तथा प्रतिष्ठा आवश्यक हो जाती है; क्योंकि अभिव्यक्ति की परम्परागत प्रणालियाँ नये युग की जटिल, विषम एवं गहरी भावानुभूतियों एवं समस्याओं को वाणी प्रदान करने में समर्थ नही हो सकती । छायावादोत्तर युग का कवि अपना सम्बन्ध जीवन एवं समाज से जोड़ता है। उसके बीच से नवीन अनुभूतियों एवं संवेदनाओं को ग्रहण करता है तथा उसे काव्य के माध्यम से प्रकट करना चाहता है और इन नवीन अनुभूतियों एवं संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उसे नये काव्य–माध्यमों की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः "जब कवि जीवन का आस्वादन करता है तो उसे ऐसे कितने ही स्पंदन–संवेदन मिल जाते है जिनके लिए उसे एक नयी अभिव्यंजना की खोज करनी पड़ती है, नया काव्य–रूप ढूँढना पड़ता हैं।"[1]

कहने कि आवश्कता नहीं कि सदियों की पुरानी ढहती मान्यताओं तथा नवीन युग–संदर्भो के बीच छायावादोत्तर युग के कवियों ने एक ओर जहाँ विषय के धरातल पर नवीनता एवं व्यापकता प्रदर्शित करते हुए मानव–जीवन एवं समाज की यथार्थ अनुभूतियों समस्याओं, विषमताओं नवीन मूल्यों आदि को वाणी प्रदान की है, मानव की महत्ता के साथ–ही–साथ समाज को विशिष्ट स्थान प्रदान किया है, नारी के प्रति व्यापक नवीन दृष्टि प्रदर्शित की है, शोषितों के प्रति सहानुभूति तथा शोषकों के प्रति खुला विद्रोह प्रकट किया है, धर्म–ईश्वर एवं जाति प्रथा जैसी भावनाओं के प्रति विद्रोह का रूख अख्तियार किया है, वैज्ञानिक दृष्टिकोण को काव्य के अन्तर्गत स्थान दिया है, वही दूसरी ओर उसने अभिव्यक्ति के परम्परागत उपादनों एवं प्रणालियों को असमर्थ एवं रूढ़ मानते हुए काव्य भाषा का नवीन संस्कार किया है ,उसे नवीन भावबोधो की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया है ,नये छंदो की सर्जना की है, संश्लिष्ट बिम्बों एवं युगानुरूप नवीन एवं वैज्ञानिक प्रतीकों की योजना पर बल दिया है। कहने का तात्पर्य यह कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने मानदण्ड के साथ–ही–साथ काव्यगत स्वरूप के क्षेत्र में भी पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित किया है । जिसके कारण

---

[1] – धर्मवीर भारती – वक्तव्य, दूसरा सप्तक, पृष्ठ 166

छायावादोत्तर युग की कविता अपनी पूर्ववर्ती धाराओं से भिन्न धरातल पर खड़ी दिखायी देती है । इन सबका विस्तृत विश्लेषण आगे प्रस्तुत है।

1 – वस्तुगत बदलता स्वरूप

छायावादोत्तर युग की कविता के स्वरूप में काफी उल्लेखनीय बदलाव देखने को मिलता है और इस वस्तुगत स्वरूप के बदलाव में समसामयिक राष्ट्रीय – अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, परिस्थितियों एवं विचारधाराओं ने अपनी सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । वस्तुतः द्वितीय विश्व महायुद्ध, सन् 1942 की महानक्रांति, आजाद हिन्द फौज की स्थापना, नौ–सेना का विद्रोह, पाक्स्तान की मांग तथा उसके परिणाम स्वरूप भयंकर नरमेध, भारत–विभाजन तथा स्वराज्य प्राप्ति, शरणार्थियों की समस्या, गांधी जी की हत्या, आजाद भारत की समस्यायें तथा राजनेताओं की स्वार्थपरता, किसान मजदूर एंव नारी वर्ग की दयनीय स्थिति, वर्ग–विषमता तथा साम्प्रदायिकता की स्थिति, तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावनाएं, पंचशील का उदय, आदि ऐसी परिस्थितियाँ एवं घटनाएं थी जो छायावादोत्तर युग के कवियों के मानस को लगातार कुरेद रही थीं तथा उन्हें व्यापक सामाजिक–राजनैतिक क्रांति की ओर कदम बढाने का आमंत्रण दे रही थीं। स्पष्टतः मार्क्सवादी, समाजवादी एवं गांधीवादी जीवनदर्शन के प्रचार –प्रसार ने युगीन कवियों को सर्वाधिक प्रेरणा प्रदान की। फलतः युग की परिस्थितियों को देखते हुए कवियों को भी नयी राह पर चलना पड़ा। तृतीय अध्याय के अन्तर्गत हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि इन्हीं युग परिस्थितियों एवं घटनाओं ने छायावादोत्तर युग के कवियों को अपने काव्य सृजन के मानदण्ड़ो को परिवर्तित करने की प्रेरणा प्रदान की और जिसके प्रेरणा स्वरूप कवि–वर्ग युग के लिए आवश्यक एवं प्रगतिशील मानदण्डों को स्वीकृति प्रदान कर उसके आधार पर काव्य–सृजन में प्रवृत्त हुआ ।

अध्यात्म, दर्शन, प्रकृति, नारी एवं रहस्य की ही कविताओं में विशेष रूचि दिखाने वाले छायावादी कवियों का कल्पना, वैयक्तिकता, वेदना, प्रणय, प्रेम, एवं सौन्दर्य के सीमित विषयवस्तु को छोड़कर यथार्थ के प्रांगण में कदम रखना तथा किसान, मजदूर, श्रमिक, अछूत, शोषित नारी , देश एवं राष्ट्र की राजनीतिक–सामाजिक समस्याओं रूढ़ नैतिकताओं एवं परम्पराओं, ब्रिटिश शासन के अत्याचारों तथा उसके खिलाफ संघर्ष करने वाली जनता आदि जैसे व्यापक विषयों को काव्य में स्थान देने के पीछे काव्य–सृजन के प्रति उनका बदला हुआ दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है । वस्तुतः छायावाद के जागरूक कवियों ने इन व्यापक विषयों को काव्य वस्तु के रूप में स्वीकार कर एक ओर अपनी सामाजिक जागरूकता का परिचय दिया तो दूसरी ओर वस्तुगत स्वरूप के परिवर्तन तथा उसकी व्यापकता का भी संकेत दिया। सुमित्रानन्दन पंत ने तो 'युगान्त' में ही वस्तुगत स्वरूप

के परिवर्तन की झलक प्रदर्शित कर दी थी , जिसका व्यापक रूप 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' की कविताओं में उभरकर सामने आया ।

तृतीय अध्याय के अर्न्तगत हम यह स्पष्ट कर चुके है कि छायावादोत्तर युग के प्रायः सभी कवियों का मूल उद्देश्य एक ही था साम्राज्यवादी – पूँजीवादी शासन एंव उसकी समाज व्यवस्था की खिलाफत, उसके विनाश की आकांक्षा तथा समाजवादी ढांचे पर नये समाज के निर्माण की कल्पना को साकार रूप प्रदान करना। कवियों ने अपनी इन अदम्य, आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु जनता में जाग्रति उत्पन्न की उन्हे शोषक समाज के खिलाफ संघर्ष के लिए खड़े होने की प्रेरणा प्रदान की और उसके समक्ष स्वतंन्त्रता एवं समानता पर आधारित समाजवादी शासन तथा उसकी समाज व्यवस्था के चित्र प्रस्तुत कर उसके प्रति जनता में ललक पैदा की। छायावादोत्तर युग के पूर्व कल्पना, प्रणय, प्रेम, सौन्दर्य एवं वेदना आदि ही कविता के मुख्य विषय थे; लेकिन परिस्थितियाँ करवटे लीं; नयी चेतना ने अपना प्रभाव दिखाया। फलतः कविता के विषय में भी नवीनता देखने को मिली। वस्तुतः समष्टि–स्तर पर जो कुछ देश में घटित हो रहा था ,उससे वह अपना मुंह मोड़ नहीं सकता था। इसीलिए छायावादोत्तर युग के कवियों ने समष्टि को – समाज के छोटे से लेकर बड़े सभी विषयों को – अपने काव्यवस्तु के रूप में अपनाया। इस प्रकार उसने समाज का महत्व प्रदान किया लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि छायावादोत्तर युग की कविता में व्यष्टि का कोई महत्व नहीं है। हम देख चुके है कि छायावादोत्तर युग की कविताओं में वैयक्तिकता की भी बहुलता है जिसमें व्यक्तिगत प्रेम, प्रणय, रोमांस, निराशा, घुटन, कुण्ठा, पराजय एंव पलायन आदि की विवृति हुयी है; लेकिन कुछ व्यक्तिवादी कवियों को छोड़ दिया जाय तो अन्य अधिकांश कवियों में सामाजिक चेतना विशेष क्रियाशील रही है और उनकी कविताओं में विषय–चयन की व्यापकता भी दिखाई पडती हैं।

यद्यपि छायावादोत्तर युग की कविता में पूर्ववर्ती काव्य–विषयों प्रणय, प्रेम, रोमांस, वेदना, निराशा, पलायन आदि नितांत वैयक्ति विषयों– को भी काव्य वस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है (उत्तर छायावादी व्यक्तिपरक काव्यधारा के कवियों– बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा तथा धर्मवीर भारती, अज्ञेय एवं गिरिजा कुमार माथुर सरीखे प्रयोगवादी कवियों की कुछ छायावादोत्तर युग की कविता में सर्वाधिक प्रमुख स्थान नहीं प्राप्त कर पाया है। जिन विषयों को छायावादोत्तर युग की कविता में सर्वाधिक प्रमुख स्थान मिला है उनका उल्लेख आगे की पंक्तियों में किया जा रहा है ।

किसान एंव श्रमिक वर्ग हमारे देश का बहुत बड़ा वर्ग था और आज भी है । यह विशाल वर्ग छायावादोत्तर युग में सर्वाधिक शोषण का शिकार हुआ है तथा उसकी स्थिति नितांत दयनीय रही है। समाज का यह वर्ग निर्बल भी रहा था। यद्यपि इसमें अपरिमित शक्ति थी लेकिन एकता के अभाव एवं अंधविश्वास की भावनाओं ने इस वर्ग को इस कदर जकड़ लिया था कि वह सबल होते

हुए भी निर्बल बन गया था। कवि–समुदाय क्षुब्ध था तो दूसरी ओर वह उसकी शक्तियों से भी परिचित था। अतः छायावादोत्तर युग में किसानों एवं श्रमिको को कवियों ने अपने काव्य–विषय के रूप में स्वीकार कर एक ओर उसकी दयनीय स्थिति का चित्रण किया –

खेत में निरन्न,
दुर्भिक्षावसन्न,
खड़ा अप्रसन्न,
सृजक कृषक, जिसका है,
थाल आज खाली !
मिलों में अश्रांत,
पिस रहे अशांत,
मनुज–यंत्र भ्रांत,
सृजक–श्रमिक, हक जिनके–
सिर्फ है हम्माली !

* *

भूखों की कैसी दीवाली ?[1]

तो दूसरी ओर उनमें एकता की भावना जगाने, उनकी शक्तियों से उन्हे वाकिफ करानें तथा उनमें नयी चेतना जगाने का प्रयास भी किया –

आओ, वीरो चित कर्म करो,
मानव हो कुछ तो शर्म करो,
यों कब तक सहते जाओगे?
इस परवशता के जीवन से
विद्रोह करो, विद्रोह करो ।[2]

छायावादोत्तर युग की परिस्थितियाँ दो प्रकार की रही हैं; एक तो वह परिस्थिति जब देश परतंत्र था और देश की जनता के समक्ष एक ही प्रमुख समस्या थी – परतंत्रता से मुक्ति की तथा दूसरी परिस्थिति वह रही है, जब भारत आजाद हुआ और उसके बाद देश की समस्यायें तथा राजनेताओ की नैतिकता का ह्यस जनता को देखने को मिला। अतः स्वतन्त्रता के पूर्व तथा स्वतन्त्रता के प्श्चात् के कवियों की वाणी में भी थोडा बहुत परिवर्तन लक्षित होना स्वाभाविक हैं । आजादी से पूर्व साम्राज्यवादियों एवं पूँजीवादियों का देश पर वर्चस्व था और ये चारो तरफ से देश

---

[1] – प्रभाकर माचवे – 'भूख और दीवाली', अनुक्षण, पृष्ठ 56
[2] – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'विद्रोह करो, विद्रोह करो', जीवन के गान, पृष्ठ 91

का शोषण कर रहे थे। छायावादोत्तर युग का कवि इन परिस्थितियों तथा साम्राज्यवादी–पूँजीवादी शक्तियों के शोषण से परिचित था तथा वह जानता था कि बिना इसे मिटाये किसी स्वस्थ समाज की अथवा स्वतंन्त्रता की कल्पना नहीं की जा सकती –

बिना पूँजीवाद को मिटाये किसी तरह भी
यह जीवन स्वस्थ नहीं हो सकता
ज्ञान–विज्ञान से किसी प्रकार
कोई कल्याण नहीं हो सकता ?[1]

कहना न होगा कि कवियो ने साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, सामन्तवादी एंव पूँजीवादी शक्तियों को अपने काव्य के केन्द्र में रखा तथा उनकी खिलाफत करना अपना प्रमुख उद्देश्य बनाया , क्योंकि उसे यह पूर्ण विश्वास था कि इन्हें उखाड़ फेंकने के बाद देश में खुशहाली छा जायेगी तथा समाज की सारी विपन्नताएं एवं असमानताएं अपने आप ध्वस्त हो जायेंगी। रामविलास शर्मा, नागार्जुन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, नरेन्द्र शर्मा, महेन्द्र भटनागर, रांगेय राघव, कुँवर नारायण आदि कवियें को बतौर उदाहरण देखा जा सकता है। कुँवर नारायण ने अपना आक्रोश प्रकट करते हुए लिखा है–

इन मुरदा महलों की मीनारें हिल जायें,
इन रोगी ख्यालों की सीमाये घुल जाये,
अन्दर से बाहर आ सदियों की कुण्ठायें,
बहुत बड़े जीवन की हलचल में मिल जायें।[2]

आजादी प्राप्ति के बाद देश की बागडोर देश के राजनेताओं के हाथ लगी। कवि सन्तुष्ट हुआ। उसमें आशा जगी कि अब खुशहाली घर–घर मँडरायेगी लेकिन थोड़े ही दिनो में उसकी आशाओं पर पानी फिर गया तथा उसकी सारी कल्पनाएं एवं ऊँची आकांक्षाएं ध्वस्त हो गयीं। फलतः प्राप्त आजादी के प्रति उनका मोहभंग हुआ तथा राजनेताओं की कारगुजारियों के प्रति क्षोभ की भावना उत्पन्न हुई। आजाद भारत में भी कवि को पूँजीवादी तत्व विद्यमान दिखलाई दिये और उसने उनके खिलाफ भी अपनी बुलंद आवाज उठायी –

खादी ने मलमल से अपनी साँठ–गाँठ कर डाली है।
बिड़ला टाटा डालमिया की तीसो दिन दीवाली है ।
जोर जुल्म की आँधी चलती बोल नहीं कुछ सकते हो।
समझ नहीं पाता हूँ कि हुकूमत गोरी है या काली हैं ।[3]

---

[1] त्रिलोचन – धरती , पृष्ठ 98
[2] कुँवरनारायण – 'खामोशी : हलचल', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 155
[3] – नागार्जुन – हंस , मई , 1949 (प्रगतिवादी काव्य : उमेश चन्द्र मिश्रा , पृष्ठ 56 से उदधृत)

धर्मगत विद्वेष तथा जाति प्रथा जैसी कुरीतियां एक ओर समाज के विकास तथा स्वराज्य की प्राप्ति में बाधक बन रहीं थीं। तो दूसरी ओर वे अनेकानेक अन्य समस्याओं को भी उत्पन्न कर रहीं थीं । पाकिस्तान की मांग, बिहार और बंगाल का साम्प्रदायिक नरमेध तथा भारत का विभाजन आदि घटनाएं और कुछ नहीं अपितु इस काल में उपजी साम्प्रदायिक भावना की परिणति थी । छायावादोत्तर युग के कवियों ने साम्प्रदायिकता की भावना को असामाजिक करार देते हुए उसके समाप्ति के प्रयास किये तथा शूद्रों, हरिजनों एवं दलित वर्गो के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हुए पारस्परिक एकता को उत्पन्न करने का सफल प्रयास किया। सहयोग एंव समता की प्रतिष्ठा तथा घ्रणा तथा उपेक्षा से उन्हें विरत रखने के लिए उच्च वर्गो का आहवान किया। उसको पूर्ण विश्वास है कि सम्पूर्ण संसार में वर्ग और सम्प्रदाय का भविष्य स्वतन्त्रता, समानता, तथा एकता की दृढ़ नीव पर ही खड़ा होगा ।

खुल जायेंगी अब जाति–पाँति और वर्ग सम्पदा की कड़ियाँ।
सब देश – विदेश एक होंगे, पूरब–पश्चिम, उत्तर–दक्खिन।[1]

भारतीय जनता युगो–युगों से भाग्यवादी एवं ईश्वरवादी रही है । ईश्वर को काव्य में हमेशा–हमेशा से स्थान मिलता रहा है लेकिन आधुनिक युग में वैज्ञानिक चेतना के प्रभावस्वरूप धर्म के ही समान ईश्वर पर से भी लोगों की आस्था डिग गयी। छायावादोत्तर युग की कविता में ईश्वर को 'टूटा सपना 'आत्म–प्रवंचक' तथा 'स्वयं लीलयमान' के रूप में चित्रित किया गया है । कहने का तात्पर्य यह कि आज का कवि ईश्वर का विरोधी है क्योंकि ईश्वर मानव की महत्ता को समाप्त कर देता है जबकि आज का कवि मानव की शक्ति तथा उसकी महत्ता के प्रति पूरी तरह से आश्वस्त है । अतः ईश्वर एवं मानव दोनों काव्यवस्तु के रूप में स्वीकृत हुए हैं लेकिन उसकी प्रतिष्ठा पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से भिन्न स्तर पर हुयी है । आज के कवि के लिए ईश्वर सर्वशक्तिमान नही है। अपितु मानव ही अजश्र शक्तियों का स्रोत है, ईश्वर तो एक कल्पना मात्र है। इसीलिए तो वह कहता है कि –

युगों से देखता हूँ
स्वयं लीलयमान वह भगवान–
हटा पाया है नहीं शैतान
मेरी इस धरणि से,[2]

नारी हमेशा–हमेशा से काव्य का विषय बनती आयी हैं लेकिन उसके प्रति 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो ' का भाव आधुनिक युग की कविता में ही सर्वप्रथम देखने को मिला। छायावादी कवियों ने

---

[1] – नरेन्द्र शर्मा – 'जागरण नयन जावा', हंसमाला , पृष्ठ 46
[2] – सुलोचना रांगेय राघव (संपा.) ' आततायी', रांगेय राघव ग्रंथावली , खण्ड–9 पृष्ठ 44–45

उसे प्रेयसी, माता, बहन आदि के रूप में ही नहीं देखता, अपितु वह उसे पुरूष की सहायिका तथा राष्ट्रोद्धारिका के रूप में भी देखता है वह उसे शक्ति एवं प्रेरणा के आगार के रूप मे देखता है। वह उसे 'बीती प्रियतमा' की याद नहीं अपितु एक 'नूतन देश का संवाद' सुनने की आकांक्षा करता है।[1] इसीलिए तो वह उसे 'चोली चीर' उतार कर मर्दो के साथ–साथ संघर्ष के लिए आमन्त्रित करता है।[2] साथ ही वह उसे नयी नींव पर नया समाज बनाने के लिए भी आमन्त्रित करता है –

कर पदाघात अब मिथ्या के मस्तक पर
सत्यान्वेषण के पथ पर निकलो, नारी !
तुम बहुत दिनो तक बनी दीप कुटिया की,
अब बनों क्रान्ति की ज्वाला की चिनगारी !
जड़ता, आडम्बर, शोषण का भीषण वन
वह ज्वाला सुलगा, उससे शीघ्र जलाओ !
साकार मूर्ति तुम सृजन – साधना की भी,
फिर नयी नीव पर नया समाज बनाओं ।[3]

मध्यवर्ग की स्थिति छायावादोत्तर युग में काफी विडम्बना पूर्ण रही है। ढुलमुल नीति, उच्चवर्ग के समकक्ष पहुँचने की चाहत, परम्परागत संस्कारो के पालन तथा उससे चिपके रहने की प्रवृत्ति आदि के चलते इस वर्ग की स्थिति कभी एक जैसी नहीं रही अपितु धीरे–धीरे यह निम्नवर्ग की ओर चलता गया। छायावादोत्तर युग का कवि भी इसी मध्यवर्गीय समाज के बीच रहता था । अतः वह समाज के इस वर्ग से बखूबी परिचित था। इसीलिए मध्यवर्ग छायावादोत्तर युग की कविता का एक प्रमुख विषय रहा है। छायावादोत्तर युग के कवियों ने एक ओर मध्यवर्ग की दयनीय स्थिति के प्रति अपनी क्षोभ–भावना प्रकट की है। उनकी स्थिति के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है, उनकी दयनीय एवं विषम परिस्थितियों की यथार्थ रेखायें खींची हैं –

घुन खाए शहतीरों पर की बारहखड़ी विधाता बांचे
फटी भीत है छत चूती है, आले पर विस्तुईया नाचे
बरसा कर बेबस बच्चो पर मिनिट मिनिट में पांच तमाचे।
इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे।[4]

तो दूसरी ओर उनकी ढुलमुल प्रवृत्ति की, उच्चवर्गीय समाज के समकक्ष पहुचने की चाहत की आलोचना भी की है । नयी कविता के कवियों ने तो मध्यवर्ग को काव्य में सर्वाधिक प्रमुख स्थान

1 - रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'– नारी , आधुनिक कवि (2) पृष्ठ 20
2 - केदारनाथ अग्रवाल – हंस , जून , 1942
3 – जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'– 'नवयुग और नारी', भूमि की अनुभूति', पृष्ठ 26
4 – नागार्जुन – (हिन्दी की प्रगतिशील कविता : डा0 रणजीत, पृष्ठ 176 से उदधृत)

दिया है। वस्तुत : मध्यवर्ग को काव्य में स्थान मिलना काव्य वस्तु के चयन में बहुत बड़े परिवर्तन का सूचक है। और यह छायावादोत्तर युग के काव्य वस्तु की व्यापकता एवं नवीनता भी है ।

युद्ध को भी छायावादोत्तर युग में काव्य–विषय के रूप में स्थान मिलता है । वस्तुत : यह आधुनिक युग की एक सबसे बड़ी समस्या भी रही है । आज के कवियों ने युद्ध का विरोध किया है; क्योंकि उसका विश्वास है कि –

युद्ध
राजावर्ग के
सामंत, पूँजी वादियों के
स्वार्थ की अठखेलियों का
एक निष्ठुर रूप ![1]

धर्मवीर भारती ने अपने 'अंधायुग' के माध्यम से युद्ध की इसी समस्या तथा उससे उत्पन्न परिस्थितियो को उजागर किया है। वस्तुत : भारती के इस ग्रन्थ के केन्द्र में और कुछ नहीं अपितु युद्ध की समस्या रही है । धर्मवीर भारती के अलावा छायावादोत्तर युग के अन्य कवियों ने भी युद्ध को केन्द्र में रखकर कवितायें की है तथा युद्ध की समस्या, उसकी भीषणता एवं उसकी निस्सारता को व्यंजित किया है। अज्ञेय की 'हिरोशिमा' कविता भी युद्ध की भीषणता तथा उसकी निस्सारता को प्रकट करती है।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एकता का आहवान छायावादोत्तर कवियों का प्रमुख उद्देश्य रहा है क्योंकि एकता में अभाव में एक बहुत बड़े शक्तिशाली साम्राज्य से टक्कर लेना नामुनकिन था। छायावादोत्तर कवियों की एकता का स्वर परिवार, राष्ट्र, राज्य, जाति अथवा धर्म से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय धरातल को छूता है। आज की कविता में एक ओर विभिन्न धर्मो एवं जातियों में एकता की भावना पर जोर दिया गया है तो दूसरी ओर वह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राष्ट्रो एवं देशो की एकता स्तर पर भी जोर देता है । अन्तर्राष्ट्रीयता के इस भावना के ही चलते कवियों ने विदेशी–पौराणिक कथन को लेकर भी काव्य रचनायें प्रस्तुत की है । भारती की ' प्रमथ्यु गाथा ' (सात गीत वर्ष) इसी प्रकार की एक रचना है। इस प्रकार 'एकता' छायावादोत्तर युग की कविता के मूल में रही है ।

प्रेम भी छायावादोत्तर युग की कविता की विषयवस्तु है लेकिन उसका स्वरूप काफी व्यापक एवं नवीन है। छायावादोत्तर युग की कविता में नारी के प्रति प्रेम तो देखने को मिलता है लेकिन उसकी नवीनता देश–प्रेम, राष्ट्र–प्रेम एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम की स्थापना के रूप में देखी जा सकती है । कवियों को अपने देश और देश की मिट्टी से प्यार है और वह देश या राष्ट्र प्रेम के

[1]- सुलोचना रांगेय राघव – (संपा) ' और लोहा ', रांगेय राघव ग्रन्थावली , खण्ड –9, पृष्ठ 28

समक्ष व्यक्तिगत स्वार्थ, लिप्सा दुःख तकलीफ आदि को भूल जाता है तथा देश और राष्ट्र की समस्याओं को ही वह अपनी समस्यायें मान बैठता है । आज के कवि को मिट्टी से प्यार है इसीलिए वह अंत तक उसके साथ अपना तादात्म्य बनाये रखना चाहता है । इसके अतिरिक्त समसामयिक घटनाओं को भी कवियों ने काव्य वस्तु के रूप में स्वीकार कर रचनायें प्रस्तुत की हैं। जिन समसामयिक घटनाओं पर सर्वाधिक रचनायें हुई है उनमें बंगाल का अकाल, सन् 1942 की महान क्रांति, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हिरोशिमा पर अणुबम का विस्फोट, आजाद हिन्द फौज की स्थापना, पंचवर्षीय योजनाओं की असफलता, विभिन्न राष्ट्रों के बीच शीतयुद्ध की स्थिति आदि विशेष उल्लेखनीय है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग की कविता का विषय क्षेत्र काफी व्यापक रहा है। तथा काव्य के वस्तुगत स्वरूप में पर्याप्त नवीनता दृष्टिगत होती है। वस्तुत : छायावादोत्तर युग में कल्पनात्मक एवं आध्यात्मिक वस्तुओं एवं विषयों के स्थान पर यथार्थ एवं सामाजिक विषयों को काव्यवस्तु के रूप में अपनाया गया है। नवीन से नवीन तथा ऐसे विषयों को आज के काव्य में स्थान मिलता हे जो पहले अछूते थे। यही नहीं अपितु प्राचीन विषयों को भी नवीन रूपो में एवं युग की सापेक्षता में अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है ।

2 – चरित्रगत बदलता स्वरूप –

जिस प्रकार हम छायावादोत्तर काल की कविताओं के वस्तुगत चयन में व्यापकता, नवीनता एवं परिवर्तन देखते है ठीक उसी तरह इस युग की कविता के चरित्रगत स्वरूप में भी हमें परिवर्तन दिखता है । वस्तुतः छायावादोत्तर युग में समाज की परिस्थितियाँ दिन–प्रतिदिन पलटा खाती रही हैं तथा उसी के अनुरूप मानवीय–संवेदनाओं में भी परिवर्तन हुआ है। बदलते युग–संदर्भो के बीच विषय के ही समान पात्रों या चरित्रों के चयन में नवीनता अर्थात परिवर्तन का आना आवश्यक एवं स्वाभाविक भी है।

प्राचीन लोकनायकों एवं महापुरूषों को तो सदा सर्वदा से ही काव्य में स्थान मिलता रहा है। उनकी प्रस्तुति अलौकिक रूपों में की जाती रही है। आधुनिक युग में प्राचीन चरित्रों एवं पात्रों को यथावत रूप में नहीं ग्रहण किया गया है। बल्कि उन्हें युगीन संदर्भो के बीच रखकर सर्वथा नये रूपों में प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक युग की समस्याओं, विडम्बना पूर्ण विषम परिरिथतियों के बीच छायावादोत्तर युग के कवियों की दृष्टि भी प्राचीन महापुरूषों की ओर घूमी है तथा उनके उच्चाति उच्च चरित्रों एवं व्यक्तित्वों को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत कर भटकती एवं निराश होती जनता के समक्ष एक आदर्श रूप प्रस्तुत किया; साथ ही उन्हें नयी शक्ति से समन्वित किया है ।

बुद्ध, कबीर, तुलसी, राम, कृष्ण आदि चरित्रों के माध्यम से कवि ने युवा समाज को साहस एवं दिशा प्रदान की है। यहाँ एक बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा कि ये सभी महापुरूष आज की कविता में न तो अलौकिक रूप में ही चित्रित हैं और न ही ईश्वर के रूप में अपितु सभी मानव हैं तथा आसुरी शक्तियों के प्रति सशक्त संघर्ष करने वाले और समाज को दिशा–निर्देश देने वाले हैं ।

छायावादोत्तर युग के समाज में परिस्थितियाँ ब्रिटिश शासन की बदौलत अत्यन्त बदतर हो गयी थी । जन–जीवन का सांस लेना भी दूभर हो गया था, देश विदेशी शासन की जंजीरो में बुरी तरह से जकड़ चुका था। छायावादोत्तर युग का कवि ब्रिटिश शासन को रावण का दंभ समझता है तभी तो वह राम को सम्बोधित करता हुआ उनसे जगने का आहवान करता है –

पर आज राम को जाग्रत होना होगा,
रावण का दंभ गिराकर बढ़ना होगा।
वैदेही को फिर मुक्ति दिलानी होगी,
सुग्रीव ! प्रतिज्ञा आज निभानी होगी।
जागो राघव! यह सृष्टि काँप जाएगी,
प्रत्यंचा की टंकारो से काँपेगी।
तुम जन–मन रक्षक वीर ! धनुष कर में लो,
मानव – मैत्री की उल्का नभ में चमको।[1]

वस्तुतः इन प्राचीन चरित्रों एवं पात्रो की अवतारणा तथा उनके आहवान के पीछे कवि की दृष्टि वर्तमान समस्याओं के हल की ओर रही है । प्राचीन महापुरूषों तथा ऋषियों–महार्षियों के अलावा कुछ उपेक्षित पात्रों को भी छायावादोत्तर युग में स्थान मिला है तथा उनके माध्यम से देश की समस्याओं तथा युगीन विषम परिस्थितियों के समाधान के संकेत प्रस्तुत किये गये है। 'कर्ण' तथा ' एकलव्य ' जैसे पात्रों का चयन इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया गया है । 'एकलव्य' के माध्यम से समाज में व्याप्त जातिगत वर्ग–विषमता की स्थिति को उजागर कर उसे समाप्त करने की कोशिश की गयी है ।

छायावादोत्तर युग की कविता में चरित्रगत स्वरूप की अवतारणा में जो सर्वाधिक नवीनता दिखलाई देती है जीवन एंव समाज के बीच दलित, शोषित, पीड़ित, सामान्य एवं उपेक्षित पात्रों का चयन। किसान, मजदूर, भिक्षुक, विधवा आदि सभी को पात्र के रूप में प्रयुक्त किया गया है। और ये सभी शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। निराला की 'विधवा', 'भिक्षुक', "वह तोडती पत्थर" आदि कविताओं में समाज के शोषित एवं सदियों से पीड़ित वर्ग को पात्र के रूप में स्थान दिया

[1] सुलोचना रांगेय राघव (संपा) – 'राम का समुद्र शासन', रांगेय राघव ग्रन्थावली , खण्ड –9 पृष्ठ 79

गया है। पंत की कविताओं में तो ग्रामवधू से लेकर बुढढे, लड़के, कवि, कृषक, श्रमिक आदि सभी समहित हो गये है। पंत की 'वह बुढढा' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों को देखिए –

उसका लम्बा डील डौल है,
हट्टी कट्टी काठी चौड़ी,
इस खण्डहर में बिजली सी,
उन्मन्त जवानी होगी दौड़ी !
बैठी छाती की हडडी अब,
झुकी रीढ़ कमठा सी टेढ़ी
पिचका पेट, गढ़े कन्धो पर,
फटी बिवाई से है एड़ी ![1]

वस्तुत : पंत का यह बुडढा कोई एक नहीं है अपितु वह उन तमाम शोषित समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है जो समाज के उच्च वर्गो के द्वारा शोषण कर दयनीय बना दिये हैं। वस्तुतः ये शोषित चरित्र ही छायावादोत्तर युग की कविता में सर्वाधिक प्रमुख स्थान प्राप्त किये है ।

छायावादोत्तर युग के पूर्वाद्ध में भारत पराधीन था। अतः आवश्यकता थी उससे मुक्ति के लिए हर सम्भव प्रयास करने की। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि युगीन कवियों ने जहाँ भारतीय जनमानस में परतंत्रता से मुक्ति एवं नयी प्रेरणा देने के लिए उनके समक्ष अपने अतीत की गौरवशाली परम्परा का तथा भावी नये समाज का स्वस्थ चित्र प्रस्तुत किया, वहीं युगीन लोकनायकों, महापुरूषों तथा स्वतंन्त्रता संग्राम में अपनी बलि देने वाले एंव त्याग प्रदर्शित करने वाले राजनेताओं ने चरित्रो को भी अपनी कविताओं में स्थान दिया है। साथ ही उसके माध्यम से युगीन जनता के समक्ष त्याग एवं बलिदान का आदर्श उपस्थित किया है तथा उनके चरित्रिक गुणों के माध्यम से उनमें नयी चेतना एवं प्रेरणा भरने की कोशिश की है। मार्क्स, गांधी, अरविन्द, रवींन्द्रनाथ टैगोर, सुभाष चन्द्र बोस, भगत सिंह, नेहरू आदि के चरित्रों एवं उनकी भूमिकाओं को कवियों ने बड़ी ही श्रद्धा के साथ प्रकट किया है उनके महत्वपूर्ण योगदान बनने का संदेश दिया है।

वस्तुतः समसामयिक चरित्रों की महत्वपूर्ण उपलब्धियों उनकी विशेषताओं तथा समाज के विकास में उनके योगदानों को प्रकट कर छायावादोत्तर युग के कवि ने भूले–भटके तथा दिशा हीन जनता को नयी दिशा प्रदान करने की कोशिश की है; उनके चारित्रिक गुणों की आवश्यकता पर जोर दिया है। प्रभाकर माचले की 'गांधी' और रवीन्द्र नाथ (अनुक्षण) , महेन्द्र भटनागर की ''गांधी–1'', ''गांधी–2'', ''गांधी–3'', ''गांधी–4'', ''गांधी–5'' (चयनिका); नरेन्द्र शर्मा की 'रक्त

[1] – सुमित्रानन्दन पंत – 'वह बुढढा ', ग्राम्या, पृष्ठ 29

चंदन' में संकलित बापू के प्रति कविताएं; दिनकर की 'गांधी' (संचयिता), धर्मवीर भारती की 'सुभाष की मृत्यू पर' (ठंडा लोहा); हरिनारायण व्यास 'नेहरू के प्रति' (दूसरा सप्तक) आदि कविताएं इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। गांधी के संदर्भ में छायावादोत्तर युग के कवि की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है –

मनुज जीवन जब जटिल, गतिहीन होकर रूक गया है,
श्रंखलाये बंधनो की तोड़ता जब थक गया है,
दमन, अत्याचार, हिंसा से प्रकंपित झुक गया है,

* *

कर युगान्तर युग – पुरूष तुम स्वर्ग नवयुग ला रहे हो,

* *

पीड़ितों वंचित–दलित–जन के उरों में आशा भर–भर,
प्राणमय, संदेशवाहक, साम्य का नवगीत गाकर,
मुक्त उठने के लिए तुम दे रहे हो पूर्ण अवसर
देख मानवता जगी, दुर्जय कर्णाधार हो तुम !
त्रस्त, दुर्बल विश्व को सुख, शक्ति के उपहार हो तुम ।[1]

प्रेमचन्द्र जैसे महान कथाकार तथा निराला जैसे महाकवि के चरित्र को भी छायावादोत्तर युग के कवियों ने पर्याप्त महत्व प्रदान किया है। प्रेमचन्द्र के चरित्र तथा उनकी महत्वपूर्ण उपलब्धियों की चर्चा इन पंक्तियों में देखिए –

ओ कथाकार
युग के सजग, मुखरित, अमिट इतिहास,
जन–शक्ति के अविचल प्रखर विश्वास!

* *

रूढ़ियाँ – बंधन शिथिल तुमने किये
अपनी अरूक दृढ़ लेखिनी केवल !
सभी ये थरथराई
काल्पनिक, प्राचीन, झूठी, जन –विरोधी
धारणायें मान्यताएं ;
धर्म ग्रन्थों से बंधी

[1] – महेन्द्र भटनागर – 'गाँधी', चयनिका, पृष्ठ 172

निर्जीव ,मिथ्या ,शून्य की बातें
अनोखी, खोखली
जो हो रही थीं प्रगति बाधक !
पतित साम्राज्यवादी शक्तियों का
नग्न चित्रण कर
बनायी भूमिका
जनबल अथक संघर्ष की !

* *

तुम प्रगति – पथ की
नयी ज्योतित दिशा का
मार्ग–दर्शन कर रहे हो।
प्राण में बल भर रहे हो![1]

उपर्युक्त विवेचन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ववर्ती काव्यधाराओं की अपेक्षा छायावादोत्तर युग की कविता में चरित्रगत स्वरूप की विविधता एवं नवीनता देखने को मिलती है । छायावादोत्तर युग का कवि जीवन एवं समाज के यथार्थ चरित्रों तथा उनके क्रियाकलापों को विशेष महत्व प्रदान करता है। आलौकिक या आध्यात्मिक चरित्रों के प्रति उसकी आस्था नहीं रही हैं। जिन प्राचीन चरित्रों का उद्घाटन भी किया है उन्हें पूर्णतया मानवीय धरातल पर लौकिक रूप में ही । यथार्थ समाज से मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग के ही चरित्रों को विशेष महत्व दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह छायावादोत्तर युग की कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धि भी है।

3 – प्रकृति चित्रण का बदलता स्वरूप –

प्रकृति अनादिकाल से ही मानव जीवन के रागत्मक मानस को झंकृत करती रही है तथा उसके क्रिया कलापों में उसका साथ देती रही है । काव्य के अर्न्तगत प्रकृति की प्रतिष्ठा कोई नयी चीज नहीं है। वेदों तथा उपनिषदों में तो प्रकृति को देवता के रूप में प्रकट किया गया है । विभिन्न ऋतुओं के अलावा पृथ्वी, उषा, मरूत, सविता आदि को भी वैदिक कवियों ने सौन्दर्य की अनुपम सत्ता के रूप में देखा है तथा उसे प्रेरक शक्ति मानते हुए बडे ही भव्य एवं अलंकृत रूपों में प्रकट किया है । आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की कविता में अंशमात्र ही सही लेकिन प्रकृति का चित्रण अवश्य हुआ है । यह बात दूसरी है कि आधुनिक काल से पूर्व प्रकृति का चित्रण

[1] – महेन्द्र भटनागर – 'प्रेमचन्द', चयनिका, पृष्ठ 169–170

मात्र भावो के उद्दीपन हेतु ही किया जाता रहा है, लेकिन आधुनिक युग के छायावादी कवियों ने प्रकृति की प्रतिष्ठा में पर्याप्त नवीनता एवं मौलिकता दिखायी तथा उसके कोमल एवं मधुर पक्षों को बडे ही मनोयोग से उद्घाटित किया। इस युग के प्रकृति–चित्रण में कहीं सरिता की कल–कल नाद है तो कही पेडों एवं झुरमुटों की मरमर और खगकुल का कलरव गान कहीं पावस के मनोरम दृश्य देखने को मिलते है तो कहीं पुष्पों की गमगम, चाँदनी रात की उजियाली और सरिता–पुलिन की मनोरम झाँकी। इन सबके उद्घाटन में छायावादी कवियों ने प्रकृति पर अपनी अंतर्भावनाओं को आरोपित किया है। इस प्रकार छायावादी कवि प्रकृति के प्रति अपनी अगाध मोहाशक्ति प्रदर्शित करता हुआ उसी के जाल में उलझ कर रह गया था ।

छायावादोत्तर युग के कवि के प्रकृति–चित्रण की यह नवीनता है कि वह प्रकृति–चित्रण के जाल में उलझ कर समाज एवं मानव–जीवन की यथार्थताओं एवं विषमताओं को भुला नहीं बैठता अपितु प्रकृति और मानव–जीवन के बीच सामंजस्य बैठाने की कोशिश करता है । और, न ही छायावादोत्तर युग का कवि प्रकृति को किसी मानवोपरि सत्ता या रहस्यमय सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। वह मानव को प्रकृति से बाहर नहीं अपितु प्रकृति की ही सर्वोत्कृष्ट कृति मानता है तथा मानव के समक्ष प्रकृति को भी पराजित घोषित करता है –

हार गई तुम
प्रकृति !
रच निरूपम
मानव–कृति ।[1]

इस प्रकार आज का कवि प्रकृति की प्रतिष्ठा के साथ–ही–साथ मानवीय संवेदना का भी हमेशा ध्यान रखता है । कहीं वह प्रकृति में अगाध सौन्दर्य की खान देखता है तो कहीं मानवीय सौन्दर्य को ही सर्वोपरि मानता है ।

4– मिथकीय स्वरूप –

प्रकृति बिम्ब आदि की ही तरह ' मिथक ' भी काव्य का एक महत्वपूर्ण उपादान है। जिस प्रकार से प्रतीक और बिम्ब भावों एवं विचारों को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करने में सहायक का काम करते हैं उसी प्रकार काव्य–मिथक भी काव्य की प्रखरता को बढाकर उसमें अंतर्निहित भावों को प्रभावशाली ढ़ंग से उजागर करता है। डॉ पुष्पपाल सिंह ने लिखा है कि मिथक के माध्यम से कवि अपने काव्य को ऐसा प्रभावी बना देता है। कि पाठक का उससे सहज और स्वाभाविक रूप से

---

[1] – सुमित्रानन्दन पंत – 'प्रकृति के प्रति', युगवाणी, पृष्ठ 60

तादात्म्य स्थापित हो जाता है।[1] बिम्ब की ही भाँति मिथक एक प्रकार का परम्परागत प्रतीकात्मक कथातत्व होता है । वस्तुतः मिथक एक प्रकार का परम्परागत प्रतीकात्मक कथातत्व होता है, जिसमें कथातत्व के साथ–ही–साथ पर्याप्त भावात्मकता, कल्पनात्मकता एवं व्यंजकता भी भरी होती है। इस प्रकार ये मिथक काव्य के अंतर्गत प्रतीकात्मक रूप में चित्रित होकर युगीन संवेदनाओं एवं संदर्भो की अभिव्यक्ति में सहायक होते है। मिथक के स्वरूप के विषय में कहा जा सकता है कि ''मिथक आदिम मस्तिष्क से उत्पन्न क्रमशः विकसित ऐसी पुरातन कथा है , जो प्राचीन होकर भी नित नवीन बनी रहती है एवं जिसमें कथा तत्व का महत्व न होकर उसके माध्यम से व्यंजित तत्व, यर्थाथता, सत्य आदि महत्वपूर्ण होते है। मूलत : धर्म से संयुक्त होकर भी वह अपने स्वरूप में पूर्णतया सामाजिक और सांस्कृतिक होता है।''[2]

छायावादी काव्यधारा में सुर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' तथा जयशंकर प्रसाद जैसे कवियों ने मिथक प्रयोग को महत्वपूर्ण स्थान दिया था लेकिन उत्तर छायावादी व्यक्तिपरक काव्यधारा तथा प्रगतिवादी काव्यधारा के कवियों ने मिथक प्रयोग की ओर विशेष रूचि प्रदर्शित नहीं की । छायावादोत्तर युग में रामकुमार वर्मा , दुष्यंत कुमार , धर्मवीर भारती , नरेश मेहता आदि कवियों ने अपने काव्यों में मिथक को प्रतिष्ठा प्रदान की है तथा उसके माध्यम से युगीन जीवन एवं समाज की विकट समस्याओं एवं विडम्बनाओं को बडी बारीकी से उद्घाटित किया है । इस दृष्टि से धर्मवीर भारती की ' प्रमथ्युगाथा ' वृहन्नला ' 'टूटापहिया ' (सात गीत वर्ष) तथा 'अंधायुग' एवं 'कनुप्रिया' और रामकुमार वर्मा की 'एकलव्य' रचना विशेष महत्व रखती है। इन सबमें कवि ने युद्ध और शांति, वस्तुवादी एवं देहवादी दृष्टि समाज में सुव्यवस्था की स्थापना, निवृत्ति एवं प्रवृत्ति, जातिवाद एवं वर्गवाद, नारीशिक्षा एंव उत्थान, भाग्य एवं पौरूष के द्वन्द आदि युगीन सामाजिक–राजनीतिक समस्याओं को मिथक के माध्यम से सफलता पूर्वक चित्रित किया है ।

रामकुमार वर्मा की रचना 'एकलव्य' जातिवाद एवं वर्गवाद की समस्या पर आधारित है तथा इसमें मिथकीय कथा के माध्यम से आधुनिक समाज में व्याप्त जातिगत एवं वर्गगत अस्पृश्यता एवं ऊँच–नींच की समस्या पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है । 'कनुप्रिया' एवं अंधायुग मिथकीय प्रयोग की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। युद्ध की समस्या 'अंधायुग' के मूल में है। महाभारत के पौराणिक मिथक के द्वारा कवि ने यहाँ आधुनिक युग में निरंतर मँडरा रहे युद्ध की समस्या तथा उस युद्ध के बाद होने वाले विनाशकारी प्रभावों को बारीकी से उभारा है। आज प्रत्येक देश अणुबम के निर्माण में प्रयासरत है और ये अणुबम कब मानव का विनाश कर डालेंगे, कहा नहीं जा सकता। 'अंधायुग' का 'ब्रम्हास्त्र' और कुछ नहीं अपितु आधुनिक युग का अणुबम ही है। इसीलिए कवि

---

[1] – पुष्पपाल सिंह – दो शब्द, काव्य–मिथक

[2] – पुष्पपाल सिंह – काव्य–मिथक, पृष्ठ 13–17

वर्तमान विश्व में युद्ध की सम्भावित घटना का संकेत करता हुआ बृम्हास्त्र – जैसे आधुनिक संदर्भ में अणुबम भी कहा जा सकता है– के प्रयोग से होने वाले विनाश की ओर संकेत करता है –

ये दोनें बृम्हास्त्र अभी नभ में टकरायेगे
सूरज बुंझ जायेगा।
धरा बंजर हो जायेगी ।[1]

युद्ध में विनाशकारी प्रभाव को कवि बारबार प्रकट करता है तथा उसके माध्यम से विभिन्न देशों को एक तरह से युद्ध से विरत होने का संदेश देता है । युद्धोपरांत होने वाले व्यापक विनाश की सुचना कृपाचार्य ने इन शब्दो में दी है –

ज्ञात क्या तुम्हे है परिणाम इस बृम्हास्त्र का।
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नर पशु।
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होंगे विकलांग और कुंठाग्रस्त
सारी मनुज जाति बौनी हो जायेगी –[2]

इस प्रकार युद्धोपशन्त की स्थितियों को प्रकट कर कवि कहता है कि आज के समाज को युद्ध जैसी समस्या को समाप्त कर शांति स्थापना की ओर अग्रसर होना चाहिए क्योंकि युद्ध के पश्चात् देश की हालत अत्यन्त जर्जर हो जाती है तथा मनोवृत्तियाँ विकृत रूप धारण कर लेती है साथ ही शुभ विवेक एवं कोमल चेतनायें दब सी जाती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि महाभारत के इस पौराणिक मिथक के द्वारा कवि ने आधुनिक समाज की एक प्रमुख समस्या–युद्ध– को प्रस्तुत करने की कोशिश की है ।

'ब्रहन्नला' एक प्रतीक है – आधुनिक युग के छल, छंद, भ्रष्टाचार, दोहरे व्यक्तित्व . स्वार्थपरता आदि से भरे आधुनिक राजनीतिज्ञ का। प्रतीक रूप में प्रस्तुत बृहन्नला एक मिथकीय कविता है जो प्राचीन महाभारत कालीन संदर्भो में एक सैनिक महारथी है तो आज के संदर्भ में तथाकथित देशोंद्वारक नेता। 'ब्रहन्नला' आज के तथाकथित राजनीतिज्ञों के दोहरे व्यक्तित्व, छल , स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार आदि की यथार्थ स्थिति को स्पष्ट करता है। वह यह भी दिखाता है कि बृहन्नला (तथाकथित आज का राजनीतिज्ञ) आत्मसम्मान एवं गौरव का गला घोंट कर चाटुकरिता के द्वारा जहाँ एक ओर अपनी स्वार्थ पूर्ति करता है वहीं दूसरी ओर वह ऐसे ही चाटुकारों से स्वय भी घिरा होता है –

---

[1] – धर्मवीर भारती – अन्धायुग , पृष्ठ 95
[2] – धर्मवीर भारती – अंधायुग, पृष्ठ 95

युद्ध क्षेत्र, कर्मक्षेत्र में मुझको ढूँढोगे व्यर्थ तुम
आज तो मिलूगा मै तुमको पराये अंतःपुर में
चाटुकार विद्वानों मूर्खों महिषियों
अशिक्षित विदूषकों से घिरा हुआ–[1]

'प्रमथ्युगाथा' एक ग्रीक पौराणिक कथा के आधार पर रची गयी है । प्रमथ्यु ग्रीक युनानी पुराण पुरूष है जो कि एक बार द्युपितर के महल में सर्वप्रथम अग्नि को छीन लाया और वह अग्नि मानवता के कल्याण के लिए छीना था, लेकिन इसके लिए उसे कठोर दंड दिया गया। दण्ड के रूप में उसे शिला से बाँध दिया गया तथा एक गिद्ध उसके शरीर को नोंच–नोंचकर खाता रहा लेकिन जिस मानवता के लिए उसने अग्नि छीनी थी वह मूक रूप से उसे देखती रही। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि प्रमथ्यु आज के साहसी एवं कर्मनिष्ठ व्यक्ति का प्रतीक है , अग्नि नयी चेतना एवं स्वतंत्रता का प्रतीक है , गिद्ध तथाकथित विलासी एवं स्वार्थी नेताओं का प्रतीक है तथा द्युपितर निरंकुश साम्राज्यवादी शोषक का प्रतीक है । प्रमथ्यु अग्नि अर्थात् नयी चेतना को द्युपितर अर्थात् निरंकुशता एवं शोषण के जाल से छुड़ा लाता है ताकि समस्त मानवता का कल्याण हो, लेकिन कायर एवं विलासी मानवता उसकी रक्षा नहीं करती । अतः अग्नि अर्थात् नयी चेतना या स्वतंत्रता स्वयं प्रमथ्यु से कहती है –

मुझको क्यों मुक्त किया
मुझकों क्यों माथे से लगाकर
फिर फेंक दिया इन कायरों के बीच–[2]

वस्तुत : यह मिथक आज के संदर्भ में बडा सटीक बैठता है क्योंकि आज अंग्रेजी हुकूमत से मुक्त होने के बाद भी देश में स्वस्थ शासन व्यवस्था नहीं स्थापित हो पायी है और हमारे देश के नेता या राष्ट्रोद्वारक अपने स्वार्थो की पूर्ति तथा विलासी जीवन बिताने में ही मस्त हैं। कहना न होगा कि यह पौराणिक मिथक आज के संदर्भ में यथार्थ स्थिति को व्यंजित करने में पर्याप्त सफल हुआ है ।

अंतत : हम कह सकते है कि यद्यपि छायावादोत्तर युग में मिथकों का प्रयोग बहुत कम हुआ है लेकिन जहॉ भी कवियों ने मिथक का प्रयोग किया है वह नवीन धरातल पर प्रतिष्ठित है तथा वे युगीन संदर्भो में जीवन एवं समाजगत विषमताओं एवं समस्याओं को मूर्तरूप प्रदान करने मे सफल हुए है साथ ही इनका अपना अलग महत्व है ।

---

[1] – धर्मवीर भरती – 'बृहन्नला', सामगीत वर्ष , पृष्ठ 51
[2] – धर्मवीर भरती – 'प्रमथ्यु गाथा', सातगीत वर्ष , पृष्ठ 7

5– कलागत बदलता स्वरूप –

(क) बिम्बयोजना –

काव्य के अन्तर्गत प्रतीक विधान एवं अलंकार विधान के ही समान बिम्ब विधान का भी अपना अलग महत्व है। जिस प्रकार प्रतीक भावों एवं विचारो की संवेदनशीलता एवं अभिव्यक्ति में तीव्रता उत्पन्न कराने में सहायक होते है उसी प्रकार बिम्ब की काव्यगत भावें की संवेदनशीलता को प्रखर तो बनाते ही है साथ ही उसके मूर्त्र रूप को भी प्रकट करते है । तात्पर्य यह कि बिम्ब योजना द्वारा कवि विचारों और वस्तुओ के कल्पित रूप को इन्द्रिय ग्राह्य बनाने की कोशिश करता है । इस प्रकार काव्यगत भाव तथा उसके मूल अर्थ को स्पष्ट मूर्त तथा तीव्रतम रूप में संप्रेषित करने में बिम्ब एक शक्तिशाली भूमिका निभाते है। आज का कवि यह मानकर चलता है कि बिम्ब का सम्बन्ध काव्य रूप एवं काव्य वस्तु दोनों से है। केदारनाथ सिंह ने लिखा है कि " बिम्ब विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषयवस्तु से होता है उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राहय बनाता है रूप को संक्षिप्त और दीप्त"।[1] इस दृष्टि से बिम्ब–योजना की आवश्यकता एवं महत्ता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है ।

(i) काव्य–बिम्ब : नवीनता एवं सहजता –

छायावादोत्तर युग के कवियों विशेषकर प्रगतिवादी कवियों ने काव्य–बिम्ब पर बहुत कम ही चर्चा की है लेकिन नयी कविता के कवियों ने काव्य–बिम्ब की आवश्यकता तथा उसकी नूतनता पर गहराई से विचार किया है । वस्तुतः आज रस की अवधारणा में पर्याप्त अन्तर उपस्थित हो गया है। अत : "आधुनिक कवि की श्रेष्ठता की परीक्षा उसके द्वारा अविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है"।[2] इसीलिए छायावादोत्तर युग का कवि नवीन बिम्बों की योजना तथा उसकी खोज पर बल देता है । क्योंकि परम्परागत बिम्ब बदलते युग संदर्भो के बीच केवल अविधा मात्र बनकर रह गये है उनमें यह सामर्थ्य नहीं बची है। जोकि नये युग के भावों एवं सौन्दर्य–दृष्टि को सशक्त रूप में उद्घाटित कर सके। हम पहले भी स्पष्ट कर चुके है कि आज के युग की सौन्दर्य–चेतना एवं दृष्टि व्यापक रूप में बदल चुकी है और यह बदली हुयी चेतना एवं दृष्टि कवि को नये उपमानों तथा बिम्बों की खोज तथा उसके प्रयोग के क्षेत्र में प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करती है । कहने

---

1 - केदारनाथ सिह – वक्तव्य, तीसरा सप्तक, पृष्ठ 114

2 – केदारनाथ सिंह – 'वक्तत्य', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 115

की आवश्यकता नहीं है कि छायावादोत्तर युग के कवि नवीन बिम्बों की आवश्यकता को महसूस करते हुए उसकी खोज में प्रवृत्त हुए तथा उन्हें रचनात्मक स्वरूप भी प्रदान किया ।

आज के कवि की मानसिक स्थिति भी पहले जैसी नहीं रही है। उसकी भाव दृष्टि तथा सौन्दर्य–दृष्टि दोनों में परिवर्तन स्पष्टतया लक्षित होता है। अत : उसी के अनुरूप उपनामों, प्रतीकों, बिम्बों आदि में परिवर्तन के चलते अज्ञेय ने 'तारिका' और 'कुई' जैसे उपनामों को त्यागकर ' हरी बिछली घास ' और ' कलगी छरहरी बाजरे की ' जैसे उपमानों की प्रतिष्ठा की है।[1] कहने का तात्पर्य यह कि आज का कवि नवीनता का आग्रह ही है और वह भाषा भाव, प्रतीक, अलंकार ही नहीं अपितु बिम्बों में भी नवीनता प्रदर्शित करना चाहता है। प्रयोगवाद तथा नयी कविता के प्रायः सभी कवियों ने बिम्ब योजना की नवीनता के प्रति अपनी सजगता प्रकट की है । वह वस्तु जगत के समस्त उपकरणों से काव्य–बिम्बों के ग्रहण की बात करता है क्योंकि केवल प्रचलित बिम्बों को ही अपनाकर चलना उन्हें पर्याप्त नहीं मालूम पड़ता ।

वस्तुतः काव्य बिम्बों की योजना में युग संदर्भ अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है और जब तक युग–संदर्भ में बदलाव नही आता तब तक कवि को काव्य–बिम्बों में परिवर्तन की आवश्यकता नही महसूस होती । वस्तुतः छायावादोत्तर युग का संदर्भ बहुत बड़े पैमाने पर बदलता है। और उसी व्यापक पैमाने पर कवियों ने नवीन काव्य–बिम्बों की सर्जना भी की है । नवीन बिम्बों एव चित्रों के प्रयोग की दृष्टि से मुक्तिबोध का काव्य काफी महत्व रखता है। वस्तुतः बिम्ब–विधान की व्यापकता एवं नवीनता फैंटेसी के चलते कभी–कभी दुरूहता को भी जन्म देती है किन्तु इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि मुक्तिबोध ने अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाकर भी युगानुरूप जीवन एवं समाज के यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए नवीन बिम्बों की योजना की है ।

इस प्रकार आज का कवि नवीन बिम्बों की खोज तथा प्रयोग के प्रति आग्रहशील होता हुआ भी उसमें दुरूहता नहीं देखना चाहता क्योंकि दुरुह बिम्ब योजना में भावों की गम्भीरता या सहजता चाहे जितनी हो इन्द्रिय बोध की सहजता एवं सुबोधता कदापि नहीं हो सकती । प्रभाकर माचवे ने इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए लिखा है – " हमारी कविता में पाये जाने वाले अधिकांश कल्पना चित्र या बिम्ब (इमेज) बच्चों के – से निरे शाब्दिक, सहस्मृत या परम्परागत होते है। इन शाब्दिक सहचर्यात्मक और अभिजात बिम्बों की सृष्टि करना है " ।[2] तात्पर्य यह कि कवि बिम्बों की नवीनता ही नहीं अपितु उसमें 'इन्द्रिय–बोध का निखार' तथा भावों की गम्भीरता को भी देखना चाहता है डॉ0 रामविलास शर्मा ने भी लिखा है – "मूर्ति–विधान वही है जो भावों से अनुप्राणित हो, जिसमें सहज इन्द्रिय–बोध का निखार हो । दूर की कौड़ी लाना काव्य–रचना नहीं,

---

[1] – अज्ञेय – 'कलगी बाजरे की ', हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ 57

[2] – प्रभाकर माचवे – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 126

बौनों का बौद्धिक व्यायाम है"।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि जहाँ एक ओर भावानुप्राणित काव्य बिम्ब के प्रयोग की आवश्यकता पर जोर देता है वहीं वह सहज, बोधगम्य एवं जीवन तथा समाज के आसपास के बिम्बों की योजना करने की आकांक्षा रखता है तथा राग एवं ज्ञान से पूरित, ऐन्द्रिय, आवेगाश्रित नवीन बिम्बों की योजना की बात करता है ,साथ ही उन्हे रचनात्मक रूप भी प्रदान करता है ।

(ii) बिम्ब : काव्य – माध्यम –

काव्य बिम्ब की आवश्यकता तथा उसकी नवीनता का आग्रही होता हुआ भी आज का कवि 'बिम्ब ' को ' साध्य ' नही मानता अपितु प्रतीकों एवं अलंकारों की ही भांति इसे भी साधन के ही रूप में स्वीकार करता है । वस्तुतः प्रतीकों एवं बिम्बों के प्रति विशेष मोह जरूर युगीन कवियों में दिखाई देता है लेकिन काव्य की मूल आत्मा या साध्य मानते वे कभी नही दिखाई देते है। प्रभाकर माचवे ने स्पष्ट लिखा है कि " मै यह भी मानने को तैयार हूँ कि ' बिम्बवाद ' ही कविता नहीं है, अगर आप यह माने की ' बिम्बवाद ' भी कविता है।"[2] माचवे के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी बिम्ब को ही कविता नही माना हैं और न ही उसे अन्तिम या सर्वोपरि माना हैं अपितु उसे एक तत्व या माध्यम के रूप में स्वीकार कर काव्य की शक्ति या सम्प्रेषणीयता को बढ़ाने का प्रयास किया है । नयी कविता के कवियों ने तो बिम्ब को व्यापक महत्व दिया है। केदारनाथ सिंह ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "प्राचीन काव्य में जो स्थान 'चरित्र' का था आज की कविता में वही स्थान बिम्ब अथवा इमेज का है।"[3] अर्थात जिस प्रकार से प्राचीन कवि चरित्रों के माध्यम से भावों एवं विचारों को सजीव अभिव्यक्ति देता था उसी प्रकार आज का कवि बिम्ब–बिधान के माध्यम से काव्य की शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करता है। उसके लिए बिम्ब की सार्थकता उक्ति वैचित्रय या आर्कषण उत्पन्न करने में नहीं अपितु भावों के सही यथार्थ या मूर्त रूप को उपस्थित करनें में है। इस प्रकार आज का कवि जीवन तथा समाज की जटिलताओं एवं विषमताओं को मूर्त रूप प्रदान करने हेतु तथा उसे सशक्त अभिव्यक्ति देने हेतु काव्य के अन्तर्गत बिम्बों की योजना करता है और उसे काव्य में एक माध्यम के रूप में स्वीकार करता है ।

---

[1] – रामविलास शर्मा – पुनश्च , तारसप्तक , पृष्ठ .262
[2] – प्रभाकर माचवे – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 124
[3] – केदारनाथ सिंह – वक्तव्य, तीसरा सप्तक, पृष्ठ 116

(iii) छायावादोत्तर युग की कंविता : बिम्ब विधान की विविधता –

बिम्ब–विधान का क्षेत्र काफी व्यापक रहा है । बिम्बों का वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया जाता रहा है। स्वातंत्रयोत्तर बिम्ब विधान का विवेचन करते हुए डॉ0 शम्भूनाथ चतुर्वेदी ने उसे दो कोटियों में विभाजित किया है, पहला ऐन्द्रिय बिम्ब और दूसरा मानस बिम्ब। ऐन्द्रिय बिम्ब के अन्तर्गत दृव्य संवेध बिम्ब, स्पर्श संवेध बिम्ब , श्रवण संवेध बिम्ब, सहज एवं अलंकृत बस्तु बिम्ब, सहज एवं अलंकृत व्यापार– बिम्ब सांस्कृतिक बिम्ब, प्रणय–व्यापार–सम्बन्धी बिम्ब या मानस–बिम्ब के अन्तर्गत भाव एवं विचार सम्बन्धी बिम्ब या मानस बिम्ब के अन्तर्गत भाव एवं विचार सम्बन्धी बिम्ब वैज्ञानिक एवं यांत्रिक युग से सम्बन्धित बिम्ब ज्यामिति, तर्कशास्त्र एवं गणित पर आधारित बिम्बों को वर्गीकृत किया है ।[1] कहना न होगा कि छायावादोत्तर युग की कविता में यौन बिम्ब के सहित ये सभी बिम्ब प्रयुक्त किये गये है । इस प्रकार छायावादोत्तर युग की बिम्ब योजना काफी व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित है ।

बिम्ब–योजना की नवीनता तथा मौलिकता की दृष्टि से प्रगतिवादी कवियों के प्रयास सराहनीय है। यद्यपि प्रगतिवादी कवियों ने कलात्मक बिम्बों को विकसित या समृद्ध करने के क्षेत्र में कोई विशेष प्रयास नहीं किया है फिर भी व्यापकता तथा नवीनता प्रदान करने की दृष्टि से इनकी कविताओं का विशेष महत्व है। सामाजिक क्षेत्र से लिए गये बिम्बों में कवि वातावरण का यथार्थ एवं सजीव चित्र उपस्थित करता है । वस्तुत : सामाजिक जीवन से प्रगतिवादी कवियों का विशेष लगाव रहा है । अत : उसी के बीच से बिम्बों का चयन भी अधिक हुआ है । 'सुमन' की इन पंक्तियों को देखिए जिसमें कवि ने ग्रामीण मजदूर के गतिशील चित्र को प्रस्तुत बिम्ब के माध्यम से मूर्तरूप प्रदान किया है –

आ रही वह खोल झोंटा
एक पूतली, एक लोटा
थूक सुरती पोंछ डाला
शीघ्र अपना होंठ मोटा ।
एक क्षण पिच के कपोलों में
गई कुछ दौड़ लाली
चल रही उसकी कुदाली ।[2]

---

[1] – शम्भूनाथ चतुर्वेदी – नया हिन्दी काव्य और विवेचना, पृष्ठ 334
[2] – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'चल रही उसकी कुदाली' , प्रलय–सृजन, पृष्ठ 22

लोक–संस्कृति से लिए गये बिम्ब की दृष्टि से केदारनाथ अग्रवाल की निम्न पंक्तियां भी उल्लेखनीय हैं –

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना,
बॉधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का ,
सज कर खड़ा है ।

* *

और सरसों की न पूछो–
हो गयी सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिये हैं
व्याह मंडप में पधारी ;[1]

ग्रामीण परिवेश से नागार्जुन का भी काफी लगाव रहा है और उससे संबन्धित अनेकानेक सशक्त बिम्बों की भी उन्होने योजना की है । भूख से तड़पते किसान के घर में बहुत दिनों के बाद अनाज आता है और उसके बाद घर में जो उल्लास का वातावरण छा जाता है उसको कवि ने मूर्त रूप प्रदान किया है –

दाने आये घर के भीतर कई दिनों के बाद
धुआं उठा आँगन के ऊपर कई दिनो के बाद
चमक उठी घर भर की आंखे कई दिनों के बाद
कौये ने खुजलायी पाँखे कई दिनों के बाद ।[2]

औधोगिक तथा वैज्ञानिक जीवन से संबन्धित बिम्ब–योजना की दृष्टि से मुक्तिबोध, गिरिजा कुमार माथुर, मदन वात्स्यायन, भारत भूषण अग्रवाल ,सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताएं उल्लेखनीय है । अणुबम के विस्फोट का एक बिम्ब इन पंक्तियों में देखिए –

आग, लपट, धूल, भस्म
तत्वों की उड़ती है
धातु, स्लेट, प्रस्तर का
नाग छत्र उठता है
अग्नि व्याल फन हजार खोल

---

[1] - केदारनाथ अग्रवाल – 'चन्द्र गहना से लौटती वेर', फूल नहीं रंग बोलते है, पृष्ठ 17
[2] – नागार्जुन – 'अकाल और उसके बाद', तालाब की मछलियाँ , पृष्ठ 114

लील रहा व्योम ।[1]

भारत भूषण अग्रवाल ने 'कार्टूनों का जूलूस' में यांत्रिक जीवन के विभिन्न उपादानों का बिम्बात्मक प्रयोग किया है।[2] नये कवियों ने पुराने उपमानों का बहिष्कार करते हुए नवीन तथा वैज्ञानिक क्षेत्र से लिये गये उपमानों के सहारे नये बिम्बों की सर्जना की है। सर्वेश्वर की 'प्लेटफाम' तथा मदन वात्स्यायन की 'शुक्रतारा' कवितायें प्रमाण स्वरूप देखी जा सकती है । 'शुक्रतारा ' में कवि ने वैज्ञानिक एवं यांत्रिक बिम्बों का प्रचुर प्रयोग किया है –

इंजन के हेड लाइट–सा; शोरगुल के बीच
सूरज निकल गया ।
गार्ड की रोशनी सा–पीछे–पीछे गुमसुम अब
शुक्र तारा जा रहा ।[3]

स्पर्श, गंध, ध्वनि, स्वाद, आदि ऐन्द्रिय बिम्बों का भी छायावादोत्तर कवियों ने खूब प्रयोग किया है । स्पर्श बिम्ब के दो उदाहरण क्रमशः गिरिजा कुमार माथुर एवं पंत की निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है –

ऊन सी यह धूप की गरमी मुलायम [4]

फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली।[5]

प्रयोगवादी कवियों ने परम्परागत या प्राचीन उपमानों के स्थान पर नये उपमानों की खोज की है तथा उसके माध्यम से भावानुकूल नये बिम्बों की योजना की है । नवीन उपमानों पर आधारित कवि अज्ञेय की 'कलगी बाजरे की' कविता की बिम्ब योजना सर्वाधिक नवीन है । वे स्पष्ट कहते है–

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता, या शरद के भोर की नीहार–न्हायी कुँई
टटकी कली चम्पे की
बगैरह तो

---

[1] – गिरिजा कुमार माथुर – 'पुरूष मेघ', शिला पंख चमकीले, पृष्ठ 73
[2] – भारत भूषण अग्रवाल – ओ अप्रस्तुत मन, पृष्ठ 95–96
[3] - मदन वात्स्यायन – तीसरा सप्तक , पृष्ठ 81
[4] – गिरिजा कुमार माथुर – 'धूप के ऊन', धूप के धान, पृष्ठ 52
[5] – सुमित्रानन्दन पंत – 'ग्राम श्री,', ग्राम्या, पृष्ठ 35

*　　*

मगर क्या तुम नहीं पहचान पाओगी

*　　*

अगर मै यह कहूँ–

बिछली घास हो तुम

लहलहाती हवा में कलगी छरहरी बाजरे की ?[1]

वस्तुत : इन पंक्तियों में कवि ने 'तारिका', 'कुँई', 'चम्पे की कली', आदि परम्परागत उपमानों को छोडकर 'बिछली घास' तथा 'बाजरे की कलगी' जैसे नवीन उपमानों के द्वारा नवीन बिम्बों की सर्जना की है। ये नवीन बिम्ब युवती के छरहरे व्यक्तित्व एवं कोमल देहयष्टि को सजीव रूप में प्रकट करते हैं ।

फ्रायड के सिद्धान्तों एवं अतियथार्थवादी विचारधारा के प्रभावस्वरूप प्रयोगवादी कवियों ने मन के अन्दर छिपी कुण्ठाओं एवं वर्जनाओं को भी बिम्बात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने की कोशिश की है। यद्यपि ये बिम्ब कहीं–कहीं विश्रंखल एवं अस्पष्ट भी दिखायी देते हैं, लेकिन कहीं–कहीं वे अवचेतन में दबी भावनाओं एवं वासनाओं को सहज रूप में संप्रेषित भी करते है। 'सावन मेघ ' कविता की इन पंक्तियों को उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है । जिसमें कवि अज्ञेय ने अपनी यौन वर्जनाओं को स्पष्ट एवं सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है –

घिर गया नभ , उमड़ आये मेघ काले,

भूमि के कंपित उरोजों पर झुका–सा

विशद, श्वासाहत, चिरातुर

छा गया इन्द्र का नील–वक्ष

वज्र–सा, यदि तड़ित् से झुलसा हुआ–सा।

*　　*

जबकि सहसा तड़ित् के आघात से घिर कर,

फूट निकला स्वर्ग का आलोक,

बाध्य देखा –

स्नेह से आलिप्त

बीज के भवितब्य से उत्फुल्ल

बद्ध

वासना के पंक–सी फैली हुई थी

---

[1] – अज्ञेय – 'कलगी बाजरे की', हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ 57

धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी

औ , समर्पित ![1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावादोत्तर युग के काव्य में यौन-बिम्बों की पर्याप्त अधिकता है, जिनके माध्यम से कवियों ने अपनी दमित एवं कुण्ठित वासनाओं को ही अभिव्यक्ति दी है । डॉ0 शिवकुमार मिश्र के शब्दों में कहा जा सकता है कि "यौन-बिम्बों की नये काव्य में अधिकता है जिसे अनपेक्षित ही कहा जायेगा, कारण इनमें प्रकारान्तर से कवि के मानव की दमित वासनायें ही अभिव्यक्ति होती है।"[2]

मुक्ति बोध ने तो अपनी प्राय : सभी कविताओं में बिम्बों की योजना की है, लेकिन मनुष्य के अन्तः संघर्ष तथा उनकी आन्तरिक अनुभूतियों को बिम्बात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में मुक्तिबोध को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुयी है । मनुष्य के आन्तरिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले इस बिम्ब को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है –

दो लालटेन-से नयन दीन ;

निष्प्राण स्तम्भ

दो खड़े पांव

लकड़ी का खोखा वक्ष रिक्त ;[3]

इन पंक्तियों में कवि ने 'नयन' को दो लालटेन 'पाँव' को स्तम्भ तथा 'वक्ष' को लकड़ी के खोखे का उपमान देकर मनुष्य के यथार्थ रूप को बिम्बात्मक अभिव्यक्ति दी है ।

मनोविश्लेषणवादी विचारको से प्रभावित प्रयोगवादी कवियों ने 'मुक्त-अनुबन्ग पद्धति' के आधार पर खण्डित बिम्बों की भी योजना की है। खण्डित बिम्ब योजना की दृष्टि से अज्ञेय की 'उषाकाल की भव्य शांति' (तारसप्तक) कविता- जिसमें बिन जमीं आसन्न पतन ओस की शीतलता, मीनार की क्रोड़ से मुल्ला का एक रूप तथा भावोद्दीपक आहवान पिल्ले की करूणा रिरियाहट और मातृ-वक्ष को आतुर शिशु का तुनक-तुनक कर रोना आदि चार खण्डित बिम्बों की योजना की गयी है- विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त अज्ञेय की ' कंकरीट का पोर्च' नरेश मेहता की ' हवा चली ' कविताए भी इसी दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है । नरेश मेहता ने 'हवा चली' कविता में हवा चली वर्तन का पानी हिला, ठुमरी अब होगी कहता हे रेडियो, फुलझड़ियाँ घूम रहीं, गाते हुए धवल दाँत, ट्रैफिक ने नाल लगे जूतों की खट-खट, सेंदूरी हरफों के बीजों का विज्ञापन, ढक्कन खोले मोटर का घर-घर-घर, बच्चों का छोटा मुँह, राजा ने पहना है मुकुट आदि अनेकानेक असम्बद्ध

---

[1] – अज्ञेय – ' सावन मेघ , तारसप्तक , पृष्ठ 276-77

[2] – शिवकुमार मिश्र – आधुनिक कविता और युगदृष्टि, पृष्ठ 134

[3] – मुक्तिबोध – 'विहार', तारसप्तक, पृष्ठ 23-24

चित्रों की योजना की है । यह और कुछ नहीं अपितु मनोविश्लेषणवाद के –'फ्री एसोसिएशन' पद्धति का ही प्रभाव है।

नयी कविता का कवि व्यापक यथार्थ जीवन की अनुभूतियों पर आधारित बिम्बो की योजना में विशेष रूचि प्रदर्शित करता है तथा अपने एकांकीपन और जीवनगत निरर्थकता के बोधो को भी नवीन बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करता है। वस्तुतः नयी कविता का कवि मध्यवर्ग का कवि है । अत : उसकी मनः स्थिति दोहरी है, वह एक ओर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार वाह्य घुटन भरे वातावरण से ऊबकर अपने अन्दर ही सिमट जाना चाहता है तो दूसरी ओर उसके अन्दर की छिपी विक्षुध्ध अनुभूतियाँ विद्रोह करने हेतु आकुल भी होती हैं। फलतः मानसिक संघर्ष एवं तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। वस्तुतः नये कविता ने वाह्य तथा आन्तरिक तनाव एवं द्वन्द्व को बड़े सजीव रूप में बिम्बात्मक अभिव्यक्ति दी है । केदारनाथ सिंह की ' अनागत ' तथा कमरे का दानव 'प्रयागनारायण त्रिपाठी की' 'मकड़ी का जाला' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। 'कमरे का दानव' में केदारनाथ सिंह बिम्बात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से कमरे की उदासी और अकेलेपन को उद्‌घाटित करते है।[1] तो प्रयागनारायण त्रिपाठी मनुष्य के द्वारा स्वनिर्मित रेशमी जंजीरो में बंधी परतंत्रता एवं परवशता की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति करते हैं –

मेरे चारो ओर बिछ गया जो यह रेशमी जाल
मैने ही तो उसको मकड़ी बन–बन कर दिन–रात बुना है ;
नये–नये झीने तारें को
अपने से बाहर फैलाते जाने का रंगीन मोह
मैने ही रह–रह कर पाला है
अगर आज मै उलझ गया हूँ ।
अपने ही आत्मा से निर्मित इन तारों में–[2]

छायावादोत्तर युग के काव्य–बिम्बों की विविधता का अंदाजा हम इसी बात से लगा सकते है कि कवियों ने ज्यामिति और गणित के क्षेत्रों से भी नवीन उपमानों को चुना है तथा उसके माध्यम से भावनाओं को बिम्बात्मक अभिव्यक्ति दी है। ज्यामिति और गणित के क्षेत्रों से लिये गये उपमान कहीं प्रणय की भावना को अभिव्यक्ति प्रदान करते है। तो कहीं गम्भीर जीवन प्रश्नों को मूर्त रूप प्रदान करते है। हरिनारायण व्यास, प्रयागनारायण त्रिपाठी, कुँवरनारायण आदि ने ऐसे बिम्बों का विधान किया है। प्रयागनारायण त्रिपाठी की 'मै बिन्दु' तथा 'समानान्तर–लकीरें' शीर्षक कविताओ को उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है –

---

[1] – केदार नाथ सिंह – तीसरा सप्तक, पृष्ठ 138
[2] – प्रयागनारायण त्रिपाठी – 'मकड़ी जाल', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 26

तो सदा चलती रहो तुम
तो सदा चलते रहे ये स्वप्न
तो सदा चलता रहूँ मैः
ये समानान्तर लकीरें तीन
(शायद चार) ।[1]
मैं नहीं हूँ
यह त्रिभुज, यह चतुर्भुज, यह वृत्त
त्रिविध अथवा विविध
रेखा – पराजित

* *

बिन्दु हूँ मैं
मात्र केन्द्राभासः वह जो
हर असीम ससीम का
हर रूप, हर आकार का विस्तार,
प्राणाधार
फिर भी चिर–अरूप, अमाप,
अपनी मुक्ति में सन्नद्ध ।[2]

पहलें कवि ने प्रिय और प्रिया की वास्तविक स्थिति का आभास समानान्तर लकीरों के माध्यम से किया है ,जबकि दूसरे में बिन्दु के बिम्ब के माध्मय से कवि की सीमाहीनता एवं अपराजित व्यक्तित्व को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है।

अनगढ़ बिम्बों की योजना मुक्तिबोध के काव्य में खूब देखने को मिलती है। इन्होनें भूतो–प्रेंतो की कहानियों, जादू–टोनों के वातावरण, दंतकथाओं एवं आदिम जन–गाथाओं आदि से नवीन उपमानों का चयन किया है तथा उसके माध्यम से नवीन बिम्बों का निर्माण किया है। उनकी 'ब्रम्हराक्षस' (चाँद का मुँह टेढ़ा है) कविता को प्रमाण स्परूप देखा जा सकता है। इसमें कवि ने शहर के छोर पर, खण्डहर के बीच, परित्यक्त तथा सूनी बावड़ी में स्नान करने वाले ब्रम्हराक्षस के प्रतीक द्वारा आज के मानव के नकारात्मक रूप को बिम्बात्मक अभिव्यक्ति दी है ।

---

[1] – प्रयागनारायए त्रिपाठी – 'समानान्तर लकीरें', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 20
[2] – प्रयागनारायण त्रिपाठी – 'मै बिन्दु', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 28

विराट बिम्बों की योजना की दृष्टि से नरेश मेहता की 'समय देवता' 'उषस–2' तथा शमशेर की 'एक आदमी दो पहाड़ो को कुहनियों से ढेलता' कविताएं उल्लेखनीय हैं। मनुष्य के एक विराट बिम्ब को शमशेर की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है –

एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियो से ढेलता
पूरब से पश्चिम को एक कदम से नापता
बढ़ रहा है
कितनी ऊँची घासें चाँद–तारों को छूने–छूने को हैं
जिनसे घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है–[1]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि छायावादी कविता के बिम्ब धूमिल, काल्पनिक एवं प्राकृतिक क्षेत्र तक ही सीमित थे, लेकिन छायावादोत्तर युग के कवियों ने धूमिलता एवं काल्पनिकता की चादर को हटाकर स्पष्ट एवं यथार्थ बिम्बों की सर्जना की है तथा प्राकृतिक क्षेत्र अतिरिक्त सामाजिक, औद्यागिक एवं ग्राम–जीवन की संस्कृति से सम्बन्धित बिम्बों की भी योजना की है । यदि प्रयोगवादी कवियों की कुछ अस्पष्ट, उलझी एवं रूग्ण मानसिकता वाले बिम्बों को छोड दें तो इस युग के काव्य--बिम्बों की योजना में व्यापकता एवं नवीनता के साथ–ही–साथ स्पष्टता एवं खुलापन भी देखने को मिलता है। यह नवीनता , व्यापकता , स्पष्टता एवं खुलापन बिम्ब--योजना के बदलते स्वरूप को स्वयमेव ही स्पष्ट कर देता है ।

(ख) – प्रतीक योजना –

"प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी उदृष्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। अथवा यह कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिध्नि्व करने वाली वस्तु प्रतीक है।"[2] डॉ0 भागीरथ मिश्र ने भी प्रतीक की परिभाषा प्रस्तुत करते हुये लिखा है – "अपने रूप, गुण, कार्य या विशेषताओं के सादृश्य एव प्रत्यक्षता के कारण जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत वस्तु, भाव, विचार ,क्रियाकलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तब वह प्रतीक कहलाता है।"[3] वस्तुतः प्रतीक भावों की अभिव्यंजना के प्रस्तुति में सहायक का काम करतें है। आचार्य शुक्ल ने भी लिखा

---

[1] – शमशेर बहादुर सिंह – कुछ और कविताएं, पृष्ठ 7
[2] – धीरेन्द्र वर्मा (संपा0) – हिन्दी साहित्य कोष , भाग –1 पृष्ठ 515
[3] – भगीरथ मिश्र – काव्यशास्त्र, पृष्ठ 255

है कि "प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नही, बल्कि भावना जाग्रति करने की निहित शक्ति है।"[1]

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि बिम्ब और प्रतीक दोनों में मूल रूप से भिन्नता है। वस्तुतः प्रतीक किसी वस्तु या विषय के चित्र नहीं खींचता अपितु संकेत के माध्यम से उस वस्तु या विषय की प्रभाव शीलता या विशिष्टता को उद्‌घाटित करता है, जबकि बिम्ब विषय या वस्तु के चित्र को पूर्णतया स्पष्ट रूप से सामने रख देता है और इस दृष्टि से प्रतीक और बिम्ब में पर्याप्त अन्तर भी है। डॉ0 भगीरथ मिश्र ने दोनों के अन्तर को उद्‌घाटित करते हुए लिखा है — "अर्थ द्योतन की क्रिया में साम्य के कारण बिम्ब और प्रतीक में भ्रांति उपस्थित हो सकती है। पर दोनों में अन्तर है। जहाँ बिम्ब में वस्तु के निश्चित स्वरूप का संकेत रहता है। वहाँ प्रतीक में सदैव अनिश्चित स्थिति की प्रधानता रहती है। """इसमें संदेह नहीं कि बिम्ब विधान के अन्तर्गत चित्रात्मकता एवं मूर्तिकरण या प्रत्यक्षीकरण की प्रवृत्ति प्रधान होनें के कारण जो सहज संवेधता रहती है, प्रतीक विधान में उसका अभाव रहता है। प्रतीक केवल संकेत करता है, जबकि बिम्ब उसे पूर्णतया प्रत्यक्ष या संवेद और ग्राहय बना देता है। इसके अतिरिक्त प्रतीक अत्यन्त संक्षिप्त रहता है; परन्तु बिम्ब अधिक विवरण पूर्ण रहता है और उपमेय को स्पष्ट करने के हेतु प्रयुक्त होता है। अतः वह अधिक स्पष्ट होता है। भावना को प्रभावित करने और अनुभूति को बौद्धिकता का पुट होने से उतनी प्रभाव–क्षमता उसमें नहीं रह पाती है।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि बिम्ब और प्रतीक में अन्तर है। और बिम्ब की अपेक्षा प्रतीक में प्रभाव–क्षमता की कमी होती है, लेकिन छायावादोत्तर युग की कविता की प्रतीक–योजना अपने आप में काफी व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित है तथा अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

भाव तथा अभिव्यंजना दोनों दृष्टियों से काव्यात्मक मूल्य के रूप में प्रतीक का महत्व निःसन्देह उल्लेखनीय है क्योंकि यह वह तत्व या मूल्य है जो एक ओर चेतना के गहन स्तरों पर अनुभूत तथा अनिर्वचनीय भावो, विचारों और संवेदनाओं को मूर्त एवं स्थायी रूप प्रदान करने का कार्य करता है, तो दूसरी ओर वह अर्थ के अनन्त विस्तार को शब्द की छोटी सीमा में आवद्ध भी करता है। इस तरह वह अभिव्यंजना पक्ष को भी काफी सशक्त एवं समृद्ध बनाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रतीक भावों, विचारों एवं व्यक्ति या कलाकार की अनुभूत संवेदनाओ की अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट प्रकार है ।

1 – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृष्ठ 126
2 – भगीरथ मिश्र – काव्यशास्त्र, पृष्ठ 256–57

(i) काव्य के अन्तर्गत प्रतीक की भूमिका –

स्पष्ट है कि प्रतीक अनुभूतिगत संवेदनाओं को उद्घाटित करने की एक विशेष पद्धति है। प्रतीक काव्य तथा भाषा में प्रयुक्त होकर एक ओर उसकी अर्थवत्ता को द्विगुणित करते है तो दूसरी ओर काव्य के अन्तर्गत एक नयी शक्ति भी उत्पन्न करते है । वस्तुतः "प्रतीक का एक निष्ठापूर्ण आग्रह भी होता है जो पूँजीभूत होकर कल्पना ,भावना , चिंतन और विचार को सार्थक बनाता है।"[1] प्रतीक की परम्परा वेदों से प्रारम्भ होकर आज तक सतत प्रवाहमान है, लेकिन सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तन तथा बदलते युग–संदर्भो के बीच उसके स्वरूप में काफी परिवर्तन उपस्थित हो चुका है। सत्य तो यह है कि युग–संदर्भो के साथ–ही–साथ प्रतीक के स्वरूप भी बनते बिगड़ते और लुप्त होते है ।

छायावादोत्तर युग की कविता में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया गया है । कवि जिस प्रकार से पुराने भाव भाषा के रूप को रूढ़ तथा यथार्थ के संप्रेषण में असमर्थ मानते हुए नयी भाषा के ग्रहण पर जोर देता हैं उसी प्रकार वह प्रतीक–प्रयोग में भी परिवर्तन कर नवीनता लाना चाहता है। आज की परिस्थितियाँ जटिल हो गयी हैं, युग–सन्दर्भ काफी हद तक उलट–पुलट चुके हैं, संवदनायें काफी जटिल एवं गहरी हो गईं हैं। जिस प्रकार पुरानी भाषा उसे सही वाणी नहीं प्रदान कर सकती, उसी तरह पुराने प्रतीक भी उलझी संवेदनाओं एवं अनुभूतियों को उद्घाटित नही कर सकते। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर छायावादोत्तर युग के कवियों ने सक्षम एवं नवीन प्रतीकों के प्रयोग की बात की है। अज्ञेय ने लिखा है – "कुछ विशेष प्रतीक–रूप ऐसे होते है जो चिरकाल के लिए स्थिर हो जाते हैं, व्यापक हो जाते है। यह इसलिए है कि प्रतीक वास्तव में ज्ञान का एक उपकरण है। जो सीधे–सीधे अभिधा में नहीं बँधता उसे आत्मसात करने या संप्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते है। जो जिज्ञासायें सनातन है, उनका निराकरण करने वाली प्रतीक भी सनातन हो जाते हैं।"[2] इस प्रकार सनातन प्रतीकों के स्थान पर नूतन प्रतीकों के प्रयोग को कवियों ने अपने शिल्पगत मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है ।

वस्तुतः छायावादोत्तर युग के कवियों की प्रतीक–योजना में जो नवीनता एव सच्चाई दीखती है वह और कुछ नहीं अपितु सजग युग–चेतना का ही परिणाम है। युग चेतना में सम्पृक्त रचनाकार की दृष्टि समाज के व्यापक क्षेत्र पर पड़ती है तथा वह उन्ही व्यापक क्षेत्रों से यथार्थ के पहलुओं पर आधारित नवीन प्रतीकों की योजना की ओर उन्मुख होता है। एक बात और। अस्तित्ववाद के प्रभाव तथा जीवन एवं समाजगत संघर्ष की असफलता के चलते युगीन कवियों ने

---

[1] – लक्ष्मीकान्त वर्मा – नये प्रतिमानः पुराने निकष, पृष्ठ 232

[2] – अज्ञेय – आत्मनेपद, पृष्ठ 47

निराशा, कुंठा, पराजय, आदि भावों की अभिव्यक्ति अपनी कविताओं में की है और इन सब ने उसके चिंतन एवं दृष्टि में भी परिवर्तन उपस्थित किये है। स्पष्ट है कि कवि दो प्रकार से संघर्षशील रहा है एक तो आंतरिक स्तर पर और दूसरा बाहय स्तर पर! आंतरिक स्तर पर व्यक्तिगत समस्यायें प्रमुख रही है यौन–समस्या व्यक्ति की आंतरिक समस्या है। अज्ञेय ने इसे (यौन–समस्या को) आज के मानव व्यक्तित्व की सबसे बड़ी समस्या मानी है। वे मानते है कि यौन–समस्या ने मानव–सौन्दर्य की सौन्दर्याभिरूचि को ही बुरी तरह से आक्रांत कर रखा है तथा आज के मानव मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और ये कल्पनाएं दमित और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य–चेतना भी उससे आक्रांत है। उसके उपमान सब यौन–प्रतीकार्थ रखते हैं।[1] इस प्रकार कवि ने विचार ही नहीं व्यक्त किया है अपितु काव्य के अन्तर्गत यौन–प्रतीको की योजना भी की है, और एक दृष्टि से प्रतीक–योजना की व्यापकता, नवीनता तथा उसके स्वरूप के परिवर्तन को भी प्रकट किया है । वस्तुतः यह भी छायावादोत्तर युग की कविताओं के प्रतीक–योजना का एक पक्ष रहा है, लेकिन सीमित रूप में ही दूसरा पक्ष पहले की अपेक्षा ज्यादा सशक्त और व्यापक है, जिसमें कवि यह स्वीकार करता है कि प्रतीक का महत्व उससे उपलब्ध होने वाली अनुभूति की मात्रा या गुणात्मकता में होता है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि अपने आप में अकेले प्रतीक का कोई विशेष महत्व नहीं होता लेकिन जब वह काव्य में प्रयुक्त होता है तब वह युगीन संदर्भो और अनुभूतियों के तीव्रता एव प्रखरता से उद्‌घाटित करता है और इस प्रकार काव्य के अन्तर्गत उसकी विशिष्ट भूमिका स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

काव्य के अन्तर्गत प्रतीक–प्रयोग की आवश्यकता तथा उसके महत्व की चर्चा करते हुए अज्ञेय ने पश्चिम के प्रतीकवाद को सामने रखा है तथा स्पष्ट किया है कि प्रतीको को महत्व देने का अर्थ है 'प्रतीकवाद' जोकि एक हासशील प्रवृत्ति है – को बढ़ावा देना, लेकिन हिन्दी काव्य के अन्तर्गत जिन प्रतीकों का प्रयोग होता है, उसमें अज्ञेय ने किसी हासोन्मुखता या विदेशी प्रभाव को स्वीकार नहीं किया है, बल्कि कहा है कि "प्रत्येक स्वस्थ काव्य–साहित्य प्रतीकों की, नये प्रतीको की सृष्टि करता है, और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है– या जब जड हो जाता है तब वैसा करना बन्द करके पुराने प्रतीकों पर ही निर्भर करने लगता है।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावादोत्तर युग के प्रायः सभी कवियों ने यह मानते हुए कि प्रतीक काव्य की शक्ति को बढाने का एक माध्यम है, नये प्रतीकों की सृष्टि तथा योजना की है। प्रगतिवादी कवियों ने समाजगत विषमता तथा वर्ग–भेद की स्थिति साम्राज्यपादी–पूँजीवादी शक्तियों के शोषक स्वरूप के उद्‌घाटन तथा उनके खिलाफ जनता में नयी चेतना उदबुद्ध करने के लिए प्रतीकों की

---

[1] – अज्ञेय – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 272
[2] – अज्ञेय – आत्मनेपद , पृष्ठ 258
[3] – अज्ञेय – आत्मनेपद, पृष्ठ 42

योजना की है लेकिन इनके प्रतीक काफी स्थूल एवं सहज संवेद है । समाज के व्यापक क्षेत्र से कलात्मक तथा सूक्ष्म, साथ ही भावानुकूल प्रतीक–योजना की दृष्टि से प्रयोगवाद तथा नयी कविता के कवियों की देन उल्लेखनीय है।

अन्तत : यह कहा जा सकता है कि प्रतीक एक सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा कवि अपने हृदयगत, व्यक्तिगत अथवा समाजिक भावों को तीव्रता एवं प्रखरता से उद्‌घाटित करता है, साथ ही काव्य की सजीवता एवं प्राणवत्ता को बरकरार रखते हुए उसे अधिक–से–अधिक शक्तिशाली बनाने का कार्य करता है। छायावादोत्तर युग के कवियों के समक्ष प्रतीकों का यह महत्व और उसकी काव्यगत भूमिका स्पष्ट थी, अतः कवियों ने उसकी सजीव योजना में अपनी विशेष रूचि भी दिखायी।

(ii) काव्यगत लोकोन्मुखता और प्रतीक –

छायावादोत्तर युग के कवियों की लोकोन्मुखता ,साहित्यिक भाषा को लोकभाषा के करीब लाने का प्रयास काफी व्यापक एवं सराहनीय है। आज जब की काव्यगत लोकोन्मुखता की प्रवृत्ति धीरे–धीरे बढती जा रही है , सामाजिक संदर्भ व्यापक रूप धारण करते जा रहे है। तो हम यह सोचने लगे है कि काव्य का माध्यम कैसे अधिक–से–अधिक बोधगम्य हो सके काव्यगत प्रतीको की लोकोन्मुखता आज के संदर्भ में इसलिए भी आवश्यक है, क्योकि काव्य को जन–सामान्य के बीच पहुँचाने के लिए यह आवश्यक है और इसके लिए हमें पुराने, रूढ़ प्रतीकों कों छोड़ नवीन, यथार्थ एवं युग–जीवन से सम्प्रक्त प्रतीकों को ग्रहण करना होगा , उन्हे परखना होगा। पुराने प्रतीक काव्यात्मक गरिमा को स्थायित्व नही प्रदान कर सकते है ; क्योंकि युग–संदर्भो के साथ नयी प्रतीक–चेतना का आना भी स्वाभाविक हो जाता है।

वस्तुतः जनता का साहित्य वही हो सकता है जो जन–जीवन की गतिविधियों तथा उनके स्थूल एवं सूक्ष्म दोनो प्रकार के परिवर्तनों को पूरी सजीवता से उद्‌घाटित करे। ह्रासशील तथा बद्ध परिपाटी के बीच चलने वाला काव्य, चाहे जो कुछ भी हो, चाहे जैसा भी हो, जन सामान्य का काव्य नही हो सकता; क्योंकि वह व्यापक जनजीवन के यथार्थ एवं सम्पूर्ण पहलुओं को उजागर करने की सामर्थ्य खो देता है और संकुचित सीमा में बंधकर वह ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करने लगता है जिसका जनता या सामान्य जनजीवन से दूर का लगाव नही होता। अतः आवश्यक है कि काव्य को सामान्य जनता के करीब लाने हेतु हम उसकी संकुचित सीमा को तोड़ें तथा युगीन संदर्भो के बीच उसमें न्यूनता का समावेश करें। सरल ,सहज तथा यथार्थ प्रतीको की आवश्यकता इस दृष्टि

से आवश्यक हो जाती है; क्योंकि यथार्थ जीवन के प्रतीक काव्य में प्रयुक्त होकर उसकी शक्ति को तो बढ़ाते ही हैं, साथ ही उसे सुबोध भी बनाते है ।

प्रतीक–योजना के बीच इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रतीक–प्रयोग अपनी मूलभूत रेखा से हटकर दूर न चले जायँ या वे नितान्त वैयक्तिक प्रयोग मात्र बनकर दुरूहता एवं क्लिष्टता को बढ़ावा न दे और न ही वे प्रयोग –मात्र बनकर रह जाये, क्योंकि मात्र प्रयोग के लिए प्रतीक दुरूहता तो उत्पन्न करते ही है, साथ ही समाज एवं जीवन की सूक्ष्म एवं गहरी संवेदनाओं को पकड़ने तथा उन्हे उद्घाटित करने में भी असमर्थ होते हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय ने लिखा है – ''प्रतीक अपने आप में अनिष्ट नहीं है। आशंकनीय यह बात होती है कि यह प्रतीक निजी न बन जावें –बन क्या जावें, रह न जावें , क्योंकि निजी को सामान्य बनाना ही कवि–कर्म है।''[1] वस्तुतः – वैयक्तिक प्रयोग दुरूहता उत्पन्न करते हैं। अतः काव्यगत प्रतीक–योजना में यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रतीक सामान्य जीवन के हों, निजी जीवन के नहीं , सरल हों दुरूह नही, स्पष्ट हों अस्पष्ट नहीं। अज्ञेय के अतिरिक्त अन्य कवियों ने इस पर गम्भीरता से विचार नहीं किया है, फिर भी वे मानते है कि प्रतीक काव्य के लिए एक आवश्यक उपादान है और उपादान की खोज व्यापक स्तर पर जन–जीवन के बीच तथा उसके आस–पास से होनी चाहिए ; क्योकि वह ज्यादा प्रभावशाली ,सरल एवं स्पष्ट होगा , साथ ही लोक एवं जन–सामान्य के करीब भी।

इस प्रकार यह बात पूरी तरह से स्पष्ट है कि काव्य को लोकोन्मुख बनाने तथा उसको क्षेत्रगत व्यापकता और विस्तार देने हेतु प्रतीकों का प्रयोग नितान्त आवश्यक होता है। वस्तुतः निराला, अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रांगेय राघव आदि कवियो ने काव्य के अन्तर्गत काव्य–शक्ति को बढ़ाने तथा संप्रेषणीयता की क्षमता में बृद्धि करने हेतु समाज एवं जन–जीवन के यथार्थ पक्षों से संपृक्त प्रतीकों के ग्रहण पर विशेष बल दिया है तथा उसे रचनात्मक स्वरूप भी प्रदान किया है ।

(iii) प्रतीक : अभिव्यक्ति एवं सत्यान्वेषण के माध्यम –

छायावादोत्तर युग के कवि प्रतीक को साधन के रूप में स्वीकार करते हुए एक ओर उसके माध्यम से अपनी भावनाओं को तीव्रतम रूप में व्यक्त करते है तो दूसरी ओर उसके माध्यम से युग सत्य का अन्वेषण भी करते है । अज्ञेय ने प्रतीकों के माध्यम से सत्यान्वेषण की बात कही है। वस्तुतः ज्ञान और सत्य के अन्वेषण में प्रतीक सहायक होता है। कवि ने लिखा है कि कवि प्रतीक द्वारा सत्य को जानता है –सत्य के अथाह सागर में वह प्रतीक रूपी कंकड़ फेंक कर उसकी थाह

---

[1] – अज्ञेय – आत्मनेपद , पृष्ठ 42–43

का अनुमान करता है। यही नहीं कविं प्रतीक द्वारा अज्ञात सत्य का भी अन्वेषण करता है।[1] इस प्रकार कवि ज्ञात सत्य या अज्ञात सत्य का ही अन्वेषण नहीं करता अपितु सत्यान्वेषण की इस प्रक्रिया मे वह और भी खोज करता है और इस तरह प्रतीक बहुत बडे ज्ञान के अन्वेषण के माध्यम बनते है ।

देश एवं समाज की रोज–ब–रोज नयी करवटें ले रही परिस्थितियों के बीच हमारी नैतिकताओं, मर्यादाओं, आस्थाओं एवं स्थापनाओं में भी परिवर्तन लक्षित होता है और इन सबकी अभिव्यक्ति के लिए नयी भाषा के साथ–ही–साथ नये प्रतीकों की भी आवश्यकता होती है। इस प्रकार जीवन एवं समाज के बीच ज्ञान के विभिन्न परिवर्तित संदर्भो को अन्वेषित करने तथा उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने हेतु कवि प्रतीकों को माध्यम के रूप में अपनाता है। काव्य की सजीवता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक भी होता है। आज युग की नैतिकतायें, मर्यादायें और परिस्थितियाँ तो बदली ही हैं; साथ ही आज के कवि के सौन्दर्य बोध के धरातल में भी पर्याप्त परिवर्तन आया है। पुराने प्रतीकों के माध्यम से इस नवीन बोध को प्रकट नही किया जा सकता। अतः उसके त्याग को आवश्यकता के रूप में स्वीकार करता हुआ छायावादोत्तर युग का कवि कहता है –

ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है ।[2]

तात्पर्य यह कि पुराने प्रतीक एवं उपमान मैले हो गये है तथा प्रयोग एक परिवर्तन की प्रकिया में 'बासन के मुलम्में' की तरह घिस गये हैं, उनमें शक्ति का अभाव हो गया है और वे सत्य के प्रस्तुतीकरण में असमर्थ हो गये हैं। इसलिए कवि जीवन एवं समाज के गूढ़–से–गूढ़ रहस्यो के अन्वेषण तथा अभिव्यक्ति हेतु नये प्रतीकों की खोज पर बल देता है। मुक्तिबोध के काव्य में प्रयुक्त प्रतीक इस दृष्टि से व्यापक महत्व रखते हैं ; क्योंकि वे अपने अन्दर किसी–न–किसी व्यापक सत्य को छिपाये रहते हैं, लेकिन जब वे सत्य उभरकर सामने आते है तब काव्य का असली रूप भी उभरकर सामने आता है। वस्तुतः मुक्तिबोध की भाषा, प्रतीक यहाँ तक कि भाव भी गूढ़ता से सन्निविष्ट है, लेकिन अपनी गूढ़ता के अंदर वे असीम शक्ति एवं व्यापक सत्य की आग छिपाये हुए है। सच्चाई तो यह है कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने प्रतीक को सत्यान्वेषण तथा अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार करते हुए दुरूह प्रतीकों की योजना का विरोध किया है –

हो न सके पहचान सत्य की जिनके कारण,

---

1 – अज्ञेय – आत्मनेपद , पृष्ठ 47
2 – अज्ञेय – 'कलगी बाजरे की', हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ 57

ऐसे व्यर्थ प्रतीक बनाओ नहीं अकारण।[1]

(iv) छायावादोत्तर युग की कविता : प्रतीक –प्रयोग की विविधता –

वैज्ञानिक चेतना , यथार्थवाद एवं बहुमुखी सामाजिक दृष्टि से समन्वित छायावादोत्तर युग की कविता में व्यापक सामाजिक जीवन से प्रतीकों के चयन पर बल दिया गया है। युग की परिस्थितियों एवं लोकोन्मुखता की प्रवृत्ति के चलते काव्य के अन्तर्गत एक ओर नवीन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है तो दूसरी ओर प्राचीन प्रतीकों का परिमार्जन कर उन्हें नवीन रूपों में भी उद्घाटित किया गया है। प्राकृतिक, पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक एवं औधौगिक जीवन से सम्बन्धित, सामाजिक–राजनीतिक जीवन से संबन्धित, बौद्धिक एवं यौन प्रतीकों की योजना छायावादोत्तर युग की कविता में सर्वाधिक मुखर रूप में हुयी है। इस प्रकार प्रतीक–प्रयोग की दृष्टि से छायावादोत्तर युग की कविता में नवीनता के साथ–ही–साथ क्षेत्रगत व्यापकता भी दृष्टिगत होती है ।

प्रकृति एंव मानव का संबन्ध शाश्वत है। प्रकृति मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम भी रही है। प्राकृतिक प्रतीकों के प्रयोग से काव्य और अधिक सजीव हो उठता है। छायावादोत्तर युग की कविताओं में प्राकृतिक प्रतीाकें का प्रयोग नवीनता के धरातल पर प्रतिष्ठित है तथा समाज एवं मानव की सापेक्षता में ही वर्णित है। रात्रि, पतझर, कोहरा, तमस , ठूँठ ,कुकुरमुत्ता आदि प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग शोषण, अत्याचार, उदासी, जड़ता, रूढ़ता तथा साम्राज्यवादी पूँजीवादी तत्वों के स्वरूप को उद्घाटित करने हेतु किया गया है, जबकि धूप, सूरज, किरण नयी फसल, हिलोर आदि प्राकृतिक उपादानों का नवजागरण तथा क्रांति की चेतना की उद्घाटित करने हेतु किया गया है। प्राकृतिक प्रतीक–प्रयोग की दृष्टि से निराला की 'कुकुरमुत्ता' गिरिजा कुमार माथुर की 'भोर : एक लैण्ड स्केप' महेन्द्र भटनागर की 'अंकुर' केदारनाथ अग्रवाल की 'घन–जन' अज्ञेय की 'साँप' 'नदी के द्वीप' 'सागर और गिरगिट', कुँवर नारायण की 'पगडण्डी', रघुवीर सहाय का 'पहला पानी' दुष्यंत कुमार की 'आंधी और आग', कविताएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

निराला की 'कुकुरमुत्ता' कविता से तो सभी लोग परिचित ही हैं। इसमें कुकुरमुत्ता को निम्नवर्ग तथा गुलाब को उच्चवर्ग के प्रतीक के रूप में रखा गया है –

अबे , सुन बे गुलाब,
भूल मत जो पाई खुशबू तूने रंगो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट

---

[1] नरेन्द्र [illegible]– कदलीवन, पृष्ठ 61

डाल पर इतराता है कैपीटलिस्ट।[1]

जेठ के माध्यहन को पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हुए नरेन्द्र शर्मा उसके माध्यम से पीड़ित जगत् का चित्र उकेरा है –

ज्यों घेर सकल संसार, कुडंलीमार
पड़ा हो अहि विशाल,
आक्रांत धरा की छाती पर
गुमसुम बैठा मध्याहन–काल।[2]

तो प्रगतिवादी कवि त्रिलोचन ने बरगद को शोषक वर्ग के प्रतीक के रूप में देखा है –

बरगद की छाया के भीतर
नहीं अन्य तरू बढ़ पाया है।[3]

अतीत तथा उसके महापुरूषों को आज के कवि ने पूरी तरह से तिरस्कृत नहीं किया है अपितु उनको वैज्ञानिक विश्लेशण के बाद नये रूपों में उद्घाटित किया है। कविता दिनों–दिन लोक से संपृक्त होती जा रही है। पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से कवि आज के जटिल–से–जटिल भावों को भी जन–सामान्य के लिए बोधगम्य बना देता है। अर्थात पौराणिक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त भावों को सामान्य व्यक्ति भी बड़ी ही आसानी से ह्रदयंगम कर लेता है। इस प्रकार छायावादोत्तर युग की कविता में प्रयुक्त पौराणिक प्रतीक युग एवं समाज की समस्याओं एव संदर्भो का प्रतिनिधित्व करते दिखायी देते है। डॉ0 शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने राम, रावण, सीता आदि पौराणिक तत्वों को प्रतीक रूप में काव्य में स्थान दिया है। कवि सुमन ने 'राम' को जननेता, रावण को शोषक–शक्ति और सीता को धरती के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है।[4]

मुक्तिबोध ने युग–जीवन में व्याप्त शंका तथा भय को मनोवृत्ति के प्रस्तुतीकरण हेतु वासुदेव, कृष्ण, कंस, आदि को पौराणिक प्रतीक के रूप में चित्रित किया है –

अपने अँधियारे कमरे में
आँखे फाड़े मैंने देखा मन के मन में
जाने कितने कारावासी बसुदेव
स्वयं अपने कर में, शिशु–आत्मज ले,
बरसाती रातों में निकले,
धँस रहे अकेले जंगल में

---

1 – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – कुकुरमुत्ता, पृष्ठ 39
2 – नरेन्द्र शर्मा – 'जेठ का माध्याहन', पलाशवन, पृष्ठ 70
3 – त्रिलोचन – 'बरगद की छाया के भीतर', धरती,, पृष्ठ 26
4 – शिवमंगल सिंह 'सुमन'– विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ 103–106

विक्षुब्ध पुर में यमुना के
अति–दूर, अरे, उस नन्द–ग्राम की ओर चले।
जाने किसके डर स्थानान्तरित कर रहे वे
जीवन के आत्मज सत्यों को,
किस महाकंस से भय खाकर गहरा–गहरा :[1]

भारत भूषण ने 'टूटे सपनों का सपना'[2] कविता में मेनका, विश्वामित्र, उर्वशी, नारद, गणेश , बृहस्पति आदि पात्रों को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। 'अंधायुग' (धर्मवीर भारती) के पात्र तथा घटनाएं सभी प्रतीकात्मक हैं । कुँवरनारायण ने 'चक्रव्यूह' में रूढ़ परम्पराओं, मर्यादाओं और विषमताओं के लिए चक्रव्यूह को तथा आत्मविश्वासी, स्वावलम्बी, व्यक्तित्व के लिए अभिमन्यु को प्रतीक रूप में रखा है ।

अज्ञेय की ये पंक्तियॉ भी दृष्टव्य हैं जिसमें कवि ने द्रोणाचार्य को धूर्त साम्रज्यवादी प्रवृत्तियों के पोशक के रूप में तथा एकलव्य को छोटे राष्ट्रों के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है–

अभिनव द्रोण किन्तु कहता है :
वत्स वीर
धरो चाप, साधो तीर
धरती को विद्व करो–
अमृत–सा कूप जल यहीं फूट निकले
और फिर चुपके से एकलव्य के नये कुयें में भांग डाल देता है ।[3]

वैदेशिक पौराणिक अख्यानों एवं पात्रों को भी छायावादोत्तर कवियों ने प्रतीक रूप में स्थान दिया है । धर्मवीर भारती की ' प्रमथ्युगाथा ' (सात गीत वर्ष) कविता इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है जिसमें युनानी पुराण पुरूष प्रमथ्यु को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं के साथ ही छायावादोत्तर कवियों ने ऐतिहासिक घटनाओं एवं पात्रों को भी प्रमुखता दी है। धर्मवीर भारती की 'वाणभट्ट' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों को देखिए जिसमें वैभव सम्पन्न व्यक्ति के प्रतीक के रूप में 'हर्षवर्धन' को, प्रलोभन के रूप में 'वर्कदार सोना' को तथा आज के कवि के प्रतीक के लिए– जो कि प्रलोभनों के पीछे अपनी आत्मा तक बेच देता है – 'वाणभट्ट' को प्रस्तुत किया गया है –

सत्य है राजा हर्षवर्धन के हाथों से मिला हुआ
पान का सुगंन्धित एक लघु बीड़ा

---

[1] – मुक्तिबोध – 'डूबता चाँद कब डूबेगा', चाँद का मुह टेढा है , पृष्ठ 44
[2] – भारत भूषण अग्रवाल – ओ अप्रस्तुत मन, पृष्ठ 102
[3] – अज्ञेय – 'इतिहास की हवा', इन्द्र धनु रौंदे हुए ये पृष्ठ 31–32

(चाहे वह जूठा हो,

पर उस पर लगा हुआ वर्कदार सोना था!

हाय वाणभट्ट ! हाय !

तुमको भी, तुमको भी, आखिर यही होना था!)[1]

वैज्ञानिक एवं औद्योगिक जीवन से लिए गये प्रतीक भी छायावादोत्तर युग की कविताओं में देखने को मिलते है। आज विज्ञान ने समस्त जन–जीवन को प्रभावित किया है, भला छायावादोत्तर युग का काव्य इससे कैसे अप्रभावित रह सकता है? अत : कवियों ने विज्ञान के क्षेत्र से भी प्रतीको का चयन किया गया है । मदन वात्स्यायन की इन पंक्तियों को बतौर उदाहरण देखा जा सकता है–

दूसरी मशीने : तू मालिक है ? हाँ–हाँ, वृष है!

हम अफसर है, अपने से ऊँची गद्दी का

हुक्म बजाकर

तुझे पीसते हैं मनमाना।[2]

प्रस्तुत पंक्तियों में मशीनें पूँजीवादी शोषण–प्रवृत्ति के प्रतीक रूप में उपस्थित है जैसा कि मशीनों के परिचय से स्पष्ट होता है ।

नागार्जुन की इन पंक्तियों को देखिये जिसमें कवि ने औद्योगिक जीवन से लिये गये खादी तथा मलमल को क्रमशः आजाद देशी सत्ता (सरकार) तथा पूँजीपति के प्रतीक के रूप में देखा है–

खादी ने मलमल से अपनी साँठ–गाँठ कर डाली है

बिड़ला, टाटा, डालमिया की तीसो दिन दिवाली है ।[3]

छायावादोत्तर युग की प्रयोगवादी काव्यधारा में यौन प्रतीकों की भी बहुलता देखने को मिलती है। धर्मवीर भारती तथा अज्ञेय की कविताओं में यौन प्रतीकों के प्रयोग सर्वाधिक स्पष्टता से उभरे है। इस दृष्टि से अज्ञेय की 'सावन मेघ', 'जनाहवान', तथा 'चरण पर चरण' (तारसप्तक) एव धर्मवीर भारती की 'उदास तुम', 'फागुन की शाम', 'बेला महका', 'फिरोजी होंठ', 'गुनाह का गीत', 'कच्ची सासों का इसरार', (ठण्डा लोहा) आदि कविताएं उल्लेखनीय हैं। 'चूडी का टुकडा', 'रेडियम की छाया', (तारसप्तक) आदि कविताओं में गिरिजा कुमार माथुर ने भी यौन प्रतीकों की प्रतिष्ठा की है।

---

[1] – धर्मवीर भारती – सातगीत वर्ष, पृष्ठ 50

[2] – मदन वात्स्यायन – 'असुरपुरी में दस से छह', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 93

[3] – प्रभाकर माचवे (संपा0) आज के लोकप्रिय कवि नागार्जुन, पृष्ठ 12 से उदधृत

छायावादोत्तर कवियों के प्रतीक–प्रयोग यहीं तक सीमित नहीं है अपितु केंचुए, केंकडे, मकड़ी, पिरामिड, ममी आदि को भी प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया गया है। केंचुओं का प्रतीकवत प्रयोग सर्वेश्वर की इन कविताओं में देखिए –

बिल बिलाकर बिछ गये है
केंचुए अंधे ।[1]

मकड़े का प्रतीकवत् प्रयोग प्रयागनारायण त्रिपाठी की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है –

मेरे चारो ओर बिछ गया है जो यह रेशमी जाला
मैंने ही तो उसको मकड़ी बन–बन कर दिन रात बुना है;[2]

नयी कविता के कविताओं ने तो व्यक्ति के अजनबी पन के लिए 'कमरे का दानव' (तीसरा सप्तक) गतिहीन बुर्जुआ वर्ग के लिए 'पीले पत्ते' (तीसरा सप्तक), जिज्ञासु प्रवृत्ति वाले व्यक्ति के लिए 'सैलानी' (तीसरा सप्तक) जैसे प्रतीकों का भी प्रयोग किया है ।

प्रयोगवादी कवियों के प्रतीक–प्रयोग की अपनी अलग विशिष्ठता है। प्रतीक–प्रयोग की दृष्टि से अज्ञेय की 'नदी के द्वीप' कविता का अपना विशिष्ट महत्व है। इसमें नदी को समष्टि तथा द्वीप को एक व्यष्टि के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है –

हम नदी के द्वीप है।
हम नहीं कहते कि हमकों छोड़कर स्रोत स्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण ,गलियाँ, अन्तरीप, उभार सैकतकूल,
सब गोलाइयाँ उनकी गढ़ी है।
माँ है वह! है, इसी से हम बने हैं।
किन्तु हम है द्वीप
हम धरा नहीं है ।[3]

व्यापक सामाजिक दृष्टि के ही अनुकूल छायावादोत्तर युग की कविता में यथार्थ सामाजिक जीवन से प्रतीकों का भी चयन किया गया है। हँसिया, हथौड़ा, हल, बैलगाडी, कोयला, गर्रानाला आदि सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीक हैं जो कि मनुष्य के सामाजिक जीवन की यथार्थता को उद्‌घाटित करने के लिए प्रस्तुत किये गये है। 'हँसिया' और 'हथौडा, समाजवादी व्यवस्था के प्रतीक–रूप में चित्रित हैं–

हँसिया और हथौड़ा अब तक

---

[1] – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – (नयी कविता और अस्तित्ववादः डॉ0 रामविलास शर्मा, पृष्ठ 115 से उदधृत)
[2] – प्रयागनारायण त्रिपाठी – 'मकड़ी जाल', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 26
[3] – अज्ञेय – 'नदी के द्वीप', हसी घास पर क्षण भर, पृष्ठ 65

हुआ नही पामाल
यह पानी से नहीं
खून से ही था झंडा लाल ।[1]

शमशेर बहादुर सिंह ने 'मशाल' को क्रांति के प्रतीक के रूप में देखा है –

किंतु उधर
पथ–प्रदर्शिका मशाल
कमकर की मुट्ठी में–[2]

अन्तत : यह कह सकते है कि छायावादोत्तर युग की कविता की प्रतीक योजना व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं तथा कवियों ने जीवन एवं समाज के प्राय : सभी क्षेत्रों के प्रतीकों के माध्यम से भावों के प्रस्तुतीकरण को सशक्त रूप प्रदान किया है। एक ओर जहाँ स्थूल एवं स्पष्ट प्रतीकों का प्रयोग देखने को मिलता है वहीं कलात्मक, सांकेतिक एवं पौराणिक प्रतीकों की भी योजना हुयी है। पौरांणिक प्रतीकों की सबसे बडी खूबी यह हे कि वह युग–संदर्भो के ही अनुरूप प्रतीकात्मक अर्थ को व्यंजित करने की सामर्थ्य रखता है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग की कविता के प्रतीक, पूर्ववर्ती काव्यधाराओं के प्रतीक–प्रयोग से भिन्न, जीवन एवं समाज के बीच तथा उसी के आसपास होने के कारण सहज संवेद्य है। तथा भावाभिव्यक्ति की प्रखरता को बढाने में सहायक का कार्य करते है।

ग – अलंकार योजना –

काव्य शिल्प के अंग के रूप में अलंकार का काफी महत्व रहा है। युगों–युगों से अलंकार को कविता का आभूषण या कविता का चमत्कार कहा जाता रहा है, लेकिन छायावादोत्तर युग से पूर्व छायावादी कवियों ने अलंकार की सीमाओं को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। उसके प्रति चमत्कारवादी धारणा में भी कमी आयी। अलंकार के प्रति अपनी धारणा व्यक्त करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा – "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी–कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।" [3] पंत ने भी अलंकार के प्रति अपनी व्यापक दृष्टि को प्रकट करते हुए लिखा – " अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है, ...वे वाणी ह्रास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव भाव है। जहाँ

[1] – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'सोवियत रूस के प्रति', प्रलय–सृजन, पृष्ठ 60
[2] – शमशेर बहादुर सिंह – 'वाम वाम वाम दिशा', कुछ और कविताएं , पृष्ठ.8
[3] – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ 129

भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखट में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता, शब्दों की कृपण–जड़ता में बंधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।"[1] वस्तुतः आधुनिक युग में आकर अलंकार को साध्य नहीं अपितु 'साधन' के रूप में स्वीकार किया गया और उसे भावों की तीव्रता को बढ़ाने में सहायता प्रदान करने वाले तत्व के रूप में स्वीकार किया जो इस युग की उल्लेखनीय देन है ।

यद्यपि छायावादोत्तर युग के कवि अलंकार–विधान की बात पर पूर्ववर्ती काव्यधारा–छायावाद– के कवियों की तरह विशेष गम्भीरता से विचार नहीं किया गया है, फिर उसकी एक धारणा तो रही ही है। प्रगतिवादी कवि ने तो सिद्धान्ततः अलंकारों के प्रति अपनी अरूचि ही प्रदर्शित की है; क्योंकि वह वस्तु पर ही विशेष बल देता है। कवि की धारणा तो यह है कि –

ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव उर से निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी चाहिए तुम्हे क्या अलंकार।[2]

अलंकार को 'बहुभार' तथा 'मोह के बंधन' के रूप में मानते हुए नरेन्द्र शर्मा ने भी लिखा है –

अपना न कभी कवि की लघु सीमाओं को तू, दे छोड़ इन्हें।
ये अलंकार बहुभार, के मोह के बंधन हैं, दे तोड़ इन्हे ।[3]

वस्तुतः अलंकार–प्रवृत्ति की अधिकता रूपवाद को बढ़ावा देती है और रूपवाद भावतत्व की प्रखरता को दबाने का कार्य करती है। इसलिए भी आज का कवि अलंकार के गहन जंजाल में नही फँसना चाहता; क्योंकि कविता के अन्तर्गत वह भावतत्व की प्रधानता पर विशेष जोर देता है। फिर भी छायावादोत्तर युग की कविता में अलंकारों का प्रयोग यथावसर देखने को मिलता हैं। छायावादोत्तर युग की कविता में अलंकार–प्रयोग के दो रूप देखने को मिलते हैं, पहला वह, जिसमे मानवीयकरण, विशेषण, विपर्यय, अन्योक्ति, वीप्सा, अनुप्रास आदि परम्परागत अलंकारों का प्रयोग हुआ है, दूसरा वह, जो युगीन परिवेश एवं परिस्थितियों की सापेक्षता में भावानुकूल तथा पूर्णतया नवीन धरातल पर प्रतिष्ठित है ।

(i) परम्परागत उपमानों के प्रति उदासीनता : नये उपमानों की खोज –

युग–संदर्भो के बीच, उसी के सापेक्षता में कवियों ने अपनी कविताओं के लिए जिन नवीन अंलकारों की योजना की है उसमें दो प्रकार की विचारधारायें विशेष क्रियाशील रहीं है, एक

---

[1] – सुमित्रानन्दन पंत – 'प्रवेश', पल्लव, पृष्ठ 19
[2] – सुमित्रानन्दन पंत – 'वाणी' , ग्राम्या, पृष्ठ 103
[3] – नरेन्द्र शर्मा – 'स्वर मेरे !', हंसमाला, पृष्ठ 13

काव्यगत अलंकारों की सहजता और दूसरी, काव्यगत अलंकारों की नित–नूतनता। यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि आज का कवि अलंकारों को चमत्कार उत्पन्न करने अथवा कविता को वाह्य सज्जा से विभुषित करने के लिए नहीं स्वीकारता; क्योंकि कविता भावों की अनुवर्तिनी होती है। और विशेषकर आज के संदर्भ में तो यह बात और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि आज युग का ढाँचा ही बदल चुका है। बदलते मानदण्ड वाले अध्याय में हम देख चुके है कि काव्य–सृजन के उद्देश्यों में पूर्ववर्ती धाराओं की अपेक्षा छायावादोत्तर युग में भारी फेरबदल उपस्थित हुआ है भावधारा पूर्णतः नये धरातल पर प्रतिष्ठित हुयी और बदले भावों कों परम्परागत प्रणाली में बांधना सम्भव नहीं था। सत्य तो यह है कि कविता स्वाभाविक उपज होती है, न तो वह कारीगरी की वस्तु है और न ही गढ़ी हुई कोई वस्तु है। अतः वह स्वाभाविकता की मांग करती है । 'तारसप्तक' की कविताओं के संदर्भ में अज्ञेय ने स्पष्ट कर दिया है – "तारसप्तक की कविता वैसी जड़ाऊ कविता नहीं हैं, वह वैसी हो भी नहीं सकती। जमाना था जब तलवारें और तोपे भी जड़ाऊ होती थी पर अब गहने भी धातु के साँचे में ढलकर बनाये जाते है ओर हीरे भी तप्त धातु की सिकुड़न के दबाब से बंधे हुए कणों से।"[1] इसलिए आज की कविता अलंकारों के बोझ से लद ही नहीं सकती, क्योंकि अलंकारों से लदकर कविता उचित भाव–भंगिमा को प्रकट करने में सफल हो ही नहीं सकती ।

एक बात और ! आज के कवि की दृष्टि बहिर्मुखी रही है तथा वह वस्तु की प्रधानता पर विशेष रूप से केन्द्रित रही है। चमत्कार–प्रदर्शन उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है । जहा तक नूतन अलंकारों की आवश्यकता पर विशेष जोर देने की बात है वहाँ यह स्पष्ट है कि आज के बदले युग एवं माहौल में परम्परागत एवं रूढ़िगत अलंकारों में वह सामर्थ्य भी नहीं कि युग की यथार्थ परिस्थितियों एवं कवि की जटिल एवं विषम भावानुभूतियों को सबल और सजीव अभिव्यक्ति प्रदान कर सके। सत्य तो यह है कि परम्परागत उपमान आज के तीखे भावों के बीच स्वतः ही दब से जाते हैं तो भला वे जीवन एवं समाज की जटिल–से–जटिल तथा गहरी–से–गहरी अनुभूतियो को कैसे व्यंजित कर सकते हैं ? अतः पुराने उपमानों के प्रति उदासीनता तथा नये उपमानों की खोज आवश्यक ही नहीं स्वाभाविक भी हो जाती है। अज्ञेय ने तो यहाँ तक कह दिया है कि परम्परागत उपमान अब मैले हो गये है तथा अब उनमें शक्ति एव सामर्थ्य शेष नही है –

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता
या शरद् के भोर की नीहार–न्हायी कुँई
टटकी कली चम्पे की

[1] – अज्ञेय – भूमिका, तारसप्तक, पृष्ठ 13

वगैरह, तो

नहीं कारण कि मेरा ह्वदय उथलाया कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीको के कर गये हैं कूच।
कभी वासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।[1]

युग से संप्रक्त होने के लिए आवश्यक है कि बदलते युग–संदर्भो के बीच काव्यगत माध्यमों में भी परिवर्तन किया जाय। इस प्रकार अलंकार के स्वरूप में परिवर्तन की आवश्यकता साफ तौर पर जाहिर होती है। वस्तुतः आज के कविता की सबसे बड़ी समस्या और सबसे बड़ी माँग यही है कि वह व्यापक जन–जीवन से जुड़े तथा उसके अलंकार, प्रतीक, बिम्ब, छंद तथा भाषा आदि भी युग–संदर्भ के अनुकूल एवं सार्थक हो साथ ही भावगत तीव्रता को कायम रखने और बढ़ाने में सहायक बनें। प्रभाकर माचवे के अनुसार – "हमारे अलंकार अधिक वैज्ञानिक , आधुनिक और वैशेषिक हो, अन्यथा निरे अलंकार –साँख्य से निरलंकार काव्य–रचना बेहतर है।"[2] स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग का कवि अलंकार को वैज्ञानिकता संयुक्त कर उसमें परिवर्तन करने की आकांक्षा रखता है और अलंकार विधान में नवीनता या परिवर्तन उपस्थित करने के लिए नये रूपकों की तलाश करनी होगी, उपमान मांजने होगे तथा रूपकों की कलई खोलनी होगी ।[3]

सजग एवं सचेत रचनाकार हमेशा अनुभूत भावों एवं विचारो की अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने हेतु नयी–नयी अभिव्यंजना पद्धतियों की खोज करता रहता है। वह नये बिम्बों, प्रतीकों एव भाषा क्षमता की खोज करता है तथा नये उपमानें के प्रयोगों पर बल देता है। यह प्रक्रिया कभी रूकती नहीं अपितु बराबर चलती रहती है तथा वह नये–से–नये अभिव्यंजना–पद्धति की तलाश में प्रवृत्त होता रहता है। अज्ञेय ने लिखा है कि "जिसके पास....प्रतिभा है, वह कभी अभिव्यंजना के एक ढंग से तृप्त नहीं रह सकता। यह बात नही है कि एक ढंग में सफलता न मिलने पर ही वह दूसरी ओर आकृष्ट हो। बल्कि एक ढंग में जितनी सफलता मिलती है उतना ही उसमे उत्साह बढ़ता है कि वह एक दूसरे ढंग को भी आजमाकर देखे।"[4]

समाज एवं जीवन में व्याप्त यथार्थताओं से छायावादोत्तर युग की कविता पूर्णतया प्रभावित है। और 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि' यथार्थ के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने में बाधा का ही काम

---

1 – अज्ञेय – 'कलगी बाजरे की', हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ 57
2 – प्रभाकर माचवे – वक्तव्य , तारसप्तक, पृष्ठ 126
3 – प्रभाकर माचवे – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 126
4 – अज्ञेय – त्रिशंकु, पृष्ठ 73–74

करती है। इसीलिए मुक्तिबोध ने 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि' के खतरे से नयी हिन्दी कविता को सावधान करते हुए कहा है – ''नयी काव्य–प्रवृत्ति के क्षेत्र के कुछ महान व्यक्ति, अपनी वर्गीय अभिरूचि के फलस्वरूप, सौन्दर्य का जो प्रतिमान हमारे सामने रखते है, उसमें जब तक व्यापक संसोधन नहीं होगा, तब तक हम अपने ही जीवन अनुभवों का पूर्ण और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सकते हैं।''[1] वस्तुतः जीवनानुभवों को काव्यगत भावों को प्रभावशाली तथा प्रखर बनाने हेतु आवश्यक है कि 'जड़ीभूति सौन्दर्याभिरूचि' की सीमा को तोड़कर नयी भावानुकूल सौन्दर्याभिरूचि की स्थापना की जाये, जिसका सम्बन्ध यथार्थ की मनः–स्थिति से हो। अतः काव्य के परम्परागत ढॉचे में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। सत्य तो यह है कि बिम्ब, प्रतीक, छन्द अलंकार आदि शिल्पगत उपादान काव्यगत भावों को प्रभावशाली ढंग से तभी उद्घाटित कर सकते है जब कि वे समाज एवं जीवन की यथार्थ वास्तविकताओं के नजदीक हो तथा उससे पूर्ण हो ।

वस्तुतः 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि' एक प्रकार से सेंसर का कार्य करती है। वह हृदय में वर्तमान यथार्थ परिस्थिति की कटुता तथा तज्जन्य संवेदना को दबा कर रखे रहती है, उसको स्वतंत्र होने का मौका ही नही देती है। फलतः भाव एवं विचार वैयक्तिक सीमा मे ही चक्कर काटते रह जाते है। इस प्रकार न तो अभिव्यक्तिगत विकास तथा विस्तार ही सम्भव हो पाता है और न ही शब्द–संपदा एवं भाषा–शक्ति को व्यापकता प्राप्त होती है। इसीलिए मुक्तिबोध लिखते हैं कि –''यदि लेखक आज ईमानदार है, तो उसे अपने प्रति और अपने युग के प्रति उत्तरदायी होना होगा। उसे अपनी सौन्दर्यभिरूचि के सेंसर जरा ढीले करने होंगे, ... अपनी सौन्दर्याभिरूचि के सेंसर के वशीभूत होना ठीक नही है। अनुभव बृद्धि के साथ–साथ सौन्दर्याभिरूचि का विस्तार और पुनः–पुनः संस्कार होना आवश्यक है।[2] और तब कहीं जाकर अभिव्यक्ति माध्यमों में वह शक्ति पैदा होगी जो कि भावों एवं विचारों को बड़े ही मार्मिक, तीव्र तथा प्रभावोत्पादक ढ़ंग से संप्रेषित कर सकेगी ।

(ii) छायावादोत्तर युग की कविता में अप्रस्तुत–योजना –

जहाँ तक भावों की सम्प्रेषणीयता का सवाल है यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता कि अप्रस्तुत विधान भावों की सम्प्रषणीयता में अपना विशेष महत्व रखते है। छायावादोत्तर युग की कविता छायावादी काव्यधारा की चित्रात्मकता का विरोध करते हुए सामने आती है। अतः इस युग की कविता में छायावादी अमूर्त, वायवी अप्रस्तुतों को छोड़ मूर्त या यथार्थपरक नये अप्ररत्तुतों की

---

[1] – मंक्तिबोध – नयी कविता का आत्मसंघर्ष , पृष्ठ 150
[2] – मुक्तिबोध – नयी कविता का आत्मसंघर्ष , पृष्ठ 35

योजना की गयी है, लेकिन अपवाद स्वरूप ही सही फिर भी अमूर्त प्रस्तुतों की योजना भी मिलती हैं–

सिनेमा के गीत सा यह
वर्ग बद्ध समाज
गूँजते है शब्द, जिनका
अर्थ केवल शब्द।[1]

प्रस्तुत पंक्तियों में 'सिनेमा के गीत' अमूर्त अप्रस्तुत रूप में प्रयुक्त है जो 'वर्ग बद्ध समाज' की व्यंजना हेतु प्रयुक्त किया गया है।

अर्मूत के लिए मूर्त उपमानों का प्रयोग छायावादोत्तर युग की कविता में सर्वाधिक देखने को मिलता है। यह प्रवृति प्रगतिवादी कवियों तथा राष्ट्रीय धारा के कवियों में ज्यादा ही मुखर हुयी है। प्रमाण स्वरूप इन पंक्तियों का अवलोकन किया जा सकता है जिसमें 'स्वतंत्रता', 'निराशा', तथा 'विश्वास' जैसे अमूर्त प्रस्तुतों हेतु क्रमशः मूर्त अप्रस्तुतों 'मणि', 'पुरानी लाश' तथा 'पौधे' की नियोजना है –

पर, स्वतन्त्रता मणि–का इनसे
मोल न चुक सकता है ,[2]

जहाँ इन्सान ने
काली निराशा की पुरानी लाश को
भू की अतल गहराइयों में गाड़कर
रंगीन अभिनव आश के
विश्वास के पौधे लगाये है![3]

पूर्णतया नवीन धरातल पर प्रतिष्ठित इन अप्रस्तुतों की योजना को देखिए जिसमें कवि ने मौलिक तथा नवीन अप्रस्तुतों की योजना की है। इन अप्रस्तुतों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि ये युगीन संदर्भो एवं परिवेशों के ही बीच से लिए गये है –

सैतान के साम्राज्य में तूफान आया है,
जो जिन्दगी को मुक्ति का पैगाम लाया है।[4]

---

[1] – रागेय राघव – (हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद , डॉ0 विजयशंकार मल्ल, पृष्ठ 140 से उदधृत)
[2] – रामधारी सिंह 'दिनकर' – कुरूक्षेत्र, पृष्ठ 42
[3] – महेन्द्र भटनागर – 'जनता', जिजीविषा, पृष्ठ 54
[4] – महेन्द्र भटनागर – 'ललकार', नयी चेतना, पृष्ठ 3

अंधकार से लड़ें, मिट गये–
घर–घर द्वीप जलानें में ही
जिनके जीवन द्वीप बुझ गये[1]

सुन रहे कर रहा व्यंग्य, भरा
फिर अट्टाहास रावण खल–खल।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'तूफान' विद्रोह के लिए, जिन्दगी जन जीवन के लिए, 'अंधकार' अन्याय के लिए 'रावण' अन्यायी पुरूषों के लिए प्रयुक्त हुआ है, और यह सभी अप्रस्तुत युगीन संदर्भो के बीच से कवियों ने मौलिक रूप से गढ़े हैं।

उपर्युक्त अप्रस्तुत–योजना में कवियों ने अपनी सूक्ष्म एवं नवीन परिवर्तित दृष्टि का परिचय दिया है। हम पहले ही कह चुके है कि आज के कवि की दृष्टि बहिर्मुखी तथा वस्तून्मुखी रही है और वह व्यापक जीवन एवं समाज के क्षेत्र से उपमानों ही नहीं अपितु प्रतीकों का भी चयन करता है। गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा भी है – "जीवन के छोटे–से–छोटा पक्ष, साधारण–से–साधारण विषय अब काव्य की गरिमा के आयोग्य नही रहा। सधे–जमें और एक परिचित दायरे में घूमने वाले प्रतीक उपमानों के स्थान पर वस्तु जगत् के समस्त क्रिया–कलापों को उसने अपनी बर्द्धमान ऊँगलियों से छूकर उन्हें ग्रहण किया है। [3]

जिस प्रकार से छायावादोत्तर कवियों ने विषयगत धरातल पर अपनी जागरूकता का परिचय देते हुए छोटे–से–छोटे, तुच्छ–से–तुच्छ जन–जीवन को महत्ता प्रदान की है, उसी तरह उसने शिल्पगत धरातल पर साधारण–से–साधारण क्षेत्रों तथा वस्तुओं से भी उपमानों का चयन किया है। वस्तुतः यथार्थ का कवि यथार्थ जगत् के ही उपमानों को ग्रहण करता है। यथार्थ जगत से लिए गये उपमानों की दृष्टि से कुछ कविताएं अपना विशेष महत्व रखती हैं उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियों को देखा जा सकता है –

कोयले की खान की
मजदूरनी – सी रात
बोझ ढोती तिमिर का
विश्रांत–सी अवदात [4]

---

[1] – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'फिर आ गयी दीवाली', विश्वास बढता ही गया, पृष्ठ 39
[2] – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'युगान्तकारी कवि निराला के प्रति', विश्वास बढता ही गया, पृष्ठ 69
[3] – गिरिजा कुमार माथुर – 'निवेदनम', धूप के धान
[4] – सुलोचना रांगेय राघव – (संपा) – 'एकांत', रांगेय राघव ग्रन्थावली , खण्ड–9 पृष्ठ 67

चल रहे देवता थे
ढेला–सी बड़ी–बड़ी आँखे लिए................ ।[1]

लहू की बूँदों से
जलते है बिजली के बल्ब सूनी सड़कों पर लाल–लाल ।[2]

छिपे हुए कमरे में
जेल के कपड़े से फैली है चाँदनी, [3]

प्रस्तुत काव्य पंक्तियों में 'मजदूरनी', 'ढेला', 'लहू की बूंद', 'जेल के कपड़े', आदि ऐसे उपमानों को रखा गया है जो एक ओर सामाजिक यथार्थ की मूर्त व्यंजना करते हैं, भावों को सजीव रूप में प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर साधारण जनता के करीब होने के कारण सहज बोधगम्य भी हैं।

प्रयोवादी कवि अज्ञेय ने तो भावों की गहरी अभिव्यक्ति तथा चित्र को पूर्णतया मूर्त कर देने के लिए ऐसे भी अप्रस्तुतों की योजना की है जिसमें शीलता एवं अश्लीलता का भी ध्यान नहीं रखा गया है –

और वह दृढ़ पैर मेरा है
गुरू, स्थिर, स्थाणु–सा गड़ा हुआ
तेरी प्राण पीठिका पै लिंग–सा खड़ा हुआ।[4]

निःसन्देह ऐसे प्रयोग काव्य के लिए सराहनीय नहीं हो सकते लेकिन अज्ञेय या अन्य नये कवियों की यह मूल प्रवृत्ति नहीं रही है। नये कवियों ने भी यथार्थ जगत् से नये तथा मौलिक उपमानों की संयोजना की है । कवि भारती को 'शाम' एक थकी लड़की के रूप में दिखायी पड़ती है –

नींद भरी तरलायित, बड़री, कटावदार आँखें मूँद
शाम –
एक सफर में थकी हुयी लड़की–सी
आयी और मेरे पास बैठ गयी ।[5]

उपमान–प्रयोग की सहजता धर्मवीर भारती की इन पक्तियों में भी देखी जा सकती है–

---

[1] – केदारनाथ अग्रवाल – (हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद : डा0 विजयशंकर मल्ल . पृष्ठ 142 से उदघृत)
[2] – रामविलाश शर्मा – 'विश्वशांति', तारसप्तक , पृष्ठ 256
[3] – मुक्तिबोध – चाँद का मुह टेड़ा है , पृष्ठ 29
[4] - अज्ञेय – 'जना ह्मन', तारसप्तक , पृष्ठ 274–75
[5] – धर्मवीर भारती – 'शामः एक थकी लड़की' , सातगीत वर्ष , पृष्ठ 71

जैसे बंद गली में अंधे चमगादड़
दीवारों से टकरा–टकरा चीखा करते !
वैसे ही मै इस अधियारे में
चीख रहा ![1]

मदन वात्स्यायन की 'शुक्रतारा' कविता भी इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। इसमें शुक्रतारा को 'नवबधू', 'हेडलाइट', 'गार्ड की रोशनी', 'बैलगाड़ी की लालटेन', आदि रूपों में तथा सूरज को 'नन्हे–दूल्हे' के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[2]

अन्य नये उपमानों में दोपहर को 'जार्जेट के पीले–पल्ले सी ' (सातगीत वर्ष), पतझर के मौसम को 'गालों की गोराई सा' (धूप के धान), काली सड़क को 'तार कोल की अंगारे सी' (दूसरा सप्तक), लड़की को निकलने को 'छिपकली–सा' (दूसरा सप्तक), बताया गया है। वस्तुत: ये सभी प्रयोग छायावादोत्तर युग की कविता के अलंकार विधान (उपमान –योजना) के बदलते स्वरूप को प्रकट करते है।

इसके अतिरिक्त मानवीकरण, अन्योक्ति, वीप्सा, अनुप्रास, विशेषण, विपर्यय आदि परम्परागत अलंकारो का भी प्रयोग छायावादोत्तर युग की कविताओं में देखने को मिलता है। गिरिजाकुमार माथुर ने 'पृथ्वीप्रियतम' में बसंत को मानव के रूप में प्रस्तुत किया है। पंत की 'पतझर' निराला की 'कुकुरमुत्ता' केदार नाथ अग्रवाल की 'कोयले' आदि कवितायें अन्योक्ति अलंकार की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अनुप्रास अलंकार की योजना सहज एवं स्वाभाविक रूप में प्रायः सभी कवियों की कविताओं में देखी जा सकती है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग में अन्य अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है, लेकिन अप्रस्तुत – योजना तथा नये उपमानों की खोज में कवियों ने सर्वाधिक रूचि दिखायी है और इस क्षेत्र में उन्हें सफलता भी मिली है।

अत : हम कह सकते है कि छायावादोत्तर युग की कविता का अलंकार–विधान सहज एव स्वाभाविक है। और उसके चलते काव्यगत सरसता कहीं बाधित नहीं होती। छायावादोत्तर कवियों ने कहीं अलंकारों की सायास योजना नही की है। जिन अप्रस्तुतों की नवीन धरातल पर योजना हुई है वे सहज संवेध तथा सामाजिक जीवन से जुड़े है उसमें किसी प्रकार की कल्पनिकता, वायवीयता, या चित्रात्मकता के दर्शन नहीं होते। यह छायावादोत्तर युग की कविता के अलंकार विधान की नूतनता भी है और बदलते स्वरूप की पहचान भी ।

[1] – धर्मवीर भारती – 'दो आवाजे', ठंडा लोहा , पृष्ठ 63
[2] -- मदन वात्सायन – 'शुक्रतारा', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 81

घ – छन्द योजना–

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार छंद की सृष्टि अर्थमयी भाषा और संगीत के मिलन से होती है। अर्थहीन छंद–प्रवाह संगीत है। पर जब उनमें सार्थकता आ जाती है, तब वह छंद हो जाता है।[1] अर्थमयी भाषा और संगीत के मिलन से निर्मित ये छंद काव्य के स्वरूप निर्धारण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। प्राचीन युग का तो पूरा का पूरा साहित्य ही छंदवद्ध मिलता है। इसका प्रमुख कारण है – छंद लय युक्त रचना की स्मरणीयता छंद बद्ध रचना छंदहीन रचना की अपेक्षा अधिक सरलता से याद रखी जा सकती है । छंद की सार्थकता मात्र यहीं तक सीमित नहीं है अपितु वह काव्य की व्यंजना–शक्ति को भी द्विगुणित करती है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसे एक शक्ति के रूप में देखा है – " वह (छंद) एक समूहगत शक्ति है। चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचारित करने वाला महान साधक है।"[2]

छंदो के परम्परागत या रूढ़ ढाँचे कभी–कभी काव्य के यथार्थ तथा सहज अभिव्यक्ति में बाधा भी उत्पन्न करते हैं, और जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है तो कवि परम्परागत रूढ़ छंदो का त्याग करता है, नये छंदो का निर्माण करता है अथवा परम्परागत छंदो को नवीन साज–सज्जा प्रदान करता है। छंदगत स्वरूप में परिवर्तन के चिन्ह छायावादी कविता में ही देखने को मिल जाते है। लेकिन उसका वास्तविक स्वरूप सबसे अधिक छायावादोत्तर युग की कविताओं में स्पष्ट रूप से उभर सका है। छायावादोत्तर युग के कवियों ने परम्परागत छंदो का एक तरह से बहिष्कार किया है, जहाँ प्राचीन छंदो का प्रयोग भी हुआ है वहाँ वह पूर्णतया नवीन रूप में दिखायी देता है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग की कविता की छंद–योजना में वर्ण, मात्रा, तुक आदि तत्वों का रूप काफी बदल चुका है। कवि परम्परागत या बंधी–बधायी अनिवार्यता को अस्वीकार करता हुआ स्वतंत्र छंद–निर्माण की बात करता है – "कुछ विषय ऐसे होते है जो कविता से एक स्वतंत्र संगठन की मांग करते है, जिन्हें कोई बना–बनाया छंद रेडीमेड कपड़ो की तरह नहीं पहनाया जा सकता बल्कि जिनके लिए भाषा और छंदो को दूसरी तरह काटना–छाँटना पड़ता है ताकि उनका अपना व्यक्तित्व उभर सके, उन पर उतरन न मालुम दे। छंद, जिन्हें कविता का कारण कहना शायद गलत न होगा, कविता के विकास में कुछ इसी प्रकार टूटते और बनते चलते हैं जैसे भाषा के विकास में व्याकरण।"[3] मुक्त–छंद जिसकी शुरूआत महाप्राण निराला ने बहुत पहले ही कर दी थी तथा उसे प्रतिष्ठा प्रदान की थी– के प्रयोग तथा उसकी प्रतिष्ठा के प्रति छायावादोत्तर युग के कवियों ने सर्वाधिक रूचि दिखायी है । अतः उस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है ।

---

[1] – मुकुन्द द्विवेदी – (संपा) – हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली , खण्ड–7 पृष्ठ 130

[2] – मुकुन्द द्विवेदी – (संपा) – हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली , खण्ड–7 पृष्ठ 135

[3] – कुँवरनारायण – वक्तव्य, तीसरा सप्तक , पृष्ठ 150

(i) मुक्त छंद –

मुक्त छंद छायावादोत्तर युग की कविता में एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में विकसित हुआ है, जो परम्परागत रूढ़िवादिता एवं जड़वादिता को त्यागकर एक उन्मुक्तता एवं खुलेपन की आकांक्षा रखता है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग के कवियों ने मानव की मुक्ति नही अपितु काव्य की मुक्ति के विषय में भी विचार किया है। परम्परागत ही छंदो के स्थान पर मुक्त छंदो का व्यवहार काव्य को बंधी–बधांई नाली से निकालने का ही एक प्रयास है। मुक्त छंद की प्रतिष्ठा करते हुए निराला ने भी लिखा है – " मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है । मनुष्यों की मुक्ति कर्मो के बंधन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छंदो के शासन से अलग हो जाना । जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नही करता, उसके तमाम कार्य औरो को प्रसन्न करने के लिए होतें हैं –फिर भी स्वतंत्र, इसी तरह कविता का भी हाल है । मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।"[1]

वस्तुत : निराला ने मुक्त छंद की आवश्कता तथा उसका प्रयोग कविता में जीवन का यथार्थ तथा विषम परिस्थितियों एवं जटिल भावों को सही तथा सजीव अभिव्यक्ति देने हेतु किया है। मुक्त छंद की सहज संप्रेषणीयता के विषय में निराला ने लिखा है –

मुक्त छंद
सहज प्रकाशन वह मन का–
निज भावों का प्रकट आकृत्रिम चित्र।[2]

'पल्लव' के 'प्रवेश' में 'मुक्तछंद ' की मूल प्रवृत्ति को उद्घाटित करते हुए पंत ने लिखा – " यह 'स्वच्छन्द छंद' ध्वनि अथवा लय पर चलता है। जिस प्रकार जलौध पहाड़ से निर्झर–नाद में उतरता, चढाव में मंदगति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता–छाँटता, अपने लिए ऋजु कुंचित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छंद भी कल्पना तथा भावना के उत्थान–पतन, आर्वतन–विवर्तन के अनुरूप संकुचित प्रसारित होता, सरल–तरल, ह्रास–दीर्घ गति बदलता रहता है।[3] पंत ने अपनी कविता में लिखा भी है –

खुल गये छंद के बंध,
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त

---

[1] – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'– भूमिका, परिमल, पृष्ठ 8
[2] – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – जागरण, परिमल, पृष्ठ 204
[3] – सुमित्रानन्दन पंत – पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ 32

औ, युगवाणी बहती अयास![1]

वस्तुत : अब आज के भाव किसी एक सीमा में नहीं बंध सकते हैं तो भला अभिव्यक्ति का माध्यम कैसे बँधा रह सकता है ? इसी तथ्य को प्रकट करते हुए नरेन्द्र शर्मा लिखते है –

जो अबंध है उसे

छंद के प्रति कैसी अनुरक्ति ?[2]

सत्य तो यह है कि मुक्त छंद को किसी नियम या परिभाषा के अन्तर्गत नही बाँधा जा सकता क्योंकि भावों तथा विचारों की जटिलता अथवा कोमलता के चलते इसके स्वरूप में परिवर्तन होता चलता है। यद्यपि मुक्त छंद परम्परागत या रूढ़ बंधन में बंधना नही चाहता लेकिन लयात्मकता एवं संगीतात्मकता की प्रवृत्ति को अवश्य बनाये रखना चाहता है, साथ ही असमान एवं लम्बी पंक्तियों के प्रयोग को प्रश्रय देता हुआ भी वह गद्याात्मकता की प्रवृत्ति से पर्याप्त परहेज करता हैं ।

छायावादोत्तर युग के कवियों को काव्य के अन्तर्गत मुक्त छंद का प्रयोग अभीष्ट रहा है तथा मुक्त छंद की संगीतात्मकता को बनाए रखने के लिए विरामांत पंक्तियों की भी अवहेलना की है। इस प्रवृत्ति की ओर इंगित करते हुए गिरिजाकुमार माथुर लिखते हैं – " कविता में मुक्त छंद ही पसंद करता हूँ। मुक्त छंद में अधिकतर मैने विरामांत (एण्ड़ स्आप) पक्तियँ नही रखी । धारावाहिक (रन आन) ही रखी हैं।"[3] वस्तुतः धारावाहिक पंक्तियों के प्रयोग से कविता की गीत टूटने नही पाती और उसकी संगीतात्मकता भी बनी रहती है। वस्तुतः मुक्त छंद की गति या प्रवाह के टूटने का मतलब है भावों की तीव्रता या अभिव्यक्ति में व्यवधान का उत्पन्न होना। इसलिए आज का कवि जहाँ 'रूढ़ छंद–योजना' का त्याग करता है। वहीं वह मुक्त छंद की अबाध गति के प्रति सचेत भी रहता है। निराला ने मुक्त छंद की गति या प्रवाह पर हमेशा ध्यान दिया है ,और उनकी इस देन को आज का कवि सहर्ष स्वीकार करता है। प्रभाकर माचवे के अनुसार – "निराला द्वारा हिन्दी में लायी गयी मुक्त विषमचरणावर्तिनी, अतुकांत अक्षर मात्रिक छंद पर आश्रि तालात्मक पद्य–रचना पद्धति श्रेयष्कर हैं ।[4] "आगे कवि ने यह भी कहा है कि "उसमें (मुक्त छंद में) भावों के उतार–चढ़ाव के अनुकूल गति के श्लतद्रुत होने की सम्भावना यदि हो सके, और गेयता अधिक और गद्यात्मकता कम आ सके तो और अच्छा। अंतर्गत प्रास–योजना सहज हो वह शब्दनिष्ट न होकर अर्थनिष्ठ हो।"[5] सच्चाई तो यह है कि कवि सिर्फ इस तरह का विचार ही नही व्यक्त करता अपितु उसे रचनात्मक रूप भी देता है। 'बादल बरसै मूसलधार' की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है जिसमें विरामहीन पंक्तियों में भी गति अथवा प्रवाह भरा पड़ा है –

---

[1] – सुमित्रानन्दन पंत – नवदृष्टि, युगवाणी , पृष्ठ 3
[2] – नरेन्द्र शर्मा – अलिखित गीत , रक्तचन्दन , पृष्ठ 67
[3] – गिरिजा कुमार माथुर – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 169
[4] – प्रभाकर माचवे – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 126
[5] – प्रभाकर माचवे – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 126–27

बादल वरसै मूसंलधार
चरवाहा आमों के नीचे खड़ा किसी को रहा पुकार
रक्त रस जीवन पावस अपरम्पार
मेघों का उस क्षितिज कूल तक पता न पाऊँ
कि कैसा घुलमिल है संसार
एक धुँध है प्यार..............[1]

लेकिन भावों की सही अभिव्यक्ति तथा लयात्मकता के लिए आवश्यकतानुरूप विरामों का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है –

वर्षा
जिसने कर्षक को आकर्षा,
स्वस्थ, मस्त बूँदों ने आकर,
विपदग्रस्त धरती को स्पर्शा।[2]

वस्तुत : मुक्तछंद की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भावानुकूल आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन भी किया जा सकता है। इस कारण भी युगीन कवियों ने मुक्त छंद को एक आदर्श छंद के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। 'तीसरा सप्तक' के कवि प्रयागनारायण त्रिपाठी ने 'आत्मनिवेदन' में लिखा है – "मुक्त छंदमयी प्रत्येक कविता अपने–आप में पूर्ण एक इकाई होती है। वह भावानुकूल शब्द संयोजन का एक सुचिन्तिन और अनुशासित प्रयास होता है ऐसा प्रयास जो परम्परा से भिन्न होते हुए भी उससे संयुक्त है क्योंकि नया है और मालिक है, क्योंकि वह वर्तमान के एक क्षण की गहनतम अनुभूति की अभिव्यक्ति है।"[3] यही नहीं बल्कि कवि यह भी कहता है कि, "कविता में, चाहे वह आज की हो चाहे आगामी कल की, यदि लय नहीं है, यदि तंत्र–कौशल नहीं है, ...तो उसे मै कविता नहीं कहूँगा।"[4]

मुक्त छंद के अतिरिक्त अंग्रेजी छंद सानेट तथा उर्दू के गजल, रूबाई, शेर आदि का भी प्रयोग कुछ कवियों ने किया है और ये प्रयोग भी नवीनता के धरातल पर प्रतिष्ठित है । माचवे के सानेट–प्रयोग इस द्रश्टि से उल्लेखनीय हैं, इसकी काव्यगत लयात्मकता भी उल्लेखनीय है –

व्योम में सर्गव जा रहा सवर्ग सैन्य लाल
पितृ देश के अनन्य भक्त वीर नौजवान,
पंखहीन ये विहंगराज, सैकडों विमान,

---

[1] – प्रभाकर माचवे – 'बादल वरसै मूसलधार', तारसप्तक, पृष्ठ 148
[2] – प्रभाकर माचवे – 'वृष्टि', तारसप्तक, पृष्ठ 138
[3] – प्रयागनारायण त्रिपाठी – आत्मनिवेदन, तीसरा सप्तक, पृष्ठ 4
[4] – प्रयाग नारायण त्रिपाठी – आत्मनिवेदन, तीसरा सप्तक, पृष्ठ

शत्रु देख अग्नि वृष्टि, हो परास्त, हो बिहाल!
भूमि पर चला रही सधीर वीर–अंगना
तोप और विमाननाशिका व शस्त्रगाड़ियाँ!
आज रूस की हुई उजाड़ बाड़ियाँ
किंतु धैर्य की दिवाल हो जरा भी भंगना!
राक्षसी, बुभुक्षिता, महाकृतान्त – दूतिका
आ रही असंख्य चील–सी विमान वाहिनी,
आ रही अनन्त सबमैरीन सिन्धु वाहिनी
योजनान्त टैंक औ, विनाशिका स–स्वस्ति का,
किन्तु रूस का समस्त, स्वस्थ मस्त तरूण वर्ग
सोवियत–जयध्वनी, चढ़ रहा सु–शीश अर्ध्य![1]

शमशेर बहादूर सिंह ने गजल, रूबाई तथा शेर में भी रचनायें की हैं, साथ ही भावों एवं विचारों के अनुसार, उन्हें नये रूपों में प्रस्तुत किया है। 'कुछ और कविताएं' संग्रह में कवि ने मुक्त छंद के साथ–ही–साथ गजल, शेर, रूबाई आदि का भी प्रयोग किया है कुछ नमूने देखे जा सकते हैं –

हाँ, मेरे ही दिल की उम्मीद तू ही, मगर ऐसी उम्मीद,
फल जायं तो सारा संसार हो जाय निहाल एकाएक।[2]

जहाँ में अब तो कितने रोज
अपना जीना होना है
तुम्हारी चोटें होनी है –
हमारा सीना होना है ।[3]

शमशेर बहादुर सिंह के अतिरिक्त रघुबीर सहाय, दुष्यंत कुमार आदि कवियों ने भी गजल लिखे है लेकिन उनमें परम्परागत रूप से कवि या शायर का नाम नहीं दिया गया है (शमशेर की गजलों में यह प्रवृत्ति दिखायी देती है) अपितु अपने भावों को स्पष्ट रूपेण अभिव्यक्ति प्रदान करने का सफल प्रयास है । रघुबीर सहाय की एक गजल देखिए –

खोल दो अब द्वार प्रेयसि, प्रात का
मुक्त हो बन्दी अभागिन रात का
जानता हूँ किस लिए बिखरा तिमिर,

---

1 – प्रभाकर माचवे – 'द्राज्द्रास्तव्युते सोवित्स की सोयूज !', तारसप्तक, पृष्ठ 146
2 – शमशेर बहादुर सिंह – 'गजल', कुछ और कविताएँ, पृष्ठ 87
3 – शमशेर बहादुर सिंह – 'गजल', कुछ और कविताए, पृष्ठ 90

क्योंकि खिलता था ह्रदय जलजात का।[1]

इन छंदो को छायावादोत्तर युग में विशेष प्रमुख स्थान नहीं प्राप्त हो पाया है। यदि किसी छंद को पूर्ण प्रतिष्ठा एवं नवीनता का रूप प्राप्त हुआ है तो वह निःसन्देह मुक्त छंद ही है ।

(ii) काव्गत लयात्मकता और छंद –

आज साहित्यकार वर्ग भी यह मानने लगा है कि बौद्धिकता की अधिकता के चलते कविता दिनों–दिन गद्य के निकट चलती चली आ रही है । आज वह यह भी मानने लगा है कि, " बौद्धिक दृष्टिकोण की समुचित अभिव्यक्ति गद्य के माध्यम से ही हो सकती है और यही अभिव्यक्ति विकास की दिशा भी है।"[2] हम यह देख चुके है कि युगीन कवियों ने छंद की नये सिरे से व्याख्या करते हुए मुक्त छंद के नये स्वरूप की स्थिति को और अधिक दृढ़ बनाया है लेकिन कवियों ने छंद को किसी बन्धन के रूप में स्वीकार नहीं किया है –

छंद है यह फूल, पत्ती घास
सभी कुछ में है नियम की साँस
कौन सा वह अर्थ जिसकी अलंकृति कर नहीं सकती
यही पैरों तले की घास ?
समर्पण लय, कर्म है संगीत
टेक करूणा–सजग मानव–प्रीति
यीतन खोजो–अहं हीयति है। स्वयं रणरणित होते
रहो ,मेरे गीत।[3]

वस्तुतः मुक्त छंद में भी आज का कवि लय, संगीत, टेक, यति अथवा प्रवाह को बनाये रखना चाहता है। अज्ञेय ने तो कहा भी है कि छन्द का बध्य रूप वाक्य रचना या योजना अन्विति पर निर्भर करता है और आन्तरिक रूप लय पर। लय के भी दो प्रकार होते हैं। काव्य एवं गद्य के लय में बुनियादी अन्तर होता है। कविता की लय के लिए तुक–ताल आदि का बन्धन आत्यंतिक है। अनुभूति खरेपन और उक्ति की प्रभावशीलता कवि के आन्तरिक अनुशासन से बँधकर काव्य लय का निर्माण करते है। कविता का सर्वांग सौन्दर्य मात्र, वर्ण, गुरू, लघु के बन्धनों में गढे हुए छंदो की

---

[1] – रघुवीर सहाय – 'गजल', दूसरा सप्तक पृष्ठ 146
[2] – रामस्वरूप चतुर्वेदी – हिन्दी नवलेखन, पृष्ठ 82
[3] – अज्ञेय – 'छन्द है यह फूल' हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ 67

नीव पर ही नही वरन लय की बुनियादं पर टिक कर चलता है।[1] इस प्रकार अज्ञेय छंद के लिए 'लयात्मकता' की अवस्थिति को अनिवार्य मानते है।"

काव्यगत लय को बनाये रखने के लिए छन्दों के बीच लय का होना आवश्यक है और छायावादोत्तर कवियों ने लय की स्थिति को अक्षुण्ण बनाये रखने की कोशिश की है। लय और संगीत का गहरा सम्बन्ध है। गिरिजाकुमार माथुर ने लय को कविता का गुण माना है और लिखा है "कविता का गुण लय है और मात्र गीत गद्य का । जब तक कविता में लय न हो ,उसे गद्य से प्रथक करना कठिन है।"[2] वस्तुत : लय वह मूल तत्व है जो कविता को गद्य के क्षेत्र में अलग स्थापित करती है, और आज का कवि कविता के लिए बोलचाल के लय की आवश्यकता को महसूस करता हुआ कहता है कि, "आज की कविता बोलचाल की अन्विति मांगती है, पर गद्य की लय नहीं मागती । ......पर लय को वह उक्ति का अभिन्न अंग मानती है।" [3] कहना न होगा कि मुक्त छंद के बीच आज का कवि लयात्मकता या संगीतात्मकता बनाए रखने के लिए प्रयासरत भी रहा है । इसके लिए कहीं वह विरामांत पंक्तियों के स्थान पर धारावाहिक पंक्तियों को रखता है तो कहीं कवित्त एवं सवैया जैसे प्रचलित छंदो के आधार पर नवीन प्रयोग करता है। गिरिजाकुमार माथुर ने संगीतात्मकता की स्थिति को बकरार रखते हुए सवैया के विरामों के आधार पर मुक्त छंद की रचना की है –

आज है केसर रंग रँगे वन
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली–सी
केसर के वसनों में छिपा तन
सोने की छाँह–सा
बोलती आँखो में
पहिले बसन्त के फूल का रंग है ।[4]

नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध, शकुन्त माथुर आदि कवियों ने अपनी कविताओं में लयात्मकता की स्थिति को बनाए रखने हेतु कहीं–कहीं कई पंक्तियों के बाद चलकर विरामों का प्रयोग किया है। शकुन्त माथुर की 'जिन्दगी का बोझ' कविता इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। इस कविता में छब्बीस पंक्तियों तक कोई अर्धविराम अथवा विराम देखने को नहीं मिलता।

यद्यपि अज्ञेय की मुक्त छंद में रचित कविताओं में प्रवहमयता एवं लयात्मकता कही–कही बाधित होती दिखायी देती है –

---

[1] – अज्ञेय – नयी कविता, अंक – 2, पृष्ठ 37–38
[2] – गिरिजाकुमार माथुर – आलोचना , जनवरी , 1956 पृष्ठ 132
[3] – अज्ञेय – नयी कविता, अंक – 2 पृष्ठ 38
[4] – गिरिजाकुमार माथुर – 'आज है केसर रंग रँगे वन', तारसप्तक, पृष्ठ 171

घिर गंया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कंपित उरोजों पर झुका सा
विशद, वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष,
वज्र–सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ–सा ।[1]

फिर भी उनकी अनेक कवितायें लय या गीत की दृष्टि से सफल भी रहीं है –

झरने दो
साँस–साँस में भरने दो
धूल
धूसरित करने दो
तन को जो दूध की धूली तो नहीं!
सिहरने दो।
झरने दो।[2]

धर्मवीर भारती की कविताओं में लयात्मकता का अभाव यदा–कदा 'टूटा–पहिया' (सात गीत वर्ष) जैसी कविताओं में देखने को मिलता है जहाँ गद्यात्मकता की प्रवृत्ति विशेष प्रभावी रही है अन्यथा अन्य जगहों पर कवि का छन्द लय से पूर्णतया अनुशासित रहा है और भारती की यह लयात्मकता स्वाभाविक एवं आकर्षक भी है –

यह कोई अजनबी जगत है
जहाँ सूरज की किरणें है
और न चन्दा की उजियारी
जहाँ न तारों की छाया में
दो जवान दिल धड़का करते हैं
जहाँ होठ से मन्दिर प्रणय संगीत
इस तरह उड़ जाते है
जैसे घिसती किसी पुराने बरतन से
राँगे की कलई [3]

स्पष्ट है कि मुक्त छंद छायावादोत्तर युग की कविता में एक प्रमुख प्रतिमान के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुका है तथा लयात्मकता को भी कवियों ने इस मुक्त छंद की एक प्रमुख विशेषता

---

[1] – अज्ञेय – 'सावन मेघ' , तारसप्तकं , पृष्ठ 276
[2] – अज्ञेय – 'अन्धड़' , बावरा अहेरी , पृष्ठ 58
[3] – धर्मवीर भारती – 'मेरी परछाही', ठंडा लोहा, पृष्ठ 80–81

माना है। वस्तुतः आज का कवि भावानुकूल सहज एवं स्वाभाविक लय की योजना पर इसलिए भी विशेष जोर देता है क्योंकि वह मानता है कि लय की अभाव में कविता गद्य ही नहीं हो जाती अपितु उसकी प्रखरता में भी कमी आ जाती है । लयात्मकता की आवश्यकता पर विशेष जोर देते हुए मदन वात्स्यायन ने लिखा है कि – "आवेग–प्रधान होने के नाते कविता का लय मुक्त होना ही समीचीन है । ....लय के लिए हमें शास्त्रीय रागों से लेकर सिनेमाई गानों की धुनों तक कोई भी सुन्दर लय त्याज्य न समझनी चाहिए।.......लय की उपेक्षा करके उसके प्रभाव और उत्तेजना को बनाये रखना कठिन है।"[1] तात्पर्य यह कि लयात्मक अन्विति को बनाये रखने हेतु कवि समाज के व्यापक क्षेत्र से लय ग्रहण की छूट देता है तथा उन्हीं लयों के अपनाने पर जोर देता है। जो काव्य के लिए उपयोगी तथा भावाभिव्यक्ति में सहायक हो सकें। वस्तुतः छायावादोत्तर कवियों ने काव्यगत लय की अन्विति को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु अपनी कविता में एक ओर लोक गीतों एवं ग्राम–गीतों के लय पर आधारित नवीन छंदों में काव्य की रचना की है तो दूसरी ओर उर्दू, अंग्रेजी के सानेट , गजल, रूबाई भोर आदि छन्दों की लयो पर भी आधारित काव्य–रचना की है और यह प्रवृत्ति छायावादोत्तर युग के कवियों की व्यापक दृष्टि का परिचय देती है ।

(iii) लोकलय पर आधारित छंद एवं छायावादोत्तर युग की कविता –

छायावादोत्तर कवियों का मुख्य उददेश्य रहा है – कविता को जन सामान्य के अधिक से अधिक नजदीक पहुँचाना और इसके लिए युगीन कवियों ने जहाँ सामाजिक कथ्य को अपनाया है लोकभाषा या जनभाषा की खोज तथा उसकी साहित्यिक प्रतिष्ठा की है वहीं लोकगीतों के लयों पर आधारित छंदो के माध्यम से भी काव्य की सर्जना की है। प्रगतिवादी कवियों की दृष्टि लोकोन्मुखी थी। अतः कवियों ने काव्यभाषा को ही नहीं अपितु छंदो को भी लोकोन्मुख तथा जन सामान्य के लिए सुबोध बनाया। इसके लिए लोकजीवन में प्रचलित बिरहा, कजली, चैती आदि गीतों के लयो को आधार बनाकर भावानुकूल नये छंदो की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार की लयात्मकता की दृष्टि से रामविलास शर्मा की 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कविता विशेष उल्लेखनीय है –

हाथी घोड़ा पालकी,
जै कन्हैया लाल की।
हिन्दु मुसलमान की
जै हिटलर भगवान् की।
जिन्ना पाकिस्तान की।

[1] – मदन वातस्यायन – वक्तव्य, तीसरा सप्तक, पृष्ठ 73

टोजो और जापान की

बोलो बन्दे मातरम्

सत्यम शिवं सुन्दरम्।[1]

वस्तुतः लोकगीतो में जिस लय की योजना होती हैं उससे सामान्य जनता सुपरिचित होती है । अतः उन लयों पर आधारित कविता महज बोधगम्य होती है। लोक प्रचलित लयों पर आधारित छंदो के पीछे छायावादोत्तर युग के कवियों की यही मूल दृष्टि रही है। रामविलास शर्मा, त्रिलोचन, नागार्जुन, शिवमंगल सिंह 'सुमन' ,भवानी प्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, शमशेर बहादुर सिंह आदि की कविताएं इस दृष्टि से विशिष्ट है। यह बात दूसरी है कि कहीं–कहीं इन कवियों की कविताओं में सुव्यवस्थित तयान्विति के अभाव में काव्यगत प्रवाह बाधित होता दिखायी देता है। और गद्यात्मकता प्रमुख तौर पर उभर कर सामने आती है लेकिन यह गद्यात्मकता प्रमुख प्रवृत्ति नहीं बन पाती है । गिरिजाकुमार माथुर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मदन वात्सायन, केदारनाथ सिंह आदि कवियों ने भी लोकगीत या लोक शैलियों के आधार पर काव्य रचनायें प्रस्तुत की हैं। लोकगीत के लय पर आधारित शमशेर की इन पंक्तियों को देखिए –

निदिंया सतावे मोहें सँझही से सजनी ।

सझही से सॅजनी ।।

प्रेम बतकही

तन कहू न भावे

सँझही से सजनी ।

निदिंया सतावे मोहें [2]

इस संदर्भ में भवानी प्रसाद मिश्र की इन पंक्तियों को भी देखा जा सकता हैं

फुर–फुर उड़ी फुहार अलक हल मोती छाये री,
खड़ी खेत के बीच किसानिन कजरी गाये री,
झर–झर झरना झरे, आज मन प्राण सिहाये री,
कौन जन्म के पुण्य कि ऐसे शुभ दिन आये री,
रात सुहागिन गात मुदित मन साजन परसारी,
पीके छूटे आज प्यार के, पानी बरसारी ।[3]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'चुपाई मारौ दुलहिन' 'बनजारे का गीत', 'सावन का गीत' (कविताएं–एक) मदन वात्स्यायन की 'दो विहाग' (तीसरा सप्तक) केदारनाथ सिंह की 'फागुन का

---

[1] – रामविलास शर्मा – सत्यं शिवं सुन्दरम', तारसप्तक, पृष्ठ 246
[2] – शमशेर बहादुर सिंह – 'गीत', कुछ और कविताएं, पृष्ठ 81
[3] – भवानी प्रसाद मिश्र – ' मंगल वर्षा ', दूसरा सप्तक , पृष्ठ 14

गीत', 'पात नये आ गये', 'घानों का गीत', 'रात' (तीसरा सप्तक) कविताएं लोक–लयों पर आधारित हैं । उदाहरणार्थ 'धानो का गीत' कविता की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है –

धान उगेगें कि प्रान उगेगें
उगेगें हमारे खेत में,
आना जी बादल जरूर!
चदा को बाँधेगे कच्ची कल गियों
सूरज को सूखी खेत में,
आना जी बादल जरूर!
आगें पुकारेगी सूनी डगरिया
पीछे झुकें बन–बेंत,
संझा पुकारेगी गीली अखड़ियाँ
भोर हुए धन खेत ;
आना जी बादल जरूर ।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने लोकगीतों के लयादर्श पर नवीन छंदो की रचना की है तथा मुक्त छंद के बीच भी लय की अन्विति को बनाए रखने की भरपूर कोशिश की हैं। वस्तुतः काव्यगत कहिए या छंदगत लयात्मकता को बनाये रखना छायावादोत्तर कवियों का प्रमुख उद्देश्य भी रहा है ।

अन्तत : छायावादोत्तर युग की कविताओं के छंद विधान तथा उसके बदले हुए स्वरूप के विषय में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि युगीन कवियों ने परम्परागत छंद बन्धन को रूढ़ एवं अनावश्यक मानते हुए मुक्त छंद को प्रतिष्ठा प्रदान की है, उसका विकास किया है तथा उसमें लयात्मकता की अन्विति को एक आवश्यक तत्व के रूप में माना है, और काव्यगत एवं छंदगत लयात्मकता की अन्विति को बनाये रखने के लिए उसने लोकगीतों तथा विदेशी छंदो के लयों के आधार पर नये छंदो का निर्माण किया है। छायावादोत्तर युग की कविताएं इस बात की प्रमाण है कि कवि छंद के बीच लयात्मकता की स्थिति को कायम रखने के लिए हमेशा सजग एवं सचेत भी रहा है ।

(iv) अर्थलय एवं कविता –

शब्द एवं ध्वनि लय के साथ ही साथ छायावादोत्तर युग में 'अर्थलय' की भी बात उठायी गयी है । नयी कविता के कवि जगदीश गुप्त ने इस 'अर्थलय' की बात को सर्वाधिक सशक्तता से

[1] – केदारनाथ सिंह – 'धानों का गीत', तीसरा सप्तक , पृष्ठ 127–28

उठायी हैं। गुप्त जी कविता के लिए लय को आवश्यक मानते है। उनके अनुसार – "शब्दार्थ मयी कविता का इस लय तत्व से जन्मजात सम्बन्ध है जो मूलत : इतना धनीभूत एवं व्यापक है कि लय को कविता का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किये बिना उसके सम्पूर्ण स्वरूप की व्याख्या करना कठिन होता है।"[1] वस्तुत : लय गीत और यति के पारस्परिक संधात से उत्पन्न होती है और यह 'लय' भाव या अर्थ को सशक्त एवं सहज रूप में प्रस्तुत करने में सहायक होती है साथ ही काव्य को जीवंत एंव सशक्त भी बनायी है ।

डॉ0 जगदीश गुप्त ने 'अर्थलय' के ग्रहण पर विशेष जोर देते हुए उसको प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार आज की परिस्थितियाँ काफी बदल चुकी है और आज के बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए यह सम्भव नही है कि वह यथार्थ की उपेक्षा होने लगी है। जिसमें उसकी भावात्मक सत्ता के साथ–साथ उसके बौद्धिक व्यक्तित्व का भी संतुलित समावेश हो। बिना किसी पराजय एवं क्षोभ के वह अपनी सम्पूर्ण चेतना को आस्वादन से पूर सके। इसे एक दृष्टि से नये सौन्दर्य बोध का उदय।"[2] और इसीलिए कवि शब्द या ध्वनिगत लय से ही संतोष नहीं करता अपितु 'अर्थलय' की भी खोज करता है। इस प्रकार डॉ0 जगदीश गुप्त ने 'अर्थलय' की आवश्यकता पर विचार करते हुए उसकी प्रतिष्ठा करते हुए अपने मत के पक्ष में प्रमाण स्परूप आई. ए. रिचर्डस. टी. एस. इलियट, स्टीफेन स्पेंडर, हर्बटरीड, जी. एच. लीविस अरविन्द, मारूलकर, आदि के मतो को प्रस्तुत किया है। डॉ0 गुप्त ने जिन विचारकों के मतो को अपने मत की पुष्टि हेतु प्रस्तुत किया है वे सभी शब्द एवं अर्थ की अविभाज्यता तथा उनके सहज सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी स्पष्टत: अर्थलय की स्थापना करते नहीं दिखायी देते लेकिन डॉ0 गुप्त ने उनके सिद्धांतों के बीच 'अर्थलय' की भरपूर संभावना देखी है ।

डॉ0 गुप्त ने कविता में 'अर्थलय' की प्रधानता को आवश्यक मानते हुए उसके स्वरूप की व्याख्या करते हैं तथा लिखते हैं कि "जिस प्रकार ध्वनि अथवा शब्द खण्डों का फिर–फिर कर आना क्रमिक रूप से लय के विभिन्न प्रकारों का जन्म देता है उसी प्रकार, अर्थखण्डो का क्रमिक, ग्रथित आवर्तन प्रत्यार्वतन अर्थ की लय के विविध रूपों की सृष्टि करता है। शब्द के लय की जितनी विधायें कविता में व्यवहत होती है उनसे कई गुनी अधिक विधायें अर्थ की लय की रही है ,केवल उनके पूरे स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न अभी तक नहीं किया गया है। इस प्रकार गुप्त जी ने जहाँ अर्थलय की प्रधानता को आवश्यक माना है वहीं कविता के सही पाठ विधि की भी बात की है ।

---

[1] – जगदीश गुप्त – नयी कविता : स्वरूप और समस्याये पृष्ठ .86

[2] – जगदीश गुप्त – नयी कविता : स्वरूप और समस्याये पृष्ठ 86

छायावादोत्तर युग की कविता– विशोकर नयी कविता– में जो लयात्मकता का अभाव मिलता है। उन संदर्भ में गुप्त जी की मान्यतायें काफी महत्व रखती है। वस्तुतः गुप्त जी यह मानते हुए भी कि छन्दात्मकता अर्थात शब्द की लय कविता को अतिरिक्त शक्ति प्रदान करती हैं । उसको (शब्दालय को) वहीं तक ग्राहा मानते हैं जहाँ तक कि वह काव्यार्थ को प्रस्फुटित करने में सहायक होती है। उनका कहना है कि कविता को केवल शब्दालय के सहारे पढ़ने वाला बहुत कुछ खो देता है इसके विपरीत सही पाठ विधि उसके सूक्ष्म भावों तथा सांकेतिक अर्थो को उभारने में सहायक होती है। यह पाठ विधि छन्द की तरह जड़ मात्रिक क्रम से नियोजित न होकर स्तर के आरोह अवरोह पर आश्रित रहती है जिसका निश्चय अर्थ की लय करती है। इस प्रकार डॉ0 जगदीश गुप्त काव्य के अन्तर्गत आयी गद्यात्मकता को अवांछनीय नहीं मानते अपितु उसे पूर्ण प्रतिश्ठा प्रदान करते हैं। उनका कहना है कि, ''श्रेष्ठ कविता के लिए शब्दार्थ का सयुक्त रूप से लयन्वित होना आवश्यक होना आवश्यक है किन्तु कविता को अर्थ प्रधान मानने के बाद केवल अर्थ की लय के सहारे सजिति ऊपर से गद्य जैसी लगने वाली रचना को कविता के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। अधिक–से–अधिक ऐसी स्थिति ही कहा जा सकता है।''[1]

इस प्रकार गुप्त जी ने 'अर्थलय' के सदस्य को स्पष्ट करते हुए उसकी सही व्याख्या प्रस्तुत करते हुए काव्य के अन्तर्गत गद्यात्मकता की स्थिति को भी मान्यता प्रदान की है । वस्तुत : छायावादोत्तर युग की नयी कविता की काव्यधारा में अनेक कवियों ने ऐसी रचनायें प्रस्तुत की है जो कि पूर्णतया गद्यात्मक प्रवृत्ति लिए हुए है। शब्दलय या ध्वनिलय को काव्य के लिए आवश्यक मानने वाला व्यक्ति इन कविताओं को काव्य मानना भी नही चाहता लेकिन गुप्त जी ऐसे काव्यों को काव्य की श्रेणी में मानते है तथा उसकी महत्ता अर्थलय के द्वारा स्थापित करते हैं । अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए तथा अर्थलय का बोध कराने हेतु उदाहरण के तौर पर गुप्त जी ने कुछ कविताओं का भी हवाला दिया है ।

अतंत : हम कह सकते है कि गुप्त जी की अर्थलय की प्रतिष्ठा पूर्णतया नवीन तथा मौलिक है तथा वह छायावादोत्तर युग के शिल्पगत स्वरूप के बदलाव की सूचना भी देती है, लेकिन एक बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि यह गुप्त जी की विचारधारा है सम्पूर्ण छायावादोत्तर युग के कवियों की नहीं। छायावादोत्तर युग का कवि जिस लयात्मकता की बात करता है उसकी चर्चा हम पहले कर चुके है। वस्तुतः लयात्मकता कविता के लिए एक आवश्यक तत्व है उसके अभाव में उसके उच्च मूल्यों में कमी आ सकती है इसीलिए आज का कवि मुक्त छद को अपनाते हुए उसमें गद्यात्मकता की प्रवृत्ति को हावी नहीं होने देना चाहता है, अपितु एक प्रकार

---

[1] – जगदीश गुप्त – नयी कविता स्वरूप और समस्यायें , पृष्ठ 91

की लयात्मकता या निरंतरता कायम रखना चाहता है। यही कारण है कि गुप्त जी के उदारवादी अर्थलय को पर्याप्त प्रतिष्ठा नही मिल पायी; फिर भी उनका योगदान रेखांकित करने योग्य है ।

6 – काव्यशैली का बदलता स्वरूप –

यद्यपि छायावादोत्तर युग की कविता में वर्णनात्मक विश्लेषणात्मक, उद्बोधनात्मक, भावात्मक या उच्छासमूलक, मुक्त आसंग (फ्री–एसोसिएशन) एकालाय, संलाय आदि अनेकानेक शैलियों का प्रयोग हुआ है लेकिन व्यंग्य–शैली की मुखरता सर्वाधिक दिखाई पड़ती है । व्यंग्य–शैली के साथ–ही–साथ उदबोधनात्मक शैली को भी पर्याप्त स्थान मिला है। छायावादोत्तर युग का कवि सामान्य जन–जीवन से जुडकर अपनी रचना करता है और यही कारण है कि वह चीजों को खुलासे रूप में प्रकट करना चाहता है। वस्तुतः वर्णनात्मक भौली के माध्यम से कवि अपने कथ्य को व्यापक रूप प्रदान करता है। वर्णनात्मक शैली की दृष्टि से पंत की 'वे आँखे', 'वह बुढढा', 'ग्राम श्री' निराला की 'रानी और कानी ', 'मास्को डावलाग्स', 'भिक्षुक', 'झिगुंरी डटकर बोला' त्रिलोचन की 'मोरई केवट के घर' केदारनाथ अग्रवाल की 'चैतू रनिया' सुमन की 'गुनिया का यौवन' कवितायें उल्लेखनीय हैं ।

वैज्ञानिक एवं तार्किक विश्लेषण पर जोर देता हुआ छायावादोत्तर युग का कवि प्रत्येक चीज को विश्लेषित करने के बाद अपनाता है। छायावादोत्तर युग विषमताओं का युग रहा है और इसमें कवि बौद्धिक विश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ है। विश्लेषणात्मक शैली की दृष्टि से पंत की 'बापू मूल्याकंन 'मार्क्स के प्रति' साम्राज्यवाद 'भूत दर्शन' त्रिलोचन की 'एकाधिकार के पंजे में' , 'जिस समाज में तुम रहते हो' नरेन्द्र शर्मा की 'रक्त–चंदन' की कवितायें रेखांकित की जा सकती है । भावात्मक या उच्छवास मूलक शैली की दृष्टि से दिनकर की 'ताण्डव' हिमालय 'दिल्ली' हाहाकार' रामविलास शर्मा की 'गुरूदेव की पुण्य भूमि' गिरिजाकुमार माथुर की 'एशिया का जागरण' शिवमंगल सिंह 'सुमन' की 'नई आग है नयी आग है' आज देश की मिट्टी बोल उठी है मेरा देश जल रहा कोई नहीं बुझाने वाला 'त्रिलोचन की 'सोच समझकर चलना होगा' कवितायें विशिष्ट है ।

मुक्त आसंग (फ्री एसोसिएशन) शैली की दृष्टि से अज्ञेय की 'उषः काल की भव्य शाति' , 'कंकरीट का पोर्च', नरेश मेहता की 'हवा चली' कविताओं को देखा जा सकता है। 'उषः काल की भव्य शांति'' में कवि ने अनेक खण्डित बिम्बों की सर्जना की है। यहाँ कवि स्व की लघुता को स्वीकार करने के लिए अनेक विषयों को एक साथ उपस्थित करता है। निःसंदेह छायावादोत्तर युग की कविता में प्रयुक्त इस शैली के पीछे मनोविश्लेषण बाद का प्रभाव रहा है ।

एकालाप शैली की दृष्टि से गिरिजाकुमार माथुर की 'यज्ञावल्क' और गार्गी, कविता विशेष उल्लेखनीय है। संलाप–शैली में दो पात्रों के बीच की बात को प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुतः संलाप–शैली में नाटकीयता होती है लेकिन इसके संवाद नाटक से भिन्न होते है संलाप–शैली की दृष्टि से गिरिजाकुमार माथुर की 'देह की आवाज' कविता को देखा जा सकता है। इसमें शरीर और मन के बीच के वार्तालाप को उद्घाटित किया गया है –

मन ने शरीर से पूछा
क्यों है इतना आकर्षण
रसमय चुम्बक मय कसी देह का

* *

पशुओं जैसे सब काम
देह करती हैं
घिनभरी जन्मती, जीती है, मरती है

* *

उत्तर में फिर आवाज
देह की बोली

* *

वे बुद्धि, ज्ञान, आत्मा की सभी अदितियाँ
हैं देह–तेज की जयोतित भावाकृतियाँ
खिलता है देह बीज से
पंकज मन का–[1]

लोकगीतों की शैली पर आधारित गीतों एवं प्रगीतों की रचना भी छायावादोत्तर युग में खूब हुयी है। नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', 'बच्चन', 'सुमन', 'केदारनाथ अग्रवाल', धर्मवीर भारती, केदार नाथ सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, रामविलास शर्मा, सर्वेश्वर, दुष्यंत कुमार आदि की कवितायें इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। भवानी प्रसाद मिश्र की 'मंगलवर्षा' कविता को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है –

पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसाती।
हरियाली छा गयी , हमारे सावन सरसाटी।
बादल आये आसमान, में धरती फूली री,
अरी सुहागिन, भरी मांग में भूली–भूली री,

[1] – गिरिजाकुमार माथुर – 'देह की आवाज', धूप के धान, पृष्ठ 97–100

बिजली चमकी भाग सखीरी, दादुर बोले री,
अन्ध प्राण ही बही, उड़े पंछी अनमोले री,
छन–छन उठी हिलोर, मगन मन पागल दरसारी।
पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।[1]

इसके अतिरिक्त सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'बन्जारे का गीत', 'सावन का गीत', 'चुपाई मारौ दुलहिन'; धर्मवीर भारती का 'ठण्डा लोहा' संग्रह की कुछ कविताएं; केदारनाथ सिंह की 'पात नये आ गये', 'धानों का गीत', 'रात', मदन वात्स्यायन की 'दो विहाग' कवितायें भी लोकशैली की दृष्टि से अपनी विशिष्टता रखती है ।

छायावादोत्तर युग की परिस्थितियाँ काफी जटिल रही हैं। सजग रचनाकारों ने युग की विषमताओं तथा समस्याओं से जूझने के लिए सामान्य जनता का आहवान किया है। उद्बोधनात्मक शैली के माध्यम से कवि ने जनता में नयी चेतना जगाकर उन्हें शोषक और उनकी समाज–व्यवस्था के प्रति जमकर मुकाबला करने के लिए प्रेरणा प्रदान की है –

ओ भिगमंगे, अरे पराजित, ओ मजलूम, अरे चिरदोहित,
तू अखण्ड भण्डार शक्ति का; जाग अरे निद्रा–सम्नोहित,
प्राणों को तड़पने वाली हुँकारों से जल – थल भर दे
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित फलीता धर दे।[2]

उद्बोधनात्मक शैली में कवि रचनाकारों से भी कहता हैं –

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओं, जिससे उथल–पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि–त्राहि स्वर नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का, धुवाँधार जग में छा जाये।[3]

निराला, नागार्जुन, पंत, केदारनाथ अग्रवाल, महेन्द्र भटनागर, रांगेय राघव, रामविलास शर्मा, गिरिजा कुमार माथुर, आदि की कविताएं व्यंग्य शैली की दृष्टि से विशेष महत्व रखती है। निराला की 'कुकुरमुत्ता', 'रानी और कानी', 'कुत्ता भौकनें लगा ', 'झींगुर डटकर बोला', नागार्जुन की 'प्रेत का बयान', 'सौन्दर्य प्रतियोगिता', 'जयति नखरंजिनी', 'बजट–वार्तिक', पंत की 'ग्राम देवता', केदारनाथ अग्रवाल की 'सोने की मूर्ति', 'देवमूर्ति', कविताएं इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं ।

प्रतीक, बिम्ब, मिथक, आदि के ही समान छायावादोत्तर कवियों ने व्यंग्य को भी एक सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया हैं। यह बात दूसरी है कि व्यंग्य का सर्वाधिक मुखर स्वर

---

[1] – भवानी प्रसाद मिश्र – 'मंगल वर्षा' दूसरा सप्तक, पृष्ठ 14
[2] बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' – 'जूठे पत्ते' , हम विषपायी जनम के , पृष्ठ 494
[3] बालकृश्ण शर्मा 'नवीन' – 'विप्लव गायन' , हम विषपायी जनम के , पृष्ठ 429

प्रगतिवादी कवियों में ही देखने को मिलता हैं। छायावादोत्तर युग का पूर्ववर्तीकाल ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की पराधीनता से जकड़ा हुआ था तथा धर्म, ईश्वर, एवं सम्प्रदाय के नाम पर हमारे समाज में अनेकानेक कुरीतियाँ एवं वाह्याडम्बर छाये हुये थे। जड़ीभूत एवं स्तब्ध मानसिकता से ऊपर उठकर छायावादोत्तर युग के कवियों ने एक ओर धर्म एवं ईश्वर के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त करते हुए उसके ठेकेदारों के प्रति व्यंग्य किये हैं तो दूसरी ओर ब्रिटिश शासकों एवं उनकी शासन व्यवस्था की कटु आलोचना की है। सत्य तो यह है कि अभिव्यक्ति विचारों एवं भावों को व्यंग्य के माध्यम से और अधिक तीव्र, तीखा एवं प्रभावशाली बनाया गया है। नागार्जुन, दिनकर, रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, निराला, पंत, गिरिजा कुमार माथुर, महेन्द्र भटनागर आदि कवियों ने व्यंग्य काफी तीखे एवं प्रभावशाली बन पड़े है। वस्तुतः यथार्थ जीवन के चित्रण को प्रभावशाली बनाने हेतु छायावादोत्तर युग के कवियों ने सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, एवं साहित्यिक, व्यग्यों को माध्यम के रूप में अपनाया है ।

छायावादोत्तर युग के कवियों ने पूँजीवादी समाज–व्यवस्था, निर्धन–जीवन, देशी शासन–व्यवस्था, पण्डे, पुरोहित, ईश्वर, साम्प्रदायिकता की भावना, आर्थिक विषमता, वर्ग–विषमता, सामाजिक और राजनीतिक नेताओं की स्वार्थपरता आदि पर व्यंग्य किये है। इस प्रकार उसका दायरा व्यापक है। बाहर से साम्यवादी होने का स्वांग रचाने वाले तथा अन्दर से पूर्ण पूँजीवादी होने वाले दोहरे व्यक्तित्व के व्यक्ति के ऊपर निराला का यह व्यंग्य देखिए –

आज तक पंडित जी देश में विराजते है।
माता जी को स्विटजरलैण्ड के अस्पताल
तपेदिक के इलाज के लिए छोड़ा है।
बड़े भारी नेता हैं।

* *

मिलों के मुलाफे खाने वालो के अभिन्न मित्र;
देश के किसानों, मजदूरों के भी अपने सगे।
विलायती राष्ट्र से समझौते के लिए।

युगीन जनता में फैली धर्मान्धिता पर व्यंग्य करते हुए निराला ने लिखा –

झोली से पुए निकाल लिये,
बढ़ते कपियों के हाथ दिये;
देखा भी नहीं उधर फिर कर,
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर;
चिल्लाया किया दूर दानव,

बोला मै– धन्य श्रेष्ठ मानव ।[1]

तत्कालीन ब्रिटिश शासकों की शासन व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा –

इनसानों को गीले कपड़े–सा निचोड़कर,
स्तम्भ मुखी शक्तियाँ हाँथ ले
कर राष्ट्रीयकरण विचारों के सेक्टर का
काम सोचने का भी है ले लिया राज्य ने।[2]

वर्तमान शासन–व्यवस्था पर किये गये व्यंग्य की दृष्टि से भारत भूषण की कवितायें भी काफी तीखी एवं सशक्त बन पड़ी हैं –

और यह भी पढ़ाया जायगा
कि एक और राज्य था
जो संसार भर में शांति का मंत्र फूँकता रहा
पर जिसे अपने ही घर में
भाई–भाई के बीच दीवार खड़ी करनी पड़ी
जो हर पराधीन देश की मुक्ति में लगा रहता था
पर जिसके अपने ही अंग पराये बंधन में जकड़े रहे।[3]

एक ओर देश पराधीन था तो दूसरी ओर हमारे देशोद्वारक देश के लिए आजादी की चाहत रखते हुए भी उसके लिए अपने सुखों को तिलांजलि नहीं देना चाहते थे। ऐसे ही देशो द्वारकों पर व्यंग्य करते हुए माचवे ने लिखा है –

मृदुल नींद नीड़ की गोद में
और परों की सेज नरम,
बाहर झुलसी हवा बह रही
रह – रहकर लू तेज गरम,
बाहर अर्धनग्न लीला
भीतर क्रीड़ा – लवरेज हरम,
करूणा के आँगन में नेता,
दे थोड़ी – सी भेज शरम।[4]

---

[1] – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' – 'दान', अनामिका , पृष्ठ 25
[2] – गिरिजा कुमार माथुर – 'गीतिका', तारसप्तक, पृष्ठ 216–17
[3] – भारत भूषण अग्रवाल – 'आने वाले से एक सवाल', तारसप्तक, पृष्ठ 112
[4] – प्रभाकर माचवे – 'देशोंद्वारकों से', तारसप्तक, पृष्ठ 141

छायावादोत्तर युग के कवियों की दृष्टि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रही है अपितु वह चारों ओर चक्कर लगाती है। यही कारण है कि वह शुद्ध कलावादियों को भी अपने तीखे बाणों से बेधकर रख देता है। यथार्थ एवं लोकजीवन से विमुख होकर कल्पना मे जीने वाले कवियों एवं कलाकारों के प्रति इस व्यंग्य को देखिये –

वह कलाकार
क्या परवा, उसको एक ओर भूखे मरते लाखों प्राणी,
वह दिव्य–दृष्टि से देख रहा, उसकी तो युग–युग की वाणी,[1]

तथा कथित देशोंद्वारकों तथा शुद्ध कलावादियों पर किये गये व्यंग्य की दृष्टि से रामविलास शर्मा की 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कविता विशेष उल्लेखनीय है। इस कविता में कवि ने हिन्दुस्तानी एवं पाकिस्तानी देशभक्तों की निष्क्रियता तथा शुद्ध कलावादियों पर तीखे एवं करारे व्यंग्य किये हैं –

हिन्दुस्तान हमारा है,
प्राणों से भी प्यारा है।
इसकी रक्षा कौन करे ?
सेंत – मेंत में कौन मरे ?
पाकिस्तान हमारा है।
प्राणों से भी प्यारा है।
इसकी रक्षा कौन करे ?
बैठो हाथ पर हाथ धरे।
गिरने दो जापानी बम।
सत्यं शिवं सुन्दरम्।
शुद्ध कला के पारखी,
कहतें हैं उस पार की।
इस दुनिया को कौन कहे ?
भव सागर में कौन बहे ?
जै हो राधा रानी की
या जिसने मनमानी की
राधा या अनुराधा से,
छिपकर अपने दादा से।
कैसी बढ़िया चाल की,

[1] – नेमिचन्द्र जैन – 'कवि गाता है', तारसप्तक, पृष्ठ 59

बलिहारी गोपाल की।

उसके भक्तों में से हम।

सत्यं शिवं सुन्दरम्।[1]

केदारनाथ अग्रवाल की 'चन्दू चना चबैना खाता' तथा 'चित्रकूट के यात्री' कवितायें भी सामाजिक–राजनीतिक व्यंग्य की दृष्टि से विशेष महत्व रखती हैं। पूंजीवादी समाज एवं उसकी शासन व्यवस्था पर किये गये मुक्तिबोध के इस व्यंग्य को देखिये –

तेरे भक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे हास में भी रोग–कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र।
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाला होकर एक
अपनी उष्णता से धो चले अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंश केवल एक तेरा अर्थ।[2]

आजादी के बाद देश की सत्ता देशो द्वारकों के हाथ में आती है। कहना न होगा कि आजादी के साथ ही महान देशभक्तों की मनोवृत्तियाँ भी गिरगिट के समान रंग बदलीं और देश जहां था वहीं पड़ा रहा। शोषण अत्याचार, भूख, लाचारी, गरीबी, भ्रष्टाचार, पूंजीवाद सब कुछ पहले जैसा ही बना रहता है; फलतः कवि का आजादी तथा नेताओं की करतूतों से मोहभंग होता है और कवि क्षुब्ध होकर व्यंग्य के स्वर में बोलता है। नागार्जुन की 'तालाब की मछलियाँ', 'बजट–कार्तिक', 'जयति नख रंजिनी', 'सौन्दर्य प्रतियोगिता', 'प्रेत का बयान' (तालाब की मछलियाँ) आदि कवितायें व्यंग्य की दृष्टि से विशेष हैं। 'प्रेत का बयान' में आधुनिक समाज व्यवस्था पर करारा व्यंग्य किया गया है जिसमें इस कटु सत्य को उद्घाटित किया गया है कि प्राथमिक पाठशाला का शिक्षक आज जबकि भारत आजाद हो चुका है तब भी क्षुधा से पीड़ित होने तथा जीवन – त्याग करने के लिए बाध्य है।

श्लेषगत व्यंग्यों के प्रयोग भी छायावादोत्तर युग में खूब हुये हैं। निराला, नागार्जुन और रामविलास शर्मा के व्यंग्य इस दृष्टि से विशेष सराहनीय हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कवि यह आशा करता है कि अब देश से गरीबी का नामोंनिशान मिट जायेगा तथा स्वतन्त्रता एवं समानता

---

[1] – रामविलास शर्मा – 'सत्यं शिवं सुन्दरम्', तारसप्तक, पृष्ठ 246 – 47
[2] – मुक्तिबोध – 'पूंजीवादी समाज के प्रति', तारसप्तक, पृष्ठ 25

पर आधारित एक ऐसे समाज की स्थापना होगी जिसमें खुशहाली – ही – खुशहाली होगी, लेकिन शीघ्र ही राजनीतिक नेताओं तथा उसकी शासन व्यवस्था से उसका मोह भंग होता है। पंचवर्षीय योजना की असफलता उसे अधिक पीड़ित करती है। नागार्जुन के इस श्लेषगत बिम्ब को देखिए जिसमें कवि ने पंचवर्षीय योजनाओं की असफलता पर करारे व्यंग्य किये हैं –

आजादी की कलियाँ फूटी, पाँच साल में होंगे फूल।
पाँच साल में फल निकलेंगे, रहे पंत जी झूला झूल
पाँच साल गम खाओं भैया, गम खाओं दस पन्द्रह साल,
अपने हांथों से झोंको, यो अपनी आँखों में धूल।
आजादी की कलियाँ फूटी, पाँच साल में होंगे फूल।[1]

मदन वात्स्यायन ने 'मिथला की बाढ़' में शासन की शिथिलता, निष्क्रियता तथा गलत कार्य–पद्धति पर व्यंग्य करते हुये कहा है –

बधिर प्रान्तीयता, जातीयता अंधी,
बुभुक्षित भ्रष्टता, सहमी हुयी ताकत,
सबों पर फाइलों का छत्र।[2]

अंततः यह कहा जा सकता है कि व्यंग्य को भी छायावादोत्तर कवियों ने शिल्पगत प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया है तथा उसके माध्यम से समाज एवं जीवन की यथार्थ विषमताओं एव विडम्बनाओं को बड़े ही तीखे ढंग से व्यक्त किया है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग के व्यंग्य प्रतीको एवं बिम्बों के ही समान काव्य की शक्ति तथा उसकी प्रभावोत्पादकता को बढ़ाने में सहायक हुए हैं।

7– काव्यभाषा का बदलता स्वरूप

भाषा भावाभिव्यक्ति का सर्व समर्थ माध्यम है। प्रत्येक युग का कवि युग की परिस्थितियों एवं सन्दर्भो के बीच, युग की आवश्यकता के अनुरूप नयी भाषा की भी खोज करता है। आधुनिक युग से पूर्व ब्रजभाषा ही सर्वोत्कृष्ट भाषा थी लेकिन परिस्थितियां बदलीं : युगी चेतना ने भी करवट ली ; फलतः काव्य में भी नये भावों एवं विचारों का उदय हुआ। पहले से चली आ रही काव्यभाषा में इन भावों एवं विचारों के वहन की क्षमता नहीं थी। वैसे भाषा कथ्य के अनुरूप अपना रूप बदलती है। इस बात को छायावादी कवि भली – भांति समझते थे और इसीलिए युगीन कवियों ने भाषा प्रयोग पर विशेष बल दिया। यह स्वीकृत तथ्य है कि छायावादी युग में भाषा का संस्कार एव

---

[1] – नागार्जुन : (हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद : डॉ0 विजय शंकर मल्ल, पृष्ठ 155 से उद्धृत)
[2] – मदन वात्स्यायन – 'मिथला में बाढ़', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 108–9

परिमार्जन हुआ तथा उसमें द्विवेदी युगीन कर्कशता एवं अनगढ़ता के स्थान पर कोमलता, स्पष्टता एवं भाषाभिव्यक्ति के पकड़ की क्षमता उपस्थित हुई, लेकिन छायावादी कविता की भाषा में धीरे – धीरे लाक्षणिकता एवं चित्रात्मकता की प्रवृत्ति विशेष हावी हो गयी तथा वह जनसामान्य से दूर होती गयी। साथ ही छायावादोत्तर युग की परिस्थितियां भी काफी जटिल थी। काव्य में नवीन भावों एवं विचारों का उदय हो रहा था; फलतः जिस प्रकार छायावादी काव्यवस्तु का विरोध हुआ, उसका त्याग हुआ तथा नवीन कथ्य को अपनाया गया, ठीक उसी तरह भाषा प्रयोग में भी नवीनता देखने को मिली। हरिवंश राय बच्चन ने सर्वप्रथम 'मधुशाला' एवं 'मधुकलश' की कविताओं में भाषागत नये स्वरूप का परिचय दिया। बच्चन के अलावा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' तथा नरेन्द्र शर्मा जैसे कवियों ने भी भाषा प्रयोग के इस नये स्वरूप की स्थापना में अपना योग दिया। वस्तुतः छायवादोत्तर युग का कवि छायावादी लाक्षणिक भाषा प्रयोग से ऊब चुका था तथा वह एक ऐसे भाषा का प्रयोग चाहता था जिसमें स्पष्टता, सहजता, एवं स्वाभाविकता देखने को मिले। स्पष्ट सहज एवं स्वाभाविक भाषा प्रयोग की आवश्यकता इसलिए थी वह आवश्यक समझता था क्योंकि वह काव्य का सम्बन्ध जन जीवन के साथ जोड़ने की आकांक्षा रखता था।

प्रगतिवाद, प्रयोगवाद एवं नई कविता के कवियों ने भाषा के संस्कार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है।सत्य तो यह है कि भाषा के क्षेत्र में छायावादोत्तर युग के कवियों का योगदान युगांतकारी रहा है। हम यह देख चुके हैं कि छायावादोत्तर युग में आधुनिक भाव बोध तथा युगीन परिवेश की परिवर्तनशीलता के फलस्वरूप काव्य की विषय वस्तु में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। इस नवीन काव्यवस्तु तथा युगीन भावबोध को पुरानी भाषा वहन करने में समर्थ हो ही नहीं सकती थी। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर छायावादोत्तर युग के कवियों ने नई भाषा की खोज की तथा नये अर्थवान शब्दों के निर्माण का प्रयास किया; साथ ही पुराने शब्दों का नया संस्कार किया तथा उसमें नयी ताजगी भरने की सफल कोशिश की। इस प्रकार एक ओर उसने भाषा को स्पष्टता एव सहजता से युक्त कर उसे जन सामान्य के लिए बोधगम्य बनाया तो दूसरी ओर उसे नवीन भंगिमा भी प्रदान की।

प्रगतिवादी कवि काव्य को जन शुलभ एव जन–ग्राहा बनाने के आकांक्षी थे। वे चाहते थे कि कविता जन–जन के बीच पहुँच सके तथा उसे सहज रूप में सभी ग्रहण कर सकें। इसके लिए कवियों ने सीधी एवं जनव्यवहार की भाषा तथा यथार्थ जीवन के बीच प्रचलित मुहावरों एव शब्दो के प्रयोग पर विशेष बल दिया। जगदीश गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि प्रगतिवाद ने उसे (काव्य को) गेयता के रोमांटिक वातावरण से निकालकर सड़कों और पगडंडियों पर चलने को मजबूर किया, जिससे उसमें खुलापन आया और उसने निकटवर्ती लोक–भाषाओं के शब्द समूह से

निःसंकोच अपना कोश भरना प्रारम्भ कर दिया।[1] वस्तुतः यह प्रवृत्ति केवल प्रगतिवादी काव्यधारा में ही नहीं अपितु अन्य काव्यधाराओं में भी देखने को मिलती है। प्रगतिवादी कवियों ने जहाँ भाषा की सरलता एवं सुबोधता के प्रति विशेष आग्रह दिखाया है वहीं प्रयोगवादी कवियों ने अर्थवान शब्दों की समस्या को समझते हुए उसके खोज एवं निर्माण के प्रति अपनी विशेष रूचि दिखायी है और नयी कविता के कवियों ने तो अभिव्यक्ति की सहजता को ध्यान में रखते हुए भाषा को जन–भाषा के नजदीक पहुँचाया है, उसमें लोकशैली, लोकगीत एवं लोक मुहावरों को स्थान प्रदान किया है, सपाट बयानी के प्रति विशेष आग्रह व्यक्त किया है तथा उसमें नवीन भंगिमा भरी है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग के कवियों ने जहाँ काव्यवस्तु के प्रति अपनी सजगता दिखायी है वहीं वह काव्यभाषा के सृजन के उत्तरदायित्वों के प्रति भी हमेशा सजग एवं सचेत रहा है।

छायावादोत्तर युग की कविता में भाषा के बदलते स्वरूप की चर्चा निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत आसानी से की जा सकती है –

1. काव्यभाषा : सरलता एवं सुबोधता के प्रति आग्रह
2. अर्थवान शब्दों की खोज तथा भाषा की सृजनशीलता
3. बोलचाल की भाषा से सम्प्रक्ति
4. छायावादोत्तर युग की कविता : बोलचाल की कसौटी पर

(क) काव्यभाषा : सरलता एवं सुबोधता के प्रति आग्रह

छायावादोत्तर युग की कविताओं के विवेचन एवं विश्लेषण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने काव्य भाषा के प्रयोग में पर्याप्त नवीनता का समावेश किया है तथा अपनी नवीन एवं बदली हुई दृष्टि का परिचय दिया है। बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर तथा प्रगतिवादी कवियों ने छायावादी काव्यभाषा के आदर्शों एवं लाक्षणिकताओं को अस्वीकार कर नयी काव्य वस्तु के अनुरूप नये भावों को व्यंजित करने के लिए नयी भाषा दृष्टि का परिचय दिया है और यह नवीनता और कुछ नहीं अपितु " भाषा का वह सरल, सीधा, व्यवहारिक रूप है जिसे नवयुग के कवियों ने अपनी–अपनी मनोवृत्तियों के अनुसार, अपने पाठक वर्ग से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से, अपने – अपने ढंग से प्रस्तुत किया है।"[2] वस्तुतः सरलता, स्पष्टता एवं अभिव्यक्ति की सादगी छायावादोत्तर युग की कविताओं की एक प्रमुख विशेषता ही बन गई है। यद्यपि इसके अपवाद भी छायावादोत्तर युग की कविताओं में देखने को मिलते हैं लेकिन

---

[1] – जगदीश गुप्त – नयी कविता, अंक 5–6
[2] – शिवकुमार मिश्र – 'नया हिन्दी काव्य', पृष्ठ 253

व्यापक रूप में यदि देखा जाए तो सरलता एवं सुबोधता तथा भाषागत नये संस्कार के प्रति छायावादोत्तर युग के कवियों की दृष्टि हमेशा सजग रही है।

सरलता एवं सुबोधता प्रगतिवादी काव्यभाषा के मूल में हो रही है। यद्यपि प्रगतिवादी कवि वस्तुतत्व पर ही विशेष जोर देते थे लेकिन वस्तुतत्व पर जोर देने के साथ ही साथ उनकी यह प्रबल आकांक्षा रहती थी कि काव्य को भरसक जन–सुलभ बनाया जाये। वे काव्य को एक अस्त्र के रूप में स्वीकार करते थे और उसे जन–जन के हाथों तक पहुँचा कर एक व्यापक क्रांति की आकांक्षा करते थे और इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती थी जब भाषा जनता के समझ की हो तथा उनके आस पास की हो ; साथ ही भावों की अभिव्यक्ति सहज, सरल एवं स्पष्ट हो। यही कारण है कि छायावादोत्तर युग के प्रगतिवादी कवियों ने छायावादी लाक्षणिक भाषा के स्थान पर अभिधात्मक भाषा–प्रयोग पर विशेष बल दिया है। अभिधा प्रधान भाषा का नमूना देखिए –

आरही दूर चौमहले से
मंजीर नूपुरों की खन–खन
महमहा रही खस की टट्टी
बिजली के पंखों की सन–सन
बिक रहा पूत नारीत्व जहाँ
चाँदी के थोथे टुकड़ों में
कर्तव्य पालता धनिक वर्ग
मदिरा के जूठे चुकड़ों पर
उस ओर पड़ी खाना–बदोश
मेहनतकश मानव की पाँतें
फुटपाथों की चट्टानों पर
जो काट रहा अपनी रातें

* *

कुछ दमा तपेदिक से बेदम
कुछ खाँस रहे हैं पड़े–पड़े
सम्पत्ति फटी मिरजई और
अधजली बीड़ियों के टुकड़े –[1]

प्रस्तुत कविता में कवि ने समाज की यथार्थ स्थिति को बड़े ही स्पष्ट एवं सरल भाषा मे सजीव रूप से उभारकर रख दिया है। इस प्रकार जहाँ भागवत यथार्थता एवं सामाजिकता दिखायी

[1] – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'बेघरबार', प्रलय – सृजन, पृष्ठ 8–9

देती है वही भाषा की सरलता, सुबोधता एवं अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता भी प्रकट होती है। सुमन की 'अंतर्द्वन्द्व', 'चल रही उसकी कुदाली', 'गुनिया का यौवन', 'चली जा रही है बढ़ी लाल सेना', 'कलकत्ते का अकाल – 1943', (प्रलय – सृजन) तथा 'जीवन के गान' की कवितायें भी इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

छायावादोत्तर युग में सर्वप्रथम बच्चन आदि वैयक्तिक धारा के कवियों ने भाषागत सरलता एवं स्पष्टता की नींव रखी तथा 'बच्चन' आदि की काव्य भाषा को ही व्यापक बनाते हुए प्रगतिवादी कवियों ने अपने भाषा सम्बन्धी लक्ष्य की पूर्ति की है।"[1] इस सरलता एवं सुबोधता के लिए छायावादोत्तर युग के कवियों ने कहीं संस्कृतनिष्ठ तत्सम एवं अर्धतत्सम शब्दों को सरल तथा सहज रूप में व्यवहृत किया है तो कहीं ग्रामीण एवं आंचलिक तद्भव तथा देशज शब्दों को भी काव्य में स्थान दिया है। डॉ0 रामविलास शर्मा ने अपने 'कवि' शीर्षक कविता में निराला की 'राम की शक्ति पूजा के समान संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया तथा उसी के समान वाक्य विन्यास भी नियोजित किये हैं फिर भी उसकी स्पष्टता एवं सुबोधता उल्लखनीय है –

वह सहज विलम्बित मन्थरगति जिसको निहार,
गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार ;
काले लहराते बाल देव–सा तन विशाल;
आर्यों का गर्वोन्नत प्रशस्त अविनीत भाल;

*　　　*

अज्ञान – निशा का बीत चुका है अन्धकार;
खिल उठा गगन में अरूण – ज्योति का सहस्त्रार।[2]

ग्रामीण क्षेत्र में नित्य प्रति प्रयोग होने वाले प्रचलित शब्दों को भी युगीन प्रगतिवादी कवियों ने खूब प्रयुक्त किया है। व्यावहारिक या रोजमर्रा के प्रयोग में आने वाले शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से राम विलास शर्मा की ये पंक्तियां काफी महत्व रखती हैं –

कतकी का ढर्रा, जिस पर हैं जा रहीं
घुँघरू की ध्वनि करती इस सुनसान में
पाँति बांध कर धीरे – धीरे लाढ़ियां।[3]

इसके अतिरिक्त कवि ने 'पैरा', 'पगही', 'सिलहार', 'माची', 'पूर', 'मेढ़' आदि ग्रामीण अचलो के प्रचलित शब्दों को भी काव्यभाषा के अन्तर्गत स्थान दिया है। बहु प्रचलित ग्रामीण अंचल के शब्द –

---

[1] – उमेशचन्द्र मिश्र – प्रगतिवादी काव्य, पृष्ठ 274
[2] – रामविलास शर्मा – 'कवि', तारसप्तक, पृष्ठ 228 – 29
[3] – रामविलास शर्मा – 'कतकी', तारसप्तक, पृष्ठ 233

प्रयोग की दृष्टि से त्रिलोचन, शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ अग्रवाल, महेन्द्र भटनागर की कविताएं विशेष महत्त्व रखती हैं। सुमन की कुछ पक्तियों को बतौर उदाहरण देखा जा सकता है –

देखना, भगवान चाहेगा,
उगेगी खूब जुन्हरी
फिर मिला हम नोन – मिरचा
भर सकेंगे पेट खाली [1]

जीवन की होड़ा होड़ी में, मैं जीतूं तुम हारो[2]

'लंहगा', 'खचिया', 'खुरपी' आदि दैनिक प्रयोग में आने वाले शब्दों को भी काव्य भाषा के रूप में प्रयोग किया गया है। 'फूहड़', 'बौड़म', 'भिनसार' (केदारनाथ अग्रवाल : फूल नहीं रंग बोलते हैं), 'छाँह', 'दूब', 'पसीना', 'पुखैया', 'कूतना', 'रान–परोसी' जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित शब्दों का छायावादोत्तर युग के कवियों ने बड़ी कुशलता से काव्यात्मक प्रयोग किया है। भाषा में स्पष्टता तथा व्यापकता लाने के उद्देश्य से अंग्रेजी, उर्दू आदि शब्दों के प्रचलित, सुबोध एवं सरल शब्दों का भी काव्यात्मक प्रयोग किया गया है। निश्चय ही देशी शब्दों के साथ दैनिक प्रयोग में आने वाले विदेशी शब्दों का प्रयोग काव्यात्मक संप्रेषणीयता को बढ़ाता ही है, साथ ही उसे सामान्य जनता तक पहुँचाने में भी अधिकाधिक योग देता है। लोक प्रचलित मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी यथावसर प्रयोग करने से युगीन कवि चूके नहीं हैं –

'टाटा बिड़ला डालमिया की तीसो दिन दिवाली है।'[3]

प्रयोगवाद तथा नयी कविता के कवियों ने भी लोक प्रचलित सरल, सुबोध एवं स्पष्ट शब्दों का प्रयोग कर भावानुवर्तिनी बनाए रखने की कोशिश की है। अंग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि के प्रचलित तथा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का कवियों ने धड़ल्ले के साथ प्रयोग किया है। 'गोयढा', 'गहगह', 'गेह', 'वियार', 'दईमारा', 'बतियाती', 'सेंत', 'तक ही', 'तरे', 'मोर', 'बाथरूम', 'बैरा', 'ड्राँइंगरूम', 'हेडलाईट', 'जनाजा', 'बदहोश', आदि लोक प्रचलित देशज शब्दों तथा अंग्रेजी एवं उर्दू–फारसी के शब्दों के प्रयोग द्वारा कवियों ने भाषा को सरल, सुबोध तथा भावानुकूल बनाने की भरसक कोशिश की है। मुक्तिबोध की कविताओं में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भरपूर रूप में हुआ है। 'सिविल लाइंस', 'रेल–एक्सीडेन्ट', 'गैसलाइट', 'ड्रेस', 'प्रोशेसन', 'क्वीक – मार्च', 'बैण्ड', 'आर्टिलरी', 'कर्नल', 'बिग्रेडियर', 'जनरल', 'मार्शल', 'रेडियो – ऐक्टिव', (सभी 'अंधेरे में' कविता से)

---

[1] – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – 'चल रही उसकी कुदाली', प्रलय – सृजन, पृष्ठ 22–23
[2] – शिवमंगल सिंह 'सुमन' – प्रलय – सृजन, पृष्ठ 35
[3] – प्रभाकर माचवे (संपा0) – आज के लोकप्रिय कवि नागार्जुन, पृष्ठ 12 से उद्धृत

आदि शब्दों को प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है। ये सभी शब्द उपयुक्त स्थल पर कथ्य के अनुरूप रखे गये हैं। अतः ये भाषा के शक्ति को बढ़ाने में सहायता करते हैं तथा उसमें छिपे अर्थ को बखूबी उद्घाटित भी करते हैं।

यद्यपि छायावादोत्तर युग के कवियों के कविताओं में भाषा की सरलता एवं सुबोधता दृष्टिगत होती हैं तथा वे इसके प्रति हमेशा सजग भी रहे हैं ; फिर भी कुछ कवियों की कविताओं में संस्कृत शब्दों के मोह तथा उसकी भरमार के चलते कहीं – कहीं भाषागत गूढ़ता एवं क्लिष्टता भी देखने को मिलती है। नेमिचन्द्र जैन, अज्ञेय, मुक्तिबोध आदि की कविताएं इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। मुक्तिबोध की कविता की इन पंक्तियों को देखिए –

शुभ्रारूण किरणों से बिम्बित
रजत – नील सर उत्कट उज्जवल
जिसमें अनलोर्मिल, अनिलोर्मिल
कमल खिले हैं वे रक्तोत्पल।[1]

अज्ञेय की 'इत्यलम्' की कुछ कविताओं को भी इसके उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है। वैसे प्रयोगवादी कविताओं में संकेतमयी भाषा प्रयोग तथा नये शब्दों के प्रयोग के चलते कहीं – कहीं दुरूहता देखने को मिलती है लेकिन कुल मिलाकर छायावादोत्तर युग की कविता में सहज एवं सुबोध भाषा – प्रयोग की अधिकता तथा उसके प्रयोग के प्रति कवियों की ललक देखने को मिलती है।

(ख) – अर्थवान शब्दों की खोज तथा भाषा की सृजनशीलता

प्रगतिवादी कवियों ने ही नहीं अपितु छायावादोत्तर युग के प्रयोगवादी कवियों ने भी भाषा की सहजता तथा स्पष्टता बनाये रखने की कोशिश की है। प्रगतिवादी कवियों ने भाव या वस्तु पर ही विशेष जोर दिया था, भाषा–प्रयोग पर उनकी दृष्टि उलझी नहीं है। वह तो भावों की अभिव्यक्ति के लिए हर प्रकार की भाषा तथा उसके शब्दों के प्रयोग का आकांक्षी रहा है, लेकिन प्रयोगवादी कवियों ने तो "भाषा के क्षेत्र में 'क्रांतिकारी परिवर्तन करने का बीड़ा उठाया। पुरानी भाषा को नये युग की भूमिका में अपर्याप्त मानकर उन्होने न केवल नयी भाषा की खोज प्रारम्भ की, अथवा नये शब्दों के निर्माण का संकल्प किया, वरन् पुराने शब्दों का नया संस्कार करने, उनमें प्रचलित अर्थो से अधिक नया अर्थ भरने और इस प्रकार उनमें ताजगी लाने की ओर भी प्रवृत्त हुए।"[2] वस्तुतः

---

[1] – मुक्तिबोध – 'सृजन–क्षण', तारसप्तक, पृष्ठ 29
[2] – शिवकुमार मिश्र – नया हिन्दी काव्य – पृष्ठ 356

आज का कवि बोलचाल की भाषा के बीच की खाई को मिटा देना चाहता है। आज के कवि के विचार से काव्य की भाषा को सहज एवं सरल होने के साथ ही यथार्थोन्मुखी भी होना चाहिए। इसीलिए वह कहता है –

जिस तरह हम बोलते हैं
उस तरह तू लिख
और उसके बाद भी
हम से बड़ा तू दिख।[1]

आज के कवि की दृष्टि भाषा संधान की ओर व्यापक रूप से उन्मुख है। वह नये शब्दों में नये अर्थों को समाविष्ट करना चाहता है तथा नये अर्थवान शब्दों की खोज एवं प्रयोग करना चाहता है। वस्तुतः वह यथार्थ भावों की अभिव्यक्ति के लिए यथार्थ भाषा प्रयोग की बात करता है। भारत भूषण अग्रवाल ने लिखा भी है – "उसे (आज का कवि) प्रचलित भाषा में ही नया अर्थ भरना है। नयी अभिव्यक्ति का माध्यम पाना है ...... यथार्थ की भूमि पर जो काव्य खड़ा है, उसका माध्यम यथार्थ – भाषा ही हो सकती है– शब्द कोश की भाषा नहीं।"[2] आज का कवि देववाणी की जरूरत महसूस नहीं करता, वह स्वयं ही एक नयी भाषा की खोज करना चाहता है –

कवि ! तोड़ो अपना शब्द–जाल, जो आज खोखला, शून्य हुआ।

* *

युग के मानव के सुख–दुःख, आशा–प्रत्याशा का प्रतिनिधित्व
इसके कण्ठ से नहीं सम्भव। यह सदा स्वर्गवासिनी रही
अप्सरा बनी। जाने दे इसको स्वर्ग, खोज ले आज मही
अपनी–मिट्टी के पुतलों के ही शब्दों में ही अपना कवित्व;
हमको न जरूरत आज देववाणी की, हम खुद ढालेंगे
जीवन की भट्टी में भाषा, जी–चाहा रूप बना लेंगे।[3]

स्पष्ट है कि वह एक नयी काव्य भाषा तथा शब्द एवं वाक्य विन्यास की आवश्यकता महसूस करता है। कहना न होगा कि छायावादोत्तर युग का कवि अर्थवान शब्दों की खोज के लिए सामान्य जनजीवन के बीच अपनी दृष्टि दौड़ाता है तथा उन्ही के बीच से नये अर्थवान शब्दों की तलाश करता है। वस्तुतः 'अर्थवान शबदों की खोज' को आज का कवि एक समस्या के रूप में देखता है। अज्ञेय ने स्वीकार किया है – "आज भी मेरे सामने जो समस्या है, और जिसका हल पा लेना मैं अपने कवि जीवन की चरम उपलब्धि मानूंगा, वह अर्थवान शब्द की समस्या है। काव्य

---

[1] – भवानी प्रसाद मिश्र – वक्तव्य, दूसरा सप्तक, पृष्ठ 4
[2] – भारत भूषण अग्रवाल – पुनश्च, तारसप्तक, पृष्ठ 110
[3] – भारत भूषण अग्रवाल – 'अपने कवि से' तारसप्तक, पृष्ठ 88–89

सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि–धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शब्द का ज्ञान – शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ – ही कृतिकार को कृती बनाती हैं।"[1] इस दृष्टि से देखा जाए तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने लोक–जीवन में फैले तमाम शब्दों के बीच से यथार्थ एवं अर्थवान शब्दों की खोज को अपनी काव्यभाषा के एक मूल्य के रूप में भी स्वीकार किया है और जहाँ पर इन कवियों ने अर्थवान शब्दों की खोज लोक के बीच से की है वहाँ इनकी भाषा काफी साफ – सुथरी तथा सहज बोधगम्य है। भवानी प्रसाद मिश्र, माचवे, रघुवीर संहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती आदि की काव्यभाषा इस दृष्टि से काफी उल्लेखनीय है। भाषा की सहजता एवं सरलता की कसौटी पर भवानी प्रसाद मिश्र की 'गतिफरोश' कविता की इन पंक्तियों को परखा जा सकता है –

जी, माल देखिए दाम बताऊंगा,
बेकाम नहीं है, काम बताऊंगा;
कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैने,
कुछ गीत लिखे हैं वस्ती में मैने;
यह गीत, सख्त सरदर्द भुलायेगा;
यह गीत पिया को पास बुलायेगा।

* *

जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ।[2]

कुँवर नारायण की इन पंक्तियों को देखिए जिसमें कवि अपनी बात को बड़ी ही सहजता एवं स्पष्टता से कहने का प्रयास करता है –

कितना खामोश है मेरा कुछ आस–पास
कितनी बेख्वाब है सारी चीजें उदास,
दरवाजे खुले हुए, सुनते कुछ, बिना कहे,
बेवकूफ नजरों से मुँह बाये देख रहे ,[3]

छायावादोत्तर युग के कवियों ने नवीन शब्दों का निर्माण भी किया है और उसमें नयी अर्थवत्ता भी भरी है। कुछ पंक्तियों को उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है जिसमें 'व्यक्तिमत्ता', 'कपसीले', बेगमा' जैसे नवीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये प्रयोग कवि की शब्द – सृजन की शक्ति को भी अभिव्यक्त करते हैं –

---

[1] – अज्ञेय – पुनश्च, तारसप्तक, पृष्ठक 301
[2] – भवानी प्रसाद मिश्र – 'गीत फरोश' , दूसरा सप्तक, पृष्ठ 23
[3] – कुँवरनारायण – 'खामोशी : हलचल, तीसरा सप्तक, पृष्ठ 154

पत्ते भी खड़े चुपचाप सीना तान
अपनी व्यक्तिमत्ता के सहारे जो चले हैं प्राण [1]

* *

कपसीले, ऊदे, लाल और
पीले, मटमैले – दल के दल
आये बादल [2]

* *

मेरी वासनायें :
हिमालय से प्रवाहित
वेगगा भागीरथी की
शुभ धारों की तरह![3]

वस्तुतः छायावादोत्तर युग का कवि भाषा की सृजनशीलता, उसकी शक्ति तथा व्यापकता के प्रति हमेशा सजग रहा है तथा वह उसमें नये अर्थो को भरने में प्रयासरत है। यह इसलिए भी, क्योंकि कवि यह महसूस करता है कि "भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है – शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है। .... (अतः) भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल को फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।"[4] निश्चय ही भाषा को व्यापक अर्थ देने हेतु ही आज का कवि भाषा सृजन तथा नये अर्थवान शब्दों की खोज की बात करता है। यद्यपि वह लोकग्राह भाषा की प्रतिष्ठा करता है, उसे ज्यादा – से – ज्यादा महत्व प्रदान करता है फिर भी उसे जटिल भावों की अभिव्यक्ति के लिए कहीं – कहीं जटिल भाषा का भी प्रयोग करना पड़ता है और यह उसकी विवशता है; जिसे आज का कवि आपद्धर्म की संज्ञा देता है। अज्ञेय अर्थवान शब्दों की खोज तथा बोलचाल की भाषा के प्रयोग पर बल देते हैं लेकिन कहीं – कहीं उनकी भी भाषा, काव्य भाषा की सृजनशीलता या सांकेतिकता के चक्कर में पर्याप्त गूढ़, बोझिक एवं अबोधगम्य हो गयी है। 'इत्यलम्' की कुछ कविताओं को बतौर उदाहरण देखा जा सकता है। अज्ञेय ने ऐसा वहीं किया है जहाँ उन्हें गम्भीर भाव की व्यंजना करनी पड़ी है। अज्ञेय ने तो स्वीकार भी किया है कि, "जीवन की जटिलताओं को अभिव्यक्ति करने वाले कवि की भाषा का किसी हद तकगूढ़, 'अलौकिक' अथवा

---

[1] – मुकितबोध – 'आत्मा के मित्र मेरे', तारसप्तक, पृष्ठ 11
[2] – त्रिलोचन – धरती, पृष्ठ 31
[3] – महेन्द्र भटनागर – 'सवीकार लो', संतरण, पृष्ठ 43
[4] – अज्ञेय – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 270 – 71

दीक्षा द्वारा गम्य हो जाना अनिवार्य है, किन्तु वह उसकी शक्ति नहीं, विवशता है;धर्म नहीं आप द्वर्म है।''[1]

'मुक्तिबोध ने भाषा की सृजनशीलता तथा अर्थवान शब्दों के प्रति विशेष आग्रह दिखाया है, बल्कि काव्यभाषा के निर्माण को वे अपनी पहली शर्त भी मानते हैं। उनका कहना है कि ''जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निःसन्देह महान् कवि है।''[2] लेकिन भाषा की सृजनशीलता की अदम्य आकांक्षा तथा जटिल भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति के बीच उनकी भाषा कहीं – कहीं पर्याप्त बोझिल भी हो गयी है। 'ब्रम्हाराक्षस', 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' तथा 'अँधेरे में' कविताओं में प्रयुक्त भाषा को प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है।

शब्दों को नवीन रूप प्रदान करने तथा उसमें नवीन अर्थो की संयोजना करने की दृष्टि से गिरिजा कुमार माथुर ने भी महत्वपूर्ण योग दिया है। कवि ने अपनी कविताओं में सर्वत्र अभिव्यंजनात्मक शब्द विन्यास के प्रति सजगता बरती है तथा भाव एवं परिवेश के ही अनुरूप नवीन शब्दों की योजना की है, उसमें नवीन भंगिमा एवं अर्थ का सन्निवेश किया है। 'नरमनखूनी', 'पतला नभ', 'सिमटी किरण, 'आदिम छाँहें', 'घूमते स्वर' आदि शब्दों की योजना के पीछे उनकी मूल दृष्टि रही है – उसमें नये तथा गहरे – से – गहरे अर्थो को सन्निविष्ट करना और इन सबके माध्यम से कवि ने नवीन अथवत्ता का सृजन तो किया ही है, साथ ही वातावरण तथा परिस्थिति विशेष को जीवंत रूप में उभारा भी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावादोत्तर युग की काव्यभाषा का यह एक प्रमुख स्वरूप भी है तथा मूल्य भी।

छायावादोत्तर युग की कविता में ग्रामीण अंचलों तथा जनपदीय शब्दों के प्रयोग, लोक प्रचलित मुहावरों आदि के प्रयोग, देशज एवं तद्भव तथा स्थानीय बोलियों एवं भाषाओं के शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग एवं उनकी बहुतायत इस बात की साक्षी है कि काव्यभाषा की सृजनशीलता के प्रति आज का कवि हमेशा सचेष्ट रहा है। वस्तुतः काव्य भाषागत सृजनात्मकता और कुछ नही अपितु काव्य भाषा की बढ़ती शक्ति है। सत्य तो यह है कि भाषा दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली वस्तु है और वह निरन्तर प्रयोग की प्रकिया में घिसती है, टूटती है तथा युगीन सन्दर्भो में पुरानी भी पड़ती है। फलतः उसकी अर्थवत्ता में कमी आती जाती है तथा युगीन सन्दर्भो, युग – यथार्थताओं की अभिव्यक्ति में अपनी क्षमता नहीं प्रदर्शित कर पाती। तात्पर्य यह कि उसकी शक्ति युग – परिवर्तन के बीच क्षीण होती जाती है। अतः सजग रचनाकार युग के यथार्थ एवं जटिल भावों एवं सन्दर्भो को अभिव्यक्ति देने हेतु नयी शब्द – सम्पदा, नयी मुहावरेदानी तथानूतन अर्थवान

---

[1] – अज्ञेय – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 272
[2] – मुकितबोध – एक साहित्यिक की डायरी, पृष्ठ 27

शब्दों की खोज करता है, और इस प्रकार वह भाषा की शक्ति को बढ़ाने की कोशिश करता है तथा भाषा की सृजनशीलता कें प्रति अपनी जागरूकता प्रदर्शित करता है।

वस्तुतः छायावादोत्तर युग की कविताताओं में भाषा की शक्ति काफी सशक्त है; क्योंकि युगीन कवियों ने नये शब्दों की खोज की है, उनमें नवीन भंगिमा भरी है, उसे नये-नये अर्थों से युक्त किया है तथा काव्यभाषा को युगीन भावों एवं सन्दर्भो की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया है। इस सन्दर्भ में छायावादोत्तर युग की काव्यभाषा अपनी पूर्ववर्ती काव्यधाराओं की काव्यभाषा से पूर्णतया भिन्न एवं नवीन धरातल पर प्रतिष्ठित दिखाई देती है। वस्तुतः ये छायावादोत्तर युग की कविता की काव्यभाषा के प्रतिमान भी हैं और काव्यभाषा के बदलते स्वरूप के प्रमाण भी।

(ग) – बोलचाल की भाषा से संपृक्ति

छायावादोत्तर युग के काव्यभाषा की सबसे बड़ी विशेषता है – बोलचाल की भाषा से निकटता।छायावादोत्तर युग के कवियों ने अपने काव्य – वक्तव्यों तथा पत्र – पत्रिकाओं में व्यक्त विचारों के बीच इस बात को स्वीकार भी किया है कि काव्य की भाषा सहज व्यवहार तथा जन–जीवन के नजदीक की भाषा होनी चाहिए। अज्ञेय ने सहज व्यवहार की भाषा को ही सही भाषा माना है तथा सहज भाषा की ही पर्याप्त साधना पर बल दिया है।[1] आज के कवियों का विचार है कि आज की कविता के बीच प्रयुक्त बोलचाल की भाषा, केवल सामान्य भाषा ही नहीं है अपितु वह अपनी सपाटबयानी के नीचे बहुत बड़े क्रांतिकारी भाव को भी छिपाए हुए है। वस्तुतः बोल चाल की भाषा में लिखा गया काव्य सामान्य जनता अर्थात व्यापक वर्ग तक अपनी पहुंच रखता है तथा वह काव्य अपनी भाषा – शक्ति की बदौलत जनता में नई चेतना उत्पन्न करने की भी सामर्थ्य रखता है। तात्पर्य यह कि आज का कवि काव्य–भाषा को बोलचाल की करीब लाने के लिए सदा प्रयत्नशील भी रहा है। भवानी प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि "कविता की भाषा यथा संभव बोलचाल के करीब हो। तो मैने जाने – अनजाने कविता की भाषा सहज रखी है।"[2]

बोलचाल की भाषा के प्रयोग हेतु कवियों ने दूसरी भाषाओं के शब्दों को भी यथावसर खूब प्रयुक्त किया है। दूसरी भाषाओं के शब्दों तथा दैनिक जीवन के बीच प्रचलित शब्दों का प्रयोग कवि इसलिए भी करता है ताकि काव्य भाषा प्राणवान एवं जीवंत बन सके तथा उसकी अभिव्यक्ति – क्षमता को बढ़ाकर उसे व्यापक स्वरूप प्रदान किया जा सके। वस्तुतः युग सन्दर्भ इतना बदल चुका है, कवि दृष्टि इतनी व्यापक हो चुकी है कि किसी भी अन्य भाषा के शब्द प्रयोग को वह

---

[1] – अज्ञेय – आत्मनेपद, पृष्ठ 167
[2] – भवानी प्रसाद मिश्र – वक्तव्य, दूसरा सप्तक, पृष्ठ 4

अवांछनीय नहीं मानता अपितु उसके प्रयोग के द्वारा अपने काव्य के शब्दकोश तथा उसकी भाषा क्षमता को अधिक – से – अधिक बढ़ाने का प्रयास करता है। स्वतन्त्रता के बाद काव्य भाषा को जन–जीवन के नजदीक लाने का काफी प्रयास हुआ है। रघुवीर संहाय ने तो अपनी कविताओं के भाषा के विषय में कवि वक्तव्य में ही स्पष्ट कर दिया है कि, "भाषा को भी साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाने की कोशिश रही है।"[1]

जिसप्रकार आज का कवि वस्तुगत यथार्थ के प्रति अपनी संपृक्ति दिखाता है, उसी प्रकार वह भाषा प्रयोग में भी यथार्थ की प्रतिष्ठा करता दिखायी देता है। यथार्थ की भाषा और कुछ नहीं अपितु बोलचाल या जनव्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा ही हो सकती है। काव्य की भाषा को 'यथार्थ की भाषा' बताते हुए भारत भूषण अग्रवाल ने उसे सहज तथा दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा ही स्वीकार किया है। काव्यभाषा की यथार्थता की चर्चा करते हुए, उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्हाने लिखा है – "उसे (कवि को) प्रचलित भाषा में ही नया अर्थ भरना है, नयी अभिव्यक्ति का माध्यम पाना है। यही नहीं उसके आस पास एक विदेशी भाषा को धड़ल्ले से व्यवहार होता है कि सही भावाभिव्यक्ति के लिए उसके शब्दों का सम्पूर्ण बहिस्कार करने की स्थिति में वह नहीं है। परिशुद्धतावादी उसे चाहे कितना ही क्यों न कोसे, दैनन्दिन बोलचाल में प्रचलित इन अंग्रेजी शब्दों के स्थान पर हिन्दी के शब्द बैठाना कृत्रिम ही कहा जायेगा और ऐसे शब्द भाव की व्यंजना नहीं कर सकेंगे। यथार्थ की भूमि पर जो काव्य खड़ा है उसका माध्यम यथार्थ भाषा ही हो सकती है – शब्दकोश की भाषा नहीं।"[2] एक तरह से देखा जाय तो यह विचार भारत भूषण का नहीं अपितु समूचे छायावादोत्तर युग के कवियों का है।

यह अवश्य सत्य है कि आज का कवि नवीन शब्दों का गठन करता है, उसमें नये अर्थो का सन्निवेश करता है, फिर भी वह प्रचलन के शब्दों को छोड़ता नहीं, वरन् भावों की सहजता एव संप्रेषणीयता को अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु विभिन्न भाषाओं के प्रचलित शब्दों को यथास्थान जरूरत के मुताबिक प्रयुक्त भी करता है। नवीन शब्दों के गठन में भी वह इस बात के प्रति हमेशा सचेष्ट रहता है कि कहीं बेतुके, अनगढ़ एवं हास्यास्पद प्रतीत होने वाले शब्दों की योजना न होने पावे। वह लोक में प्रचलित सामान्य शब्दों के ही नहीं अपितु लोक – मुहावतें एवं मुहावरे सामान्य जनजीवन के बीच प्रचलित होते हैं अतः वे जनसामान्य के लिए अधिक ग्राह्य हो सकते हैं साथ ही उनके माध्यम से भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति भी स्पष्ट एवं सबल ढंग से की जा सकती है। सत्य तो यह है कि छायावादोत्तर युग की कविता में मुहावरों आदि के प्रयोग चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं अपितु सार्थक उद्देश्य की पूर्ति हेतु किये गये हैं।

---

[1] – रघुवीर संहाय – वक्तव्य, दूसरा सप्तक, पृष्ठ 138–39
[2] – भारत भूषण अग्रवाल – पुनश्च, तारसप्तक, पृष्ठ 110

मुक्तिबोध के विचार से काव्यभाषा सामाजिक होनी चाहिए ; क्योंकि सामाजिक काव्य भाषा के माध्यम से हम अपने हृदयगत भावों एवं तत्वों को उनके मौलिक रूप, रंग और भार में ही स्थापित और प्रकट कर सकते हैं।[1] और इसके लिए आवश्यकता है जनभाषा या लोकभाषा के संयोजन की, जिसमें जनसामान्य के बीच के बोलचाल या प्रचलन के शब्दों का प्रयोग हुआ हो। भाषा की सहजता तथा जनव्यवहार या बोलचाल की भाषा के प्रयोगपर बल देते हुए प्रभाकर माचवे ने कहा है कि – ज्यों – ज्यों कविता की भाषा अधिकाधिक आम जनता की भाषा बनती चलेगी, उसमें प्रादेशिक शब्द अधिक आयेंगे, और यह इष्ट ही होगा।[2] आगे उन्होने यह भी कहा है कि ग्रीम–गीत, लोक–गाथा और बाजारू कहलायी जाकर हेय मानी जाने वाली बहुत सशक्त मुहावरेदार जबान से नये – नये शब्द रूपों और कल्पना चित्रों के ग्रहण के प्रति लोगों को सचेष्ट होना चाहिए।[3]

गिरिजा कुमार माथुर ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि मैने अपने काव्य में जीवन व्यवहार की भाषा को अपनाकर काव्य की भाषा को ताजगी और नवीन शक्ति प्रदान की है।[4] वस्तुतः आज के कवि को यह पूर्ण विश्वास है कि जीवन व्यवहार की भाषा के प्रयोग द्वारा काव्य की शक्ति दिनोदिन बढ़ती जा रही है तथा उसकी क्षेत्रगत व्यापकता भी बढ़ती जा रही है। श्री माथुर ने लिखा है कि, "उससे हमारी कविता की शक्ति बढ़ रही है, वह अधिकाधिक व्यापकता प्राप्त करती जा रही है, यह कोई छोटी बात नहीं है।"[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने जन–जीवन में प्रचलित बोलचाल की भाषा – चाहे वह कम ही महत्व क्यों न रखती हो – के प्रयोग पर बल दिया है तथा उसे ही काव्योपयोगी माना है। आज के परिस्थितियों के बीच, जबकि कवि अपनी व्यापक समस्याओं को समाज की समस्या तथा समाज की समस्याओं को अपनी व्यक्तिगत समस्या के रूप में मे देखता है तथा उद्घाटित करना चाहता है, तब तो उसके लिए जन–जीवन की भाषा एवं प्रचलन की भाषा की आवश्यकता और अधिक बढ़ जाती है। वस्तुतः लोकभाषा या बोलचाल की भाषा में ही – जिसमें कोई चमक – दमक, चमत्कार प्रदर्शन अथवा बाह्याडम्बर न हो – व्यापक सामाजिक भावों एवं विचारों की सशक्त अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है। इस तथ्य का युगीन कवियों ने सदैव ध्यान रखा है। कवियों की विचारधाराओं से यह बात प्रमाणित भी हो जाती है। यही नहीं कवियों के काव्य वक्तव्यों के ही अनुरूप भाषा प्रयोग की दृष्टि उनकी कविताओं के मध्य भी परिलक्षित होती है।

---

[1] – मुक्तिबोध – नयी कविता का आत्म संघर्ष, पृष्ठ 145
[2] – प्रभाकर माचवे – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 125
[3] – प्रभाकर माचवे – वक्तव्य, तारसप्तक, पृष्ठ 125
[4] – गिरिजा कुमार माथुर – निवेदनम्, धूप के धान।
[5] – गिरिजा कुमार माथुर – निवेदनम्, धूप के धान।

(घ) – छायावादोत्तर युग की कविता : बोलचाल की कसौटी पर

छायावादोत्तर युग के कवियों ने जहाँ अपने काव्य–वक्तव्यों में काव्यभाषा को लोकभाषा या जनसामान्य के नजदीक लाने तथा उसमें नयी अर्थवत्ता एवं भंगिमा करने की बात की है, वहीं अपनी कविताओं के माध्यम से उसके रचनात्मक स्वरूपों को भी उद्‌घाटित किया है। काव्यभाषा की स्फूर्ति, शक्ति एवं अभिव्यक्ति – क्षमता को बढ़ाने हेतु कवियों ने जनसामान्य में प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है, तथा यथावसर आवश्यकता पड़ने पर प्रचलित मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी सार्थक प्रयोग किया है। प्रगतिवादी कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति क्षमता तथा स्पष्ट एवं सुबोध भाषा प्रयोग के माध्यम से काव्य को काफी हद तक जनसामान्य के बीच ले जाने का कार्य किया है, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। इसके अलावा अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर,भवानी प्रसाद मिश्र, रघुवीर संहाय, सर्वेश्वर, कुंवरनारायण, केदारनाथ सिंह, विजय देवनारायण साही, आदि की कविताएं भी इस दृष्टि से महत्व रखती हैं। इन कवियों ने बोलचाल की तर्ज पर सरल एवं सुबोध भाषा तथा प्रचलित मुहावरों के बीच काव्य की रचना की है।

अज्ञेय की काव्य भाषा छायावादोत्तर युग के काव्य भाषा की सारी खूबियों एवं कमियों को एक साथ समेटे हुए हैं। वस्तुतः अज्ञेय की काव्य भाषा छायावादोततर युग की काव्यभाषा का प्रतिमान भी है। वे हमेशा काव्य भाषा की सर्जना तथा उसकी लोकोन्मुखता के प्रति सजग रहे हैं। यद्यपि उनकी भाषा में संस्कृत शब्दावली का प्रयोग मिलता है –

यह स्त्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर –
काल – प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी।[1]

फिर भी काव्य भाषा की सहजता एवं प्रवहमयता बरकरार है।

हरी बिछली घास।
दोलती कलगी छरहरी बाजरे की।
अगर मैं तुमको
ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता
या शरद् के भोर की निहार – न्हायी कुंई
टटकी कली चम्पे की
बगैरह, तो

---

[1] – अज्ञेय – 'नदी के द्वीप', हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ 66

नहीं कारण की मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है
बल्कि केवल यही ;
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों से कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।[1] ,

भवानी प्रसाद मिश्र की "सतपुड़ा के जंगल" तथा "सन्नाटा" कवितायें बोलचाल के तर्ज पर हैं। उसकी भाषा स्पष्ट, सरल तथा जनसामान्य के बीच की हैं –

लो पहले अपना नाम बता दूँ तुमको,
फिर चुपके धाम बता दूँ तुमको –
तुम चौंक नहीं पड़ना यदि धीमे – धीमे
मैं कोई काम बता दूँ तुमको।[2]

विषयानकूल भाषा – प्रयोग, कवि गिरिजा कुमार माथुर के काव्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। उनकी रोमानी कविताओं में जहाँ भाषा की सुकोमलता एवं सहजता दिखाई देती है वहीं बल्कि क्लासिक कविताओं में लम्बे और गम्भीर ध्वनि वाले शब्दों का प्रयोग मिलता है। 'राम', तथा 'युगसाँझ' में गम्भीर एवं लम्बी ध्वनियों वाले शब्दों की योजना हुई है। इनकी साधारण तथा बोलचाल की भाषा में लिखि कविताएं भी काफी उत्कृष्ट हैं।

धर्मवीर भारती ने अपने काव्य–वक्तव्य में ही स्पष्ट कर दिया है कि भाषा के प्रश्न को कवि भारती ने अधिक महत्व नहीं दिया। भाषा भाव की पूर्ण अनुगामिनी रहनी चाहिए, बस। न तो वह पत्थर का ढोंका बनकर कविता के गले में लटक जाये और न रेशम का जाल बनकर उसकी आँखों में उलझ जाये।[3] और भारती ने इस विचारधारा का सर्वत्र निर्वाह भी किया है। भाषा प्रयोग की लोकोन्मुखता तथा अभिव्यक्तिगत सहजता की दृष्टि से कवि की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है –

अब नींद निगोड़ी सपनों – सपनों भटकी डोले
कभी – कभी तो बड़े सकारे कोयल ऐसे बोले
ज्यों सोते में किसी विषैली नागिन ने हो काटा

---

[1] – अज्ञेय – 'कलगी बाजरे की', हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ 57
[2] – भवानी प्रसाद मिश्र – "सन्नाटा", दूसरा सप्तक, पृष्ठ 10
[3] – धर्मवीर भारती – वक्तव्य, दूसरा सप्तक, पृष्ठ 167

मेरे सँग – सँग अक्सर चौंक – चौंक उठता सन्नाटा [1]

सहज, साधारण एवं स्पष्ट वाक्य विन्यास के साथ ही प्रचलित शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से रघुवीर संहाय की 'पहला पानी' तथा 'मुँह अंधेरे' कविता उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताएं भी रेखांकित करने योग्य हैं। लोकगीत की शैली में रची सर्वेश्वर की 'चुपाई मारौ – दुलहिन' कविता लोकगाथा को समेटे हुए जहाँ एक ओर समाज के कटु यथार्थ को उजागर करती है, वहीं अपनी भाषागत सहजता एवं बोधगम्यता के चलते आकर्षित भी करती है –

चुपाई मारौ दुलहिन
मारा जाई कौवा
दे रोटी ?
कहाँ गयी थी बड़े सबेरे
कर चोटी ?
लाला के बाजार में
मिली दु अन्नी
पर वह भी निकली खोटी,
दिन भर सोई,
बीच बाजार में बैठकर रोयी,
साँझ को लौटी
ले खाली झौआ।

* *

मेले में दुकान की
माचिस – बीड़ी, पान की,
कुछ तो खा गये हाकिम – उमरा,
कुछ खा गये सिपाही,
बाकी बचा टैक्स भर आई
ऐसी हुई तबाही,
व्याह की हँसुली गिरौ धरी है
थी बस एक चढौआ।[2]

1 – धर्मवीर भारती – 'फागुन की शाम', ठंडा लोहा, पृष्ठ 13
2 – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – 'चुपाई मारौ दुलहिन', तीसरा सप्तक, पृष्ठ 221–23

इसके अतिरिक्त केदारनाथ सिंह की 'दुपहिया', 'फागुन का गीत', 'रात', 'पात नये आ गये', 'धानों का गीत' कवितायें भी बोलचाल की भाषा – प्रयोग की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं –

छायावादोत्तर युग की कवियों की एक महत्वपूर्ण विशेषता है विभिन्न बोलियों के शब्दों का यथास्थान सटीक प्रयोग। जहाँ तक देशज शब्दों के प्रयोग की बात है, उस दृष्टि से अज्ञेय काफी सफल रहे हैं, लेकिन धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, नागार्जुन, केदारनाथ सिंह, रघुवीर संहाय आदि कवि भी इस दृष्टि से अपनी विशिष्टता स्थापित करते हैं। उदाहरण के तौर पर छायावादोत्तर युग के कवियों की कुछ पंक्तियों को देखा जा सकता है, जिसमें देशज शब्दों का प्रयोग सटीक और भावानुकूल हुआ है –

इतिहास के पन्नों पर पगुराती हुई भैंस की आँखों में।[1]
कुछ दइमारे खानाबदोश मिले।[2]
गिन रहा होगा महाजन सेंत की।[3]
खड़े रहो डिंग [4]
घण्टों बतियाती है [5]

प्रस्तुत पंक्तियों में 'पगुराती', 'दइमारें', 'सेंत', 'ढिंग', तथा 'बतियाती' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः ये शब्द सहजाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं तथा काव्य को जन–ग्राह्य बनाने में सहायता प्रदान करते हैं। इस प्रकार छायावादोत्तर युग की कविता बोल चाल की कसौटी पर खरी उतरती है। यह वह बिन्दु है जहाँ छायावादोत्तर युग की कविता पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से अलग खड़ी दिखाई देती है।

****

[1] – अज्ञेय – 'इतिहास की हवा', इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृष्ठ 31
[2] – अज्ञेय – 'सत्य तो बहुत मिले', इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृष्ठ 17
[3] – अज्ञेय – 'हवायें चैत की', बावरा अहेरी, पृष्ठ 21
[4] – अज्ञेय – 'चांदनी जी लो', बावरा अहेरी, पृष्ठ 56
[5] – धर्मवीर भारती – 'ढीठ चाँदनी', सातगीत वर्ष, पृष्ठ 69

अध्याय – ५

उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन एवं विश्लेषण के आधार पर छायावादोत्तर हिन्दी कविता के समबन्ध में अनेक महतवपूर्ण निष्कर्ष उभरकर सामने आते हैं। छायावदोत्तर युग में अनेक काव्यान्दोलनों – प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नकेनवाद, नई कविता आदि – का अभ्युदय, विकास एवं अवसान हुआ है। छायावादोत्तर हिन्दी कविता की साहित्यिक पृष्ठभूमि के रूप में देखें तो निश्चित तौर पर छायावादी कवियों ने वस्तु एवं शिल्प दोनो धरातलों पर अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी कविता को उल्लेखनीय योगदान दिया है। उसने सांस्कृतिक परिवेश में युग–जीवन को भी उद्‌घाटित किया लेकिन उसकी आधारभूमि मुख्य रूप से कल्पनात्मक, आदर्शात्मक, भावात्मक एवं रहस्यात्मक ही अधिक रही है। यही नहीं अपितु अपने अन्तिम समय में उसकी कल्पना, रूमानियत एवं रहस्यात्मकता की प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी तथा जीवन एवं समाज की बाह्य वास्तविकताओं से उसका सम्बन्ध – विच्छेद सा हो गया था। यह सत्य है कि छायावादी कवियों ने व्यापक सौन्दर्य की खोज की,, प्रेम की प्रतिष्ठा की, स्व–अनुभूतियों का उद्‌घाटन किया, किन्तु समाज की समसामयिक विषम परिस्थितियों एवं घटनाओं की ओर उसने व्यापक नजर नहीं डाली ; या यो कहें कि वह प्रेम, सौन्दर्य, कल्पना एवं आदर्श के लोक में ही विचरण करता रहा। इस प्रकार छायावादी कविता दिन–प्रतिदिन रहस्य के ताने – बाने में उलझती गई, उससे दूर होती चली गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी तत्व छायावादी कविता के अवसान के कारण भी बने।

वस्तुतः छायावादोत्तर युग के पूर्व से ही देश एवं समाज की परिस्थितियाँ धीरे – धीरे विडम्बनापूर्ण होती जा रहीं थीं तथा उन्हीं विडम्बनापूर्ण परिस्थितियों के बीच देश में नयी चेतना भी जन्म ले रही थी। यह नई चेतना दो कारणों से पैदा हो रही थी ; एक सामाजिक – राजनीतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं के चलते ; दो, राष्ट्रीय – अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उदय होने वाली कांतिकारी विचारधाराओं के प्रभावस्वरूप। ऐसे माहौल के बीच छायावादी कविता की काल्पनिकता, रहस्यात्मकता एवं मानवीयता की प्रवृत्ति भला कैसे स्वीकार की जा सकती थी ? उसका बना रहना सम्भव भी नहीं था। यही कारण है कि युग एवं समाज के विकास के प्रति सचेत एवं जागरूक स्वयं छायावादी कवियों – पंत, निराला – ने छायावादी कविता की इस कमी अथवा सीमा को समझते हुए, उसके अंत की घोषणा की तथा युगानुरूप नये काव्यान्दोलन को जन्म दिया। इस प्रकार छायावाद युग की काल्पनिकता एवं रूमानियत के स्थान पर नये काव्यान्दोलन में यथार्थ विषय एवं उसी के अनुरूप नई शिल्प –योजना का सूत्रपात हुआ। छायावाद युग के सजग रचनाकारों ने जिस नये प्रकार के समाज – सापेक्ष एवं यथार्थवादी काव्य – प्रवृत्ति की नींव रखी, उसे छायावादोत्तर काव्य धारा के कवियों ने सशक्त रूप प्रदान करने की कोशिश की। छायावादोत्तर

युग की व्यक्तिपरक काव्यधारा हो अथवा राष्ट्रीय काव्यधारा, प्रगतिवादी काव्यधारा हो अथवा प्रयोगवादी एवं नयी कविता की काव्यधारा सभी ने युग–समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप, युगीन सामाजिक संदर्भों को मद्देनजर रखते हुए अपने काव्य–सृजन के दायित्वों का निर्वाह किया है।

यह जानी हुई बात है कि जब युग बदलता है तब उसके आदर्श बदलते हैं, उसके मूल्य बदलते हैं, उसकी जीवन–पद्धति बदलती है, और ये सारे–के–सारे बदलाव युग की आवश्कताओं के परिप्रेक्ष्य में होते हैं। हिन्दी साहित्य के विकास की परम्परा का यदि गहराई से अवलोकन करें, उसका तार्किक विवेचन एवं विश्लेषण करें तो स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता हे कि कविता या यों कहें कि काव्य–लेखन के मानदण्ड हमेशा एक से नहीं रहे हैं, अपितु युग–परिवेश के बदलाव के साथ ही साथ उसमें भी परिवर्तन आया है। स्वाभाविक रूप से जब – जब काव्य – लेखन के मानदण्ड में बदलाव की रेखायें उभरी हैं तब – तब उसके स्वरूप में भी कांतिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ है। सच्चाई तो यह है कि मानदण्ड एवं स्वरूप कभी स्थिर नहीं रहते अपितु युग की गति- के साथ वे भी प्रगति करते हैं तथा युग के ह्रास के साथ उसमें भी ह्रास आता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ उसे गति और दिशा देती हैं।

छायावादोत्तर युग विविधताओं का युग रहा है। छायावादोत्तर युग का साहित्य भी विविधताओं से भरा पड़ा है। राष्ट्रीय – अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, परिस्थितियों एवं चिन्तनधाराओं के प्रभावस्वरूप छायावादोत्तर हिन्दी कविता के सृजन के मानदण्ड एवं उसके स्वरूप में भारी परिर्वतन दृष्टिगोचर होता है। सत्य तो यह है कि प्रत्येक विकास का कोई – न – कोई आधार होता है, स्वीकृत मानदण्ड होता है, जिस पर वह खड़ा होता है एवं विकास करता है। प्रत्येक समाज के कुछ आदर्श होते हैं, कुछ मूल्य होते हैं, जिन आदर्शों एवं मूल्यों के बल पर वह जीता है, विकास करता है तथा समृद्धि के शिखर में पहुँचता है। साहित्य – सृजन के भी मानदण्ड होते हैं। ये मानदण्ड युग एवं समाज के परिवेश, परिस्थितियों एवं विचारधाराओं से दिशा – निर्देशित होते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है, लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि समाज साहित्य से प्रभावित होने के साथ – ही – साथ साहित्य पर भी अपना प्रभाव छोडता है। तात्पर्य यह कि जब युग एवं समाज की परिस्थितियाँ बदलती हैं, उसके मूल्यों में अन्तर उपस्थित होता है, तब साहित्यकार को भी नये परिवेश एवं परिस्थितियों के बीच युग एवं समाज के सन्दर्भों के अनुरूप, स्वीकृत मूल्यों एवं मान्यताओं के अनुरूप अपने काव्य–सृजन के मानदण्डों में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस होती है। इस प्रकार साहित्य का सम्बन्ध हमेशा युग संदर्भों से जुडा होता है। वस्तुतः युगसंदर्भ से कटकर जो साहित्य रचा जायेगा वह सच्चा साहित्य कहा ही नहीं जा सकता।

इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर युग एवं समाज की परिस्थितियों, जरूरतों एवं चेतनाओं के प्रति सजग रहने वाला रचनाकार हमेशा अपनी रचनाओं को युग संदर्भों से जोड़कर रखने की कोशिश करता है तथा युग–परिवेश के अनुकूल मानदण्डों के आधार पर ही साहित्य की सर्जना करता है।

सन् 1936 से 1960 तक की कालावधि के बीच राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर जहाँ एक ओर अनेकानेक आन्दोलनों ने जन्म लिया वहीं दूसरी ओर अनेक विचारधाराओं का भी सूत्रपात हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आन्दोलनों के साथ – ही – साथ राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं ने भी छायावादोत्तर युग के कवियों तथा उनकी कविताओं पर अपना व्यापक प्रभाव छोड़ा है और उन्हें युग एवं समाज की परिस्थितियों तथा संदर्भों के ही अनुकूल काव्य–सृजन के मानदण्डों में भी परिवर्तन करने के लिए प्रेरित किया है। वस्तुतः आये – दिन कारवटें बदलती परिस्थितियों, नयी–नयी घटित होने वाली घटनाओं तथा विचारधाराओं के प्रभाव स्वरूप छायावादोत्तर युग के कवियों की चेतना तथा उसके बोध में भी व्यापक परिवर्तन लक्षित हुआ है जिसका रचनात्मक रूप उनकी कविताओं में देखने को मिलता है।

छायावादोत्तर युग की कविता एक ओर अपनी पूर्ववर्ती राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं एवं परिस्थितियों से प्रभावित हुई तो दूसरी ओर वह समसामयिक घटनाओं, परिस्थितियों, उनसे उत्पन्न चेतनाओं एवं विचारधाराओं से काफी हद तक प्रभावित हुई हैं। स्वतन्त्रता से पूर्व अंगेजों के बढ़ते अमानुषिक अत्याचार सन् 1917 की रूसी कांति, गांधी का राजनीति में प्रवेश तथा उनका सत्याग्रह आन्दोलन, जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड, द्वितीय विश्व युद्ध, सन् 1942 की महान कांति, आजाद हिन्द फौज की स्थापना, नौ–सेना का विद्रोह, पाकिस्तान की मांग तथा भयंकर–नरमेध, भारत विभाजन और स्वतन्त्रता प्राप्ति आदि प्रमुख घटनायें रहीं जिन्होने समाज के साथ – ही – साथ साहित्य को भी व्यापक रूप से प्रभावित किया। स्वतन्त्रता के पश्चात शरणार्थियों की समस्या गांधी की हत्या, आजाद देश की यथावत् बनी समस्यायें तथा देशी राजनेताओं की स्वार्थपरता, तृतीय विश्व युद्ध की सम्भावनाओं ने छायावादोत्तर युग के साहित्यकारों को प्रभावित कर उनके काव्य–सृजन के मानदण्डों के निर्धारण में अपनी अहम् भूमिका अदा की।

राजनीतिक परिस्थितियों एवं घटनाओं के अतिरिक्त देश की दिनों – दिन गिरती आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति भी काव्यगत मानदण्डों के निर्धारण में सकिय रही है। वस्तुतः स्वतन्त्रता से पूर्व आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से ब्रिटिश शासक देश के शोषण में लिप्त थे अतः कवियों ने उनकी आलोचना कर देश की जनता में उनके खिलाफ संघर्ष करने की चेतना उत्पन्न की। स्वतन्त्रता के पश्चात् कवियों ने प्राप्त आजादी से काफी आशायें लगा रखी थीं लेकिन देशी राजनेताओं ने उनकी आशाओं में शीघ्र ही तुषारापात कर दिया। कहने का तात्पर्य यह कि आजादी के बाद भी देश की परिस्थितियां एवं आर्थिक सामाजिक स्थिति पूर्ववत् ही बनी रही, फलतः कवियों

का उनके प्रति क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। देश की सामाजिक स्थिति जहाँ मध्यवर्ग को धीरे – धीरे निम्न तथा निम्नवर्ग को और निम्नतर बनाती जा रही थी वहीं उच्च वर्ग दिनों दिन और अधिक धनी एवं सम्पन्न बनता जा रहा था; फलतः वर्ग – विषमता एवं वर्ग–संघर्ष की इस चेतना ने काव्यगत मानदण्डों के निर्धारण में महत्वपूर्ण योग दिया है।

राष्ट्रीय– अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों एवं घटनाओं के अतिरिक्त साहित्यिक एवं दार्शनिक विचारधाराओं ने भी छायावादोत्तर युग की कविता के मानदण्ड तथा उसके स्वरूप के निर्धारण में सक्रिय भूमिका अदा की है। मार्क्सवादी – समाजवादी विचारधारा, पूँजीवादी – चेतना का अभ्युदय एवं ह्रास, गांधीवादी विचारधारा एवं अरविन्द दर्शन, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद एवं बिम्बवाद जैसी साहित्यिक एवं दार्शनिक विचारधाराओं एवं आन्दोलनों ने छायावादोत्तर युग की कविता के स्वरूप एवं मानदण्ड के निर्धारण में किसी – न – किसी रूप में अपनी भूमिका निभाई है।

पूर्व विवेचन में यह स्पष्ट हो चुका है कि स्वतत्रता के पूर्व की परिस्थितियाँ कुछ दूसरी थीं। लोगों के समक्ष ब्रिटिश शासन की पराधीनता तथा उसके शोषण से मुक्ति का एक महान लक्ष्य था। सामान्य जनता से लेकर विशिष्ट वर्ग तक सभी स्वतन्त्रता प्राप्ति के उस संघर्ष में जी – जान से लगे हुए थे। उस समय के काव्य – सृजन के मानदण्डों के निर्धारण में तत्कालीन परिस्थितियों एवं घटनायें मुख्य रूप से कियाशील थीं। युगीन कवियों के प्रधान लक्ष्य थे – ब्रिटिश शासन की पराधीनता एवं शोषण से मुक्ति, साम्राज्यवादी – पूंजीवादी शक्तियों एवं उनकी व्यवस्था की खिलाफत , स्वराज्य प्राप्ति के संघर्ष की सफलता हेतु जाति एवं सम्प्रदायगत एकता की स्थापना तथा समाजवादी शासन – व्यवस्था की प्रतिष्ठा। स्वराज्य प्राप्ति के बाद देश की परिस्थितियाँ बदलीं तथा देश की बागडोर राष्ट्रभक्त नेताओं के हाथ में आयी ; किन्तु भारतीय जनता के वे सपने, जो कि उन्होंने आजादी – प्राप्ति के साथ सँजो रखे थे, देश के राजनेताओं की स्वार्थ लिप्सा के चलते एक – एक कर बिखरते चले गये। देश की समस्यायें यथावत् थीं और नेतावर्ग अपनी स्वार्थपूर्ति में आकण्ठ डूबा हुआ था। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस कवि वर्ग में पहले आजादी की ललक समायी हुई थी, उसका आजादी तथा आजाद भारत के नताओं से मोहभंग हुआ, फलतः उसके लक्ष्य में भी परिवर्तन आया। यहाँ वह उनकी खुली आलोचना करता है तथा देश की जनता में व्यवस्था के खिलाफ खड़े होने के लिए नयी चेतना एवं प्रेरणा पैदा करता है। इस प्रकार स्वतन्त्रता पूर्व तथा स्वतन्त्रता पश्चात् की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा साहित्यिक एवं दार्शनिक विचारधाराओं के चलते छायावादोत्तर हिन्दी कविता के सृजन के दण्ड एवं स्वरूप में व्यापक परिवर्तन उपस्थित हुआ है। यही कारण है कि छायावादोत्तर युग की कविता का मानदण्ड अपनी पूर्ववर्ती काव्यधाराओं के परिप्रेक्ष्य में काफी व्यापक एव

समाज–सापेक्ष रहा है। वस्तुतः स्वतन्त्रता – पूर्व तथा स्वतन्त्रता – पश्चात् के उपर्युक्त सारे लक्ष्यों की पूर्ति हेतु छायावादोत्तर युग के कवियों ने अपने काव्य – लेखन के लिए जिन बिन्दुओं को मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :–

1. सामाजिकता
2. वैयक्तिकता
3. मध्ययुगीनता एवं आधुनिकता
4. स्वाधीनता
5. राष्ट्रीयता
6. मानवीयता

छायावादोत्तर युग की कविता में एक ओर वैयक्तिकता की प्रवृत्ति दिखाई देती है तो दूसरी ओर सामाजिकता की, लेकिन उसके (कवि) लिए वैयक्तिक चेतना ही सर्वोपरि नहीं है। वह अपनी व्यक्ति – चेतना को समष्टि – चेतना के साथ जोड़ने की आकांक्षा करता है ; क्योंकि उसके समक्ष यह तथ्य स्पष्ट है कि कला और कलाकार समाज के लिए उपयोगी होते हुए दीर्घकाल तक तभी जीवित रह सकते हैं जबकि उनका सम्बन्ध युग एवं समाज से हो, उनकी यथार्थ स्थितियों एवं परिस्थितियों से हो। इसीलिए वह अपनी वैयक्तिकता को भी विशाल बनाने की बात करता है। मुक्तिबोध ने तो स्पष्ट शब्दों में आत्मचिन्तन एवं आत्ममंथन के माध्यम से व्यक्तित्वान्तरण पर जोर दिया है। यह व्यक्तित्वान्तरण की प्रकिया और कुछ नहीं अपितु वैयक्तिकता की सीमा से ऊपर उठकर सामाजिकता से जुड़ने की प्रक्रिया है। निःसंदेह छायावादोत्तर युग का कवि इसके लिए संघर्षशील रहा है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग के कवियों ने सामाजिकता के सृजन के आधार के रूप में स्वीकार किया है। इस सामाजिकता के परिणामस्वरूप दो बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं ; एक यह कि तमाम शंकाओं, कुंठाओं, दर्दों, पराजयों के बावजूद आस्था एवं विश्वास की लौ बुझती नहीं अपितु जीवन तथा समाज के वर्तमान एवं भविष्य के प्रति दृढ़ आस्था का भाव बना रहता है; वो, यह कि नारी के प्रति नवीन् एवं व्यापक दृष्टि पैदा होती है। सदियों से चली आ रही भोग्या एवं गृह – सेविका के रूप से अलग हटकर, छायावादोत्तर युग का कवि उसे शक्ति एवं चेतना से युक्त पुरूष की सहायिका के रूप में देखता है। इस प्रकार सामाजिकता को आधार रूप में स्वीकार करते हुए वह एक ओर आस्था एवं विश्वास के साथ कार्मरत होता है तो दूसरी ओर नारी के प्रति अपने नवीन एवं व्यापक दृष्टिकोण को प्रकट करता है।

वैयक्तिकता छायावदोत्तर काव्यधारा की आधारभूमि रही है। सामाजिक बोध से समन्वित वैयक्तिकता के परिणामस्वरूप ही आधुनिक हिन्दी कविता का वास्तविक विकास सम्भव हो सका है। रूढ़ नैतिकताओं, परम्पराओं एवं आदर्शों के बन्धनों से विद्रोह का भाव व्यक्तिवादी चेतना की ही

उपज है। यद्यपि इस वैयक्तिकता का रूप पूर्ववर्ती काव्यधारा छायावाद में भी दिखायी देता है, लेकिन छायावादोत्तर युग की कविता में इसका रूप भिन्न और नये रूप में सामने आता है। व्यक्तिपरक काव्यधारा के कवियों ने वैयक्तिकता को अपने काव्य–सृजन के मूल में रखा। तत्पश्चात् प्रयोगवाद एवं नयी कविता के कवियों ने उसे व्यापकता एवं सर्वोच्चता प्रदान की। वस्तुतः व्यक्तिपरक काव्यधारा के कवियों की वैयक्तिकता जहाँ प्रणय – प्रेम एवं व्यक्तिगत सुख–दुःख की खुली अभिव्यक्ति तक ही सीमित थी, वहीं प्रयोगवाद एवं नयी कविता के कवियों की वैयक्तिकता सामाजिकता का दामन पकड़े थी। इस प्रकार दोनो काव्यधाराओं की वैयक्तिकता के स्वरूप में अन्तर है फिर भी वैयक्तिकता ने छायावादोत्तर हिन्दी कविता के लिए एक सबल आधार रचा है।

इस वैयक्तिकता के फलस्वरूप छायावादोत्तर युग की कविता में एक ओर प्रेम, प्रणय, रोमांस आदि की अभिव्यक्ति में स्वतन्त्रता, नयापन, विद्रोहात्मकता एवं स्थूलता दृष्टिगोचर होती है तो दूसरी ओर पलायन, अनास्था, निराशा, कुंठा घुटन, क्षणवादी भावना की प्रधानता, स्व की लघुता एवं निरीहता की व्यापक अनुभूति तथा अहंवाद का स्वर भी सुनाई पड़ता है। जीवन की क्षण भंगुरता के प्रति विश्वास तथा भोगवाद की जो प्रवृत्ति देखने को मिलती है, वह और कुछ नहीं अपितु व्यक्तिवाद के बीच से ही जन्मी असफलता की प्रतिकिया है। इन सबके बावजूद छायावादोत्तर युग की कविताओं में अपने जीवन, व्यक्तित्व, लघुता एवं भविष्य के प्रति आस्था के भी स्वर सुनाई पड़ते हैं जो कि कवि के वैयक्तिक धरातल को ही व्यंजित करते हैं। इस प्रकार वैयक्तिकता उसके काव्य–सृजन के मूल में रही है।

छायावादोत्तर युग का कवि 'आधुनिकता–बोध' को काव्य के प्रमुख मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। यही कारण है कि कवि मध्ययुगीनता की प्रमुख अवधारणाओं को इस तरह पूनर्सृजित करता है कि वे अवधारणाये स्तब्ध मानसिकता की सीमा को तोड़कर युग – विकास में सहायक बन सकें। कहना न होगा कि धर्म, ईश्वर एवं जाति – प्रथा जैसी अवधारणाओं को ये कवि इस रूप में सामने लाते हैं ताकि इनके प्रति एक स्वस्थ एवं आलोचनात्मक दृष्टि का विकास हो सके तथा यही आलोचनात्मक दृष्टि या विकास की परम्परा आधुनिक युग तथा आधुनिकता – बोध की नींव को सबल बना सके। इस आधुनिकता – बोध के जन्म के पीछे दो तत्व कियाशील रहे हैं, एक सामाजिक – राजनीतिक – आर्थिक – सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, तथा दो, मार्क्सवादी – समाजवादी विचारधारायें। वस्तुतः यह मनोवृत्ति, यह दृष्टि यों ही नहीं पैदा हुई अपितु ऐतिहासिक आवश्यकता की उपज थी। यह तथ्य है कि आधुनिकता – बोध की दृष्टि से समन्वित रचनाकार के पास वह विवेक शालिनी बुद्धि होती है, जिसके माध्यम से वह समाज एवं जीवन में व्याप्त जर्जर, रूढ़, मृतप्राय नैतिकताओं एवं मान्यताओं को तोड़कर युग की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रगतिशील एव जीवंत मूल्यों की प्रतिष्ठा करने का प्रयास करता है। वह शक्ति का कार्य करती है, जिस शक्ति के

बल से कवि खोखले, रूढ़ एवं मृत शब्द–जालों को ध्वस्त कर ठोस गतिशील एवं जीवंत शब्द–समूहों की सृष्टि करता है। तात्पर्य यह कि आधुनिकता बोध से तादात्म्य के बिना कवि अपनी रचना में न तो यथार्थ का रूप प्रतिपादित कर सकता है और न ही उसमें सजीवता एवं सच्ची प्रभावोत्पदकता ला सकती है। यही कारण है कि आधुनिकता बोध तथा वैज्ञानिक विचारधाराओं से जुड़ा छायावादोत्तर युग का कवि धर्म, ईश्वर एवं जाति–प्रथा जैसी प्रवृत्तियों को अप्रासंगिक मानते हुए उसके प्रति पूर्ण अनास्था व्यक्त करता है, साथ ही सोंच की सीमा को विस्तार देने की प्रेरणा देता हुआ स्तब्ध मानसिकता वाली मध्युगीन प्रवृत्तियों की कटु आलोचना करता है। सत्य तो यह है कि छायावादोत्तर युग की कविताओं में धर्म, ईश्वर, जाति – प्रथा एवं साम्प्रदायिकता जैसी प्रवृत्तियों की जो कटु आलोचना दृष्टिगत होती है, वह आधुनिकता–बोध की दृष्टि का ही परिणाम है। इस प्रकार आधुनिकता एवं मध्ययुगीनता को अपने काव्य–सृजन के मूल में रखते हुए छायावादोत्तर युग के कवियों ने स्तब्ध मानसिकता वाली मध्ययुगीन प्रवृत्तियों के खिलाफ आक्रोश व्यक्त किया है तथा नयी राह की ओर संकेत किया है।

पूर्व विवेचनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि छायावादोत्तर युग का पूर्वार्द्ध पराधीनता की बेड़ी में पूरी तरह जकड़ा हुआ था। ब्रिटिश शासन ने अपने साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी शोषण एवं व्यापारिक नीति के चलते भारतीय समाज को पंगु बना दिया था। एक ओर शोषण था तो दूसरी ओर मुक्ति की छटपटाहट थीं। कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से एक ओर शोषण के रूप को उजागर किया तो दूसरी ओर मुक्ति की छटपटाहट रखने वाली जनता में शक्ति, पौरूष एव क्रांतिकारी चेतना के बीज बोये। वस्तुतः स्वराज्य प्राप्ति उस समय एक मात्र लक्ष्य था। कहना न होगा कि छायावादोत्तर युग में इससे समबन्धित जो भी रचनायें मिलती हैं, उसके सृजन के प्रमुख आधार के रूप में स्वाधीनता रही है। वह शक्ति, पौरूष एवं क्रांति की ओजस्वी वाणी मुखरित करता हो या राष्ट्रीय झण्डे के प्रति अपनी अटूट आस्था व्यक्त करता हो, स्वतन्त्रता सेनानियों को सावधान करते हुए पराधीनता की बेड़ी को तोड़ने की बात करता हो या विदेशी सत्ता के शोषण एवं सामाजिक–आर्थिक वैषम्य को भस्मीभूत करने की बात करता हो, मानव के सोये हुए मानवपन को जगाने की बात करता हो या स्वराज्य प्राप्ति हेतु एकता की आवश्यकता पर बल देता हो, सब जगह स्वाधीनता सृजन के मानदण्ड के रूप में क्रियाशील रही है। यह भी सच है कि जिस स्वाधीनता को छायावादोत्तर युग के कवियों ने लेखन के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है, जिसमें एक व्यापकता, खुलापन एवं साफगोई है। यही कारण है कि वह एक ओर आजादी से पूर्व ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ स्वर उठाता है तो दूसरी ओर आजादी के पश्चात् देशी–नेताओं एवं उनके शासन – सिद्धान्तों के खिलाफ भी आक्रोश व्यक्त करता है।

छायावादोत्तर युग राष्ट्रीय – अन्तर्राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। सत्य तो यह है कि आवश्यकताओं को परखते हुए सचेत रचनाकारों ने अपनी सोंच को व्यापक आयाम प्रदान किया है। संकीर्ण राष्ट्रीयता नहीं अपितु व्यापक राष्ट्रीयता को कवियों ने अपने काव्य–सृजन के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है। यही कारण है कि वह एक ओर अपनी कविताओं के माध्यम से देश–प्रेम एवं मातृभूमि – प्रेम की भावना को जगाता है, पराधीनता से मुक्ति के लिए सामूहिक जागरण एवं बलिदान की भावना उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम, सद्भाव एवं एकता की आवश्यकता पर भी बल देता है, उसकी अभिव्यंजना करता है। वस्तुतः छायावादोत्तर युग की कवि दृष्टि अपने राष्ट्र की समस्याओं तक ही सीमित नहीं रहती अपितु वह अन्तर्राष्ट्रीय विषयों एवं समस्याओं तक अपनी पहुँच रखती है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना उसका प्रमुख लक्ष्य रहा है। अपने राष्ट्र और मिट्टी के प्रति अटूट आस्था का भाव प्रकट करते हुए भी वह संकीर्ण दृष्टि से आबद्ध नहीं होता अपितु व्यापक राष्ट्रीयता हमेशा उसकी कविता के साथ जुड़, उसे निर्देशित करती रहती है।

यद्यपि छायावादोत्तर युग का कवि स्तब्ध मानसिकता वाली मध्ययुगीन प्रवृत्तियों के प्रति अनास्था एवं विद्रोह का भाव प्रकट करता है, लेकिन परम्परागत प्राचीन संस्कृति एवं उसके आदर्शों को वह तर्क की कसौटी पर कसता भी है। तात्पर्य यह कि व्यापक मंथन के बाद ही वह किसी को छोड़ने या ग्रहण करने की बात करता हैं। इस मंथन की प्रकिया में वह प्राचीन मूल्यो एवं आदर्शों के बीच से वर्तमान समाज की प्रगति में सहायक बनने वाले तत्वों को खोज निकालता है, उसे परिष्कृत एवं परिमार्जित कर नए रूपों में प्रस्तुत करता है। स्पष्ट है कि वह प्रत्येक चीज को मानवीयता की कसौटी पर कस कर परखता है। कहना न होगा कि यह मानवीयता छायावादोत्तर युग में कवियों के काव्य सृजन के आधार के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। प्राचीन परम्परा एवं संस्कृति की ओर उन्मुखता के रूप में, अहिंसा एवं शांति के प्रचार – प्रसार की ललक के रूप में शोषित पक्षधरता के रूप में और नये समाज के निर्माण के रूप में यह मानवीयता छायावादोत्तर युग की कविता में अभिव्यक्त हुई है। कविता के इस व्यापक फलक को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि छायावादोत्तर युग का कवि समस्त रूढ़ियों, जड़ – परम्पराओं एवं स्तब्ध मानसिकताओं से मुक्त होकर सब कुछ को मानवता के मानदण्ड से देखता है। इस प्रकार मानवीयता उसकी कविता की आधारभूमि रही है।

जब लक्ष्य बदलता है तब लक्ष्य प्राप्ति के माध्यम भी बदलते हैं। जो भी काव्य के अन्तर्गत मानदण्ड एवं स्वरूप का सम्बन्ध गहरा है। नये प्रकार के काव्य – मानदण्डों के आधार पर निर्मित होने वाले काव्य की प्रभावोत्पादकता एवं उसकी अभिव्यक्ति – क्षमता को बनाये रखने के लिए आवश्यक हो जाता है कि उसी के अनुरूप उसके स्वरूप में भी परिवर्तन हो ; क्योंकि अभिव्यक्ति

की परम्परागत प्रणालियां नये युग की जटिल, विषम, गहरी एवं यथार्थ भावानुभूतियों एवं समस्याओं को वाणी प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकती। कहा जा सकता है कि उसे नये मानदण्डों एवं नई सवेदनाओं के अनुरूप नयी अभिव्यंजना – प्रणाली की खोज करनी पड़ती है। वस्तुतः काव्य की सम्प्रेषणीयता एवं जीवंतता के लिए यह आवश्यक भी हो जाता है। यही कारण है कि छायावादोत्तर युग का कवि विषय – चयन, पात्र – चयन, प्रकृति – चित्रण, प्रतीक – विधान, बिम्ब – विधान, मिथक – प्रयोग, अलंकार एवं छंद – योजना तथा काव्यभाषा आदि सभी धरातलों पर नवीनता का आग्रही रहा है। वह अध्यात्म, दर्शन, प्रकृति एवं रहस्य की ही कविताओं में विशेष रूचिप्रदर्शित करने वाले छायावादी कवियों के कल्पना, वेदना, प्रणय, प्रेम एवं सौन्दर्य के सीमित विषय क्षेत्र को छोड़कर यथार्थ के प्रांगण पर कदम रखता है तथा किसान, मजदूर, श्रमिक, अछूत, शोषित नारी, देश एवं राष्ट्र की राजनीतिक – सामाजिक समस्याओं, रूढ़ नैतिकताओं एवं पम्पराओं ब्रिटिश शासन के अत्याचारों तथा उसके खिलाफ संघर्ष करने वाली जनता तक को काव्य का विषय बनाया है। इस व्यापक विषय चयन के पीछे कारण उसकी व्यापक–दृष्टि और युग की मांग रही है। वह नये – से – नये विषयों को काव्य में स्थान देता है तथा प्राचीन विषयों को भी युगानुरूप नये रूपों में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार छायावादोत्तर युग की कविताओं में वस्तु – चयन की व्यापकता एवं नवीनता दृष्टिगोचर होती है।

प्राचीन लोकनायकों एवं महापुरूषों को तो हमेशा ही काव्य में स्थान मिलता रहा है तथा उनकी प्रस्तुति अलौकिक रूप में की जाती रही है। छायावादोत्तर युग का कवि उन पात्रों एवं चरित्रों को उसी रूप में नही ग्रहण करता अपितु उन्हें युग संदर्भों के बीच रखकर नये रूपों में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार चरित्रगत स्वरूप में भी कांतिकारी परिवर्तन लक्षित होता है। उसमें जहां परम्परागत चरित्रों को छोड़ने का आग्रह है वहीं जन–सामान्य के बीच से, शोषित समाज के बीच से चरित्रों को छोड़ने का आग्रह है वही जन–सामान्य के बीच से, शोषित समाज के बीच से चरित्रों के ग्रहण का प्रयास भी। यह सत्य है कि आज के संदर्भ में राम, कृष्ण, अर्जुन अप्रासंगिक हो गए हैं। आज प्रासंगिक हैं – शोषित नारी, पुरूष एवं युग के यथार्थ, लेकिन छायावादोत्तर युग का कवि उन्हें भी नये रूप में ग्रहण करता है, परम्परागत रूप में नहीं। वह राम, कृष्ण, अर्जुन, कर्ण, द्रोण आदि को परम्परागत रूप में नहीं अपितु नये संदर्भों से जोड़ कर प्रस्तुत करता है। वस्तुतः वह अलौकिक चरित्रों के स्थान पर जीवन एवं समाज के बीच के यथार्थ चरित्रों तथा उनके किया – कलापों को विशेष महत्व प्रदान करता है ; साथ ही उन्हें पूर्णतया मानवीय धरातल पर लौकिक रूप में प्रकट करता है।

प्रकृति – चित्रण के धरातल पर भी छायावादोत्तर युग की कविता में नवीनता एवं व्यापकता दृष्टिगोचर होती है। प्रकृति हमेशा से मानव – जीवन के रागात्मक मानस को झंकृत करती रही है।

काव्य के अन्तर्गत उनकी प्रतिष्ठा नई नहीं है ; किन्तु छायावादोत्तर युग की कविता का प्रकृति – चित्रण अपने पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से भिन्न धरातल पर प्रतिष्ठित है, इसलिए वह अपना विशेष महत्व रखता है। छायावादोत्तर युग की कविताओं में प्रकृति को किसी मानवोपरि सत्ता या रहस्यात्मक सत्ता के रूप में नही अपितु उसे मानव – जीवन एवं समाज के साथ रखकर देखा और परखा गया है। कवि प्रकृति और मानव – जीवन के बीच सामंजस्य बैठाने का प्रयास करता है। यद्यपि छायावादोत्तर युग की कविता में प्रकृति को परम्परागत रूप से आलम्बन, उद्दीपन, उपदेशक एवं अलंकार रूप में भी प्रस्तुत किया गया है लेकिन उसकी नवीनता एवं महत्ता तो वहाँ स्थापित होती है जहाँ प्रकृति को नवीन धरातल पर प्रतिष्ठित करते हुए जीवन के अविभाज्य अंग के रूप में, जीवन की विषमताओं के अंकन के माध्यम के रूप में, मानवीकृत रूप में, प्रतीकात्मक रूप में तथा प्रेरणा के माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार प्रकृति को मानव – प्रकृति एवं समाज की सापेक्षता में देखा और प्रस्तुत किया गया है।

मिथक – प्रयोग की दृष्टि से भी छायावादोत्तर युग की कविता उल्लेखनीय है। इसके माध्यम से कवियों ने अपने कथ्य को प्रभावोत्पादक तो बनाया ही है, साथ ही कथ्य को पाठक के लिए सहज एवं बोधगम्य भी बनाया है। वस्तुतः इन प्रतीकात्मक कथातत्वों के माध्यम से कवियों ने समाज की समस्याओं पर प्रकाश डाला है तथा उनका समाधान खोजने एवं प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

बिम्ब अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं, साधन होते हैं। ये कवि एवं उसके काव्य की समृद्धि एवं सामर्थ्य के प्रतीक होते हैं ; काव्य की आत्मा होते हैं। वे काव्यगत भावों की प्रभावोत्पादकता तो बढ़ाते ही हैं साथ ही उसका मूर्त रूप भी प्रकट करते हैं। इस प्रकार भाव संप्रेषण में उसकी उल्लेखनीय उपयोगिता है। इसीलिए छायावादोत्तर युग के कवियों ने बदलते हुए युग सन्दर्भों के बीच बदलती हुई भाव – दृष्टि के अनुरूप नये बिम्बों की खोज एवं प्रतिष्ठा की है। इसमें नवीनता, सहजता एवं बोधगम्यता स्पष्ट रूप से झलकती है ; क्योंकि रचनाकारों ने दुरूह एवं रूढ़ बिम्बों के स्थान पर सहज – ग्राह्य एवं नूतन बिम्बों की योजना की है। इस प्रकार छायावादोत्तर युग की कविता के बिम्ब – विधान में सरलता एवं नवीनता के साथ ही विविधता भी दृष्टिगोचर होती है।

काव्य की सम्प्रेषणीयता को बढ़ाने के लिए छायावादोत्तर युग के कवियों ने प्रतीकों को माध्यम के रूप में अपनाया है। यद्यपि कहीं – कहीं अति बौद्धिकता के चलते प्रतीक अर्थ – संप्रेषण में बाधक भी बनते हैं, लेकिन अधिकांशतः जन–सामान्य के बीच से लिए गये प्रतीकों के प्रयोग के माध्यम से कवियों ने कविता को सहज संप्रेषणीय बनाने का प्रयास किया है। प्रतीक को वे केवल अभिव्यक्ति का ही नहीं, सत्यान्वेषण का भी माध्यम मानते हैं। इस प्रकार छायावादोत्तर युग की कविता के प्रतीक – प्रयोग की विविधता एवं व्यापकता रेखांकित करने योग्य हैं।

छनद एवं अलंकार योजना की दृष्टि से भी छायावादोत्तर युग विशिष्ट है। इनका प्रयोग भी हर युग में होता रहा है, लेकिन इस युग की कविता में ये भिन्न एवं नवीन रूप में हमारे सामने आते हैं। अलंकारों का सप्रयास आयोजन काव्य को दुरूह बनाता है। छायावादोत्तर युग का कवि सहजता एवं बोधगम्यता का आग्रही रहा है। अतः वह सप्रयास अलंकार – योजना पर बल नहीं देता। यही कारण है कि छायावादोत्तर युग की कविता में एक ओर परम्परागत उपमानों के प्रति उपेक्षा का भाव दिखाई देता है तो दूसरी ओर नये उपमानों की खोज का सफल प्रयास भी। इन नये उपमानों की खोज एवं प्रयोग ने कविता को नये आयाम प्रदान किये हैं। सभी धरातलों पर नव – निर्माण का आकांक्षी कवि भला पुराने छन्दों को कैसे स्वीकार करता ? खास कर उस स्थिति में जब वह नये भावों को वहन करने में तथा उनकी सही अभिव्यक्ति में असमर्थ प्रतीत होते हों। अतः कवियों ने इस आवश्यकता को समझते हुए नये छन्दों का निर्माण एवं पुराने का परिष्कार किया। जहाँ तक की सहज – ग्राह्य लोकलय पर आधारित छन्दों के निर्माण के प्रति भी उन्मुख हुए।

भाषा भावों का वहन करने वाली, उसे वाणी प्रदान करने वाली शक्ति है। अपने अन्तिम समय में छायावादी कविता की भाषा में वह लोकग्राह्यता एवं सहजात नहीं रह गयी थी जिसकी आवश्यकता थी। कहा जा सकता है कि काव्यगत सार्थकता एवं साहित्यिक महत्व होते हुए भी उसका लोक से नाता टूट सा गया था। अतः छायावादोत्तर युग के कवियों ने इस अभाव को परखते हुए काव्य में भाषा की सरलता, सहजता एवं बोधगम्यता को प्रतिष्ठित करने के लिए व्यापक प्रयास किया। यही कारण है कि छायावादोत्तर युग के कवियों की काव्यभाषा में एक ओर सरलता एवं सुबोधता के प्रति आग्रह दिखाई देता है तो दूसरी ओर बोलचाल की भाषा से सम्पृक्ति । यही नहीं अपितु वह अर्थवान शब्दों की खोज तथा भाषा की सृजनशीलता के प्रति भी प्रयासरत रहा है। कुल मिलाकर बोलचाल तथा अभिव्यक्ति की लोकग्राह्यता की दृष्टि से छायावादोत्तर युग की काव्यधारा उल्लेखनीय है।

स्पष्ट है कि छायावादोत्तर युग के कवियों ने सामाजिकता, वैयक्तिकता, मध्ययुगीनता, आधुनिकता, स्वाधीनता, राष्ट्रीयता एवं मानवीयता को काव्यसृजन के मानदण्ड के रूप में स्वीकार करते हुए, उनके आधार पर युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप नये प्रकार की काव्य – सर्जना की है। इस काव्य सर्जना के स्वरूप में भी कांतिकारी परिवर्तन दृष्टिगत होता है।

*****

सहायक ग्रन्थ – सूची

काव्य –

1. अग्निशस्य : नरेन्द्र शर्मा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण – सं0 2008 वि0
2. अनामिका : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण – सं. 2005 वि.
3. अनुक्षण : प्रभाकर माचवे, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम संस्करण – 1959 ई0
4. अन्धा युग : धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण–पुनः मुद्रित, 1980 ई0
5. अपरा : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, ग्यारहवां संस्करण–सं0 2032वि0
6. अपराजिता : रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, संस्करण–1946 ई0
7. अपलक : बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', राजकमल पब्लिकेशन्स लि., दिल्ली संस्करण – 1951 ई0
8. अरी ओ करूणा प्रभामय : अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण – 1980 ई0
9. आज के लोकप्रिय कवि 'नागार्जुन' : संपा0 प्रभाकर माचवे, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, पहला संस्करण – 1977 ई0
10. आधुनिक कवि (1) : महादेवी वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रकाशन वर्ष – 1967 ई0
11. आधुनिक कवि (2) : रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रकाशन वर्ष – 1981 ई0
12. आराधना : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण– सं0 2031 वि0

13. आँसू : जयशंकर प्रसाद, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी द्वितीय संस्करण – 1976 ई0

14. इत्यलम् : अज्ञेय, प्रतीक प्रकाशन केन्द्र, दिल्ली, प्रथमावृत्ति – 1946 ई0

15. इतिहास के आँसू : रामधारी सिंह 'दिनकर', उदयाचल प्रकाशन, पटना प्रथम संस्करण – 1951 ई0

16. इन्द्रधनु रौंदे हुये ये : अज्ञेय, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्रथमावृत्ति – 1957 ई0

17. एकलव्य : रामकुमार वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद द्वितीय संस्करण – 1923 ई0

18. एकांत संगीत : हरिवंशराय बच्चन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली सातवाँ संस्करण – 1964 ई0

19. ओ अप्रस्तुत मन : भारत भूषण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. प्रथम बार – 1958 ई0

20. कदलीवन : नरेन्द्र शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण

21. कनुप्रिया : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, सप्तम संस्करण – 1981 ई0

22. कविताएं (एक) : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1978 ई0

23. कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : संपा. रामदरश मिश्र, सेतु प्रकाशन, झाँसी प्रथमावृत्ति – सं0 2026 वि0

24. कवि श्री महेन्द्र भटनागर : संपा. शम्भूनाथ चतुर्वेदी, सेतु प्रकाशन, झाँसी प्रथमावृत्ति – सं. 2027 वि.

25. कामायनी : जयशंकर प्रसाद, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी द्वितीय छात्र संस्करण – 1980 ई0

26. कुकुरमुत्ता : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पंचम संस्करण – 1975 ई0

27. कुछ और कविताएं : शमशेर बहादुर सिंह, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि दिल्ली, पहला संस्करण – 1961 ई0

28. कुछ कविताएं : शमशेर बहादुर सिंह, जगत् शंखधर, कमच्छा, वाराणसी, पहला संस्करण – 1959 ई0

29. कुरूक्षेत्र : रामधारी सिंह 'दिनकर', राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण – 1983 ई0

30. ग्राम्या : सुमित्रानन्दन पंत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद आठवां संस्करण – 1972 ई0

31. गीतिका : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, आठवां संस्करण – सं. 2030 वि.

32. गुंजन : सुमित्रानन्दन पंत, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तेरहवां संस्करण – 1975 ई0

33. चक्रव्यूह : कुँवर नारायण, राजकमल पब्लिकेशन्स लि. बम्बई प्रथम संस्करण, 1956 ई0

34. चक्रवाल . रामधारी सिंह 'दिनकर', उदयाचल प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण – 1956 ई0

35. चयनिका : महेन्द्र भटनागर, कल्याण मल एण्ड सन्स जयपुर, प्रथम संस्करण – 1966 ई0

36. चाँद का मुँह टेढ़ा है : गजानन माधव 'मुक्तिबोध', भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण – 1975 ई0

37. चेतना : सोहन लाल द्विवेदी, इण्डियन प्रेस पब्लिकेशन्स लि., प्रयाग संस्करण – 1954 ई0

38. जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी प्रथम संस्करण – सं. 2009 वि.

39. जिजीविषा : महेन्द्र भटनागर, हिन्दी प्रचारक प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण – 1974 ई0

40. जीवन के गान : शिवमंगल सिंह 'सुमन', आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण – 1981 ई0

41. टूटती श्रंखलायें : महेन्द्र भटनागर, प्रबुद्ध भारती प्रकाशन (प्रा.) ग्वालियर, द्वितीय संस्करण

42. ठंडा लोहा : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण – जनवरी 1976 ई0

43. तारसप्तक : संपा. अज्ञेय, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, पंचम संस्करण – 1981 ई0

44. तालाब की मछलियाँ : नागार्जुन, अनामिका प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण – 1975 ई0

45. तीसरा सप्तक : संपा. अज्ञेय, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली चतुर्थ संस्करण – 1979 ई0

46. दिल्ली : रामधारी सिंह 'दिनकर', चक्रवाल प्रकाशन, पटना, चतुर्थ संस्करण – 1964 ई0

47. दीपशिखा : महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, छठा संस्करण – सं. 2019 वि.

48. दूसरा सप्तक : संपा. अज्ञेय, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली तृतीय संस्करण – 1981 ई0

49. धरती : त्रिलोचन, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – 1977 ई0

50. धूप के धान : गिरिजा कुमार माथुर, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, तृतीय संस्करण – 1966 ई0

51. नई चेतना : महेन्द्र भटनागर, श्री अजंता प्रेस प्रा. लि., पटना प्रथम संस्करण – 1956 ई0

52. नए पत्ते : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण – 1985 ई0

53. नकेन के प्रपद्य : संपा. नलिन, केसरी, नरेश, पटना, प्रथम संस्करण – 1956 ई0

54. नाव के पाँव : जगदीश गुप्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर प्रथम संस्करण – 1955 ई0

55. परिमल : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली, प्रथमबार प्रकाशित–1978 ई.

56. परिवेश : हम तुम : कुँवर नारायण, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – सं. 2018 वि.

57. पल्लव : सुमित्रानन्दन पंत, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, पांचवां संस्करण – सं. 2005 वि.

58. पलाशवन : नरेन्द्र शर्मा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण – 1946 ई0

59. प्रभाती : सोहन लाल द्विवेदी, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, तृतीय संस्करण – 1961 ई0

60. प्रभात फेरी : नरेन्द्र शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – 1953 ई0

61. प्रलय – सृजन : शिवमंगल सिंह 'सुमन', आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण – 1969 ई0

62. प्रवासी के गीत : नरेन्द्र शर्मा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण – सं. 2009 वि.

63. फूल नहीं रंग बोलते हैं : केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण – 1965 ई0

64. बच्चन रचनावली भाग – 1 : संपा. अजित कुमार, राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1983 ई0

65. बन पांखी सुनो : नरेश मेहता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण – 1982 ई0

66. बावरा अहेरी : अज्ञेय, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण – 1980 ई0

67. बेला : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, नवीन संस्करण – 1978 ई0

68. बोलने दो चीड़ को : नरेश मेहता, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार (प्रा. लि.) बंबई, प्रथम संस्करण – 1961 ई0

69. भारत – भारती : मैथलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी बत्तीसवां संस्करण – सं. 2029 वि.

70. भूमि की अनुभूति : जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ग्वालियर, प्रथम संस्करण – 1952 ई0

71. भैरवी : सोहन लाल द्विवेदी, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण – 1951 ई0

72. युगपथ : सुमित्रानन्दन पंत, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – सं. 2006 वि.

73. युगवाणी : सुमित्रानन्दन पंत, भारती भण्डार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, तृतीय संस्करण – सं. 2004 वि.

74. रक्तचंदन : नरेन्द्र शर्मा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद प्रथम संस्करण – सं. 2006 वि.

75. रसवंती : रामधारी सिंह 'दिनकर', उदयाचल प्रकाशन, पटना दसवां संस्करण – 1966 ई0

76. रांगेय राघव ग्रन्थावली (खण्ड 9) : संपा. सुलोचना रांगेय राघव, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1982 ई0

77. वाणी : सुमित्रानन्दन पंत, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण – 1958 ई0

78. विश्वास बढ़ता ही गया : शिवमंगल सिंह 'सुमन', आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण – 1967 ई0

79. शब्द – दंश : जगदीश गुप्त, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण – सं. 2016 वि.

80. शिला पंख चमकीले : गिरिजा कुमार माथुर, साहित्य भवन प्रा. लि. इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – 1961 ई0

81. सतरंग : महेन्द्र भटनागर, कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल प्रथम संस्करण – मई, 1963 ई0

82. सात गीत वर्ष : धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय संस्करण – जनवरी, 1976 ई0

83. सामधेनी : रामधारी सिंह ' दिनकर', उदयाचल प्रकाशन, पटना

84. सूर्य का स्वागत : दुष्यंत कुमार, राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण – 1957 ई0

85. हम विषपायी जनम के : बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण – 1965 ई0

86. हरी घास पर क्षण भर : अज्ञेय, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथमावृत्ति – सं. 2000 वि.

87. हंसमाला : नरेन्द्र शर्मा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग प्रथम संस्करण – सं. 2003 वि.

88. हिल्लोल : शिवमंगल सिंह 'सुमन', सरस्वती प्रेस, बनारस, द्वितीय संस्करण – 1946 ई0

89. हिम किरीटनी : माखन लाल चतुर्वेदी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण – 1982 ई0

90. हिमतंरगिनी : माखन लाल चतुर्वेदी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण – सं. 2005 वि.

91. हुंकार : रामधारी सिंह 'दिनकर', प्रगतिशील पुस्तकालय बांकीपुर, पटना, प्रथम संस्करण – सं. 1995 वि.

इतिहास और आलोचना –

1. आत्मनेद : अज्ञेय, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण – अगस्त 1971 ई0

2. आधुनिक कविता और युग दृष्टि : शिवकुमार मिश्र, विद्या–मन्दिर ब्राहानाल, वाराणसी, प्रकाशनकाल – 1966 ई0

3. आधुनिक कविता का मूल्यांकन : इन्द्रनाथ मदान, हिन्दी भवन, जालन्धर, प्रथम प्रकाशन – मार्च 1962 ई0

4. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत : केसरी नारायण शुक्ल, नन्द किशोर एण्ड सन्स, चौक, वाराणसी, द्वितीयावृत्ति – 1961 ई0

5. आधुनिक साहित्य : नन्द दुलारे बाजपेई, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पांचवां सस्करण – सं. 2031 वि

6. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां : नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठा संस्करण – 1977 ई0

7. आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन : निर्मला जैन, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1980 ई0

8. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान: केदारनाथ सिंह, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण – 1971 ई0

9. एक साहित्यिक की डायरी	:	गजानन माधव 'मुक्तिबोध', भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, दिल्ली, पंचम संस्करण – 1980 ई0
10. कल्पलता	:	हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, आठवां संस्करण – 1979 ई0
11. कविता के नए प्रतिमान	:	नामवर सिंह, राजकमल प्रा. लि., नई दिल्ली, तृतीय संस्करण – 1982 ई0
12. कामसूत्र और फ्रायड के संदर्भ में हिन्दी काव्य का अनुशीलन	:	रूपचन्द गोविन्द चौधरी, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – 1973 ई0
13. काव्य की भूमिका	:	रामधारी सिंह 'दिनकर', उदयाचल प्रकाशन, पटना प्रथम संस्करण – 1958 ई0
14. काव्य मिथक	:	पुष्पपाल सिंह, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण – 1971 ई0
15. काव्यशास्त्र	:	भागीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी पंचम संस्करण – जुलाई, 1972 ई0
16. कांग्रेस का इतिहास (दूसरा खण्ड)	:	पट्टाभि सीतारमैया
17. गोस्वामी तुलसीदास	:	रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, नवम् संस्करण – सं. 2022 वि.
18. चिन्तामणि (भाग दो)	:	रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, काशी, द्वितीय संस्करण – सं. 2006 वि.
19. छायावाद	:	नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, तृतीय आवृत्ति – 1979 ई0
20. छायावाद का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन	:	कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1970 ई0
21. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन	:	सुमित्रानन्दन पंत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – 1965 ई0
22. छायावादोत्तर हिन्दी कविता	:	रमाकान्त शर्मा, साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम संस्करण – 1970 ई0
23. छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	:	कमला प्रसाद पाण्डेय, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – 1972 ई0
24. त्रिशंकु	:	अज्ञेय, सरस्वती प्रेस, बनारस, संस्करण–1954 ई0

25. नया हिन्दी काव्य : शिवकुमार मिश्र, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर प्रकाशन तिथि – अक्टूबर, 1962 ई0

26. नया हिन्दी काव्य और विवेचना : शम्भूनाथ चतुर्वेदी, नन्द किशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, प्रथमबार – अप्रैल, 1964 ई0

27. नई कविता और अस्तित्ववाद : रामविलाश शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1978 ई0

28. नई कविता का आत्मसंघर्ष : गजानन माधव 'मुक्तिबोध', राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1983 ई0

29. नई कविता के प्रतिमान : लक्ष्मी वर्मा, भारती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण – सं. 2014 वि.

30. नयी कविता : नये धरातल : हरिचरण शर्मा, पदम् प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, 1969 ई0

31. नयी कविता : स्वरूप और समस्यायें : जगदीश गुप्त, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण – 1969 ई0

32. नये प्रतिमान : पुराने निकष : लक्ष्मीकान्त वर्मा, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, प्रथम संस्करण – 1966 ई0

33. प्रगतिवाद : शिवकुमार मिश्र, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1966 ई0

34. प्रगतिवादी काव्य : उमेश चन्द्र मिश्र, ग्रन्थम, कानपुर प्रकाशन काल – फरवरी, 1966 ई0

35. प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें : रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा द्वितीय संस्करण – 1957 ई0

36. भारत : वर्तमान और भावी : रजनी पाम दत्त, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि., नयी दिल्ली, तीसरा हिन्दी संस्करण – 1982 ई0

37. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण : रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1977 ई0

38. मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धान्त : शिवकुमार मिश्र, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, प्रथम संस्करण – 1973 ई0

39. साहित्य और संस्कृति : देवराज, नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, संस्करण – 1958 ई0

40. साहित्य का उद्‌देश्य : प्रेमचन्द, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण – जनवरी, 1967 ई0

41. साहित्य – चिन्तन : रामकुमार वर्मा, किताब महल प्रा. लि., इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – 1965 ई0

42. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य : रघुवंश, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण – 1968 ई0

43. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (खण्ड – 3) : संपा. मुकुन्द द्विवेदी, जगदीश नारायण द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण – अगस्त, 1981 ई0

44. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (खण्ड – 7) : संपा. मुकुन्द द्विवेदी, जगदीश नारायण द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण – अगस्त, 1981 ई0

45. हिन्दी आलोचना का विकास : रामदरश मिश्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण – 1960 ई0

46. हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद : विजय शंकर मल्ल, सरस्वती मन्दिर, बनारस, दूसरा संस्करण – अक्टूबर, 1950 ई0

47. हिन्दी की प्रगतिशील कविता : रणजीत, हिन्दी साहित्य संसार, प्रगतिशील प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1971 ई0

48. हिन्दी नवलेखन : रामस्वरूप चतुर्वेदी, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण – 1960 ई0

49. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, उन्नीसवां, पुनर्मुद्रण – सं 2038 वि.

50. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (त्रयोदश भाग) : संपा. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण – सं. 2022 वि.

51. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (चतुर्दश भाग) : संपा. हरवंश लाल शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, प्रथम संस्करण – सं. 2027 वि.

52. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : नन्द दुलारे बाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संशोधित संस्करण – 1977 ई0

अन्य–

1. चन्द्रगुप्त : जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 22 वां संस्करण – 1974 ई0
2. हिन्दी साहित्य कोष (भाग–2) : संपा. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मण्डल लि0, वाराणसी

अंग्रेजी पुस्तकें –

1. इंडिया इन ट्रॅान्जिशन : रमेश थापर
2. दि क्राइसिस ऑफ इंडियन इकॉनॉमी : बी. टी. रणदिवे
3. माडर्न हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : डॉ0 ईश्वरी प्रसाद

पत्र – पत्रिकायें –

1. अवंतिका
2. आजकल
3. आलोचना
4. कल्पना
5. नया समाज
6. नयी कविता
7. निकष
8. पाटल
9. प्रतीक
10. रूपाभ
11. समालोचक
12. हंस